891.43
LAT

T301

साठोत्तरी हिंदी कहानियाँ और यथार्थवाद

पीएच. डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध – प्रबंध

अंजु लता

Regn. No : TZ121510 Year 2012

हिंदी विभाग, तेजपुर विश्वविद्यालय

तेजपुर, असमः 784028

फरवरीः 2014

सारांशिका

साहित्य में प्रचलित प्रत्येक अवधारणा का अपने समाज और परिवेश के साथ गहरा संबंध होता है। हिंदी साहित्य के विशेष संदर्भ में बात की जाए तो आदिकाल से लेकर भक्ति, रीति, छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद आदि धाराओं का अपना एक सामाजिक संदर्भ है। जो वाद अपने साथ व्यक्ति की स्वतंत्रता के हिमायती दिखाई देते हैं वह भी कुछ विशेष अर्थों में सामाजिक कहे जा सकते हैं। रचनाकार समाज को अपनी रचना का मूल स्त्रोत बनाता है। अर्थात यदि देखा जाए तो कला को समाज की नकल माना जाएगा लेकिन वास्तविकता कुछ और ही सामने आती है। कलाकार सामाजिक यथार्थ की नकल नहीं करता वरन् वह उस यथार्थ को अपने ढंग से प्रस्तुत करता है। इसका कारण यह है कि रचनाशीलता के क्रम में कलाकार अपनी कल्पना की सहायता से वास्तविक यथार्थ में परिवर्तन लाता है। उसकी यह कल्पना ही विचारधारा की तरह कार्य करती है। कलाकार के विचार जैसे होंगे वह भविष्य की वैसी ही कल्पना करता है।

इस तरह अपनी कल्पना का सहारा लेकर कलाकार सामाजिक यथार्थ को समाज को वापस दे देता है। यथार्थवाद के अंतर्गत समाज, कलाकार और कलाकृति के आपसी संबंधों पर दृष्टिपात किया जाता है। चूंकि इस तरह के साहित्य में कल्पना एक महत्वपूर्ण तत्व की भांति कार्य करती है इसलिए इस पर विशेष ध्यान दिया जाता है। इसको विचारधारा के साथ जोड़कर देखा जाता है। समाज में मार्क्सवादी पद्धति के विकास के फलस्वरूप साहित्य में यथार्थवाद का विकास माना जाता है जिसके अंतर्गत साहित्य को एक विशेष उपकरण माना जाता है, जिसका प्रभाव समाज पर पड़ता है।

यथार्थवाद का दार्शनिक पक्ष बहुत मजबूत है जिसके बरक्स साहित्य और समाज के बीच के द्वंद्वात्मक संबंधों पर दृष्टिपात किया जाता है। इसे एक-दूसरे को प्रभावित करने वाला और प्रभावित होने वाली प्रक्रिया की परिणति माना जाता है। अपने इस शोध कार्य में मैंने सामाजिक यथार्थ और साहित्य के आपसी संबंधों की जांच साठोत्तरी कहानियों के विशेष संदर्भ में की है।

हिंदी साहित्य में कहानी विधा का जन्म खास राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों के कारण होता है। इसके अंतर्गत उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण में जब साहित्य में गद्य विधा का जन्म होता है तो उसी क्रम में कहानी विधा का भी विकास आरंभ होता है। अपने विकास के प्रारंभिक अवस्था की कहानियां लोक कथाओं से प्रेरित थीं, लेकिन कालांतर में कुछ रचनाकारों ने नवजागरण के प्रमुख बिंदुओं जैसे विधवा विवाह, बाल विवाह निषेध, स्त्री शिक्षा आदि को कहानी के माध्यम प्रस्तुत किया गया।

वैसे भी भारतेंदु युग हिंदी साहित्य में अत्यधिक समाज सापेक्ष साहित्य देने के लिए जाना जाता है। इस क्रम में हिंदी कहानी का प्रारंभिक दौर इससे अछूता नहीं है। राष्ट्रवादी आंदोलन के दौर में प्रेमचंद के नेतृत्व

में हिंदी कहानी ने काफी लंबा सफर तय किया है। यह साहित्य में आदर्शवाद से यथार्थवाद तक के कलात्मक परिवर्तन का समय था। भारत की आजादी तक साहित्य इसी तरह चलता रहा लेकिन आजादी के बाद नयी तरह की राजनैतिक परिस्थतियों के बीच नये सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन हुए जिसके कारण भारतीय समाज बहुत गहराई तक प्रभावित हुआ।

कालान्तर में इन परिस्थितियों के बरक्स मध्यवर्गीय संवेदना कथा साहित्य में विकास करती है और साठ के बाद के दशकों में इसी का विस्तार दिखाई देता है। यदि साहित्य को समाज की एक इकाई माना जाए तो यह भी मानना पड़ेगा कि साहित्य समाज से ना केवल प्रभावित होता है बल्कि उसे प्रभावित करता भी है। इस क्रम में कई तत्व साहित्य पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालते हैं। मैने अपने शोध में इन्हीं तत्वों की जांच साठोत्तरी कहानियों के शेष संदर्भ में की है।

प्रस्तुत शोध के लिए प्रमुख रूप से प्राथमिक शोध सामग्री के अंतर्गत भवेदव पांडेय द्वारा संपादित प्रारंभिक हिंदी कहानियों का संकलन अत्यधिक महत्ववपूर्ण है जिसके कारण प्रारंभिक हिंदी कहानियों पर विचार बनाने में सुविधा हुई। इसके अतिरिक्त यथार्थवाद से संबंधित रैल्फ फॉक्स की पुस्तक उपन्यास और लोक जीवन, अंर्स्ट फिशर की पुस्तक कला की जरूरत तथा शिव कुमार मिश्र की पुस्तक यथार्थवाद की सहायता से यथार्थवाद के संदर्भ में महत्वपूर्ण विचार उजागर हुए। इसके अतिरिक्त तृतीय तथा चतुर्थ अध्याय के लिए पवन वर्मा की पुस्तक भारत में मध्यवर्ग की अजीब दास्तान की सहायता से भारत के इतिहास में मध्यवर्गीय संवेदना के स्वरूप के विकास पर विस्तार से चर्चा की गयी है। पाँचवे अध्याय के लिए मोहन राकेश, कमलेश्वर, काशीनाथ सिंह, नासिरा शर्मा, ज्ञानरंजन, उषा प्रियंवदा आदि रचनाकारों की राजकमल प्रकाशन द्वारा प्रकाशित प्रतिनिधि कहानियाँ तथा राजेंद्र यादव द्वारा संपादित एक दुनिया समानांतर महत्वपूर्ण ग्रंथ सिद्ध हुए। इन प्रमुख ग्रंथों की सहायता से इस शोध में अत्यधिक सहायता प्राप्त हुयी।

इस शोध का विषय 'साठोत्तरी हिंदी कहानियाँ और यथार्थवाद' है, इसलिए प्रमुख रूप से कहानियों में परिवर्तित संवेदना का विकास आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक संदर्भ में किया गया है, जिसके लिए शोध की ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय और विवरणात्मक पद्धति का प्रयोग किया गया है। अध्ययन की सुविधा के लिए प्रस्तुत शोध प्रबंध को पांच अध्यायों में विभाजित किया गया है। इन अध्यायों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

पहला अध्याय प्रमुख रूप से हिंदी कहानी के विकास पर आधारित है जिसके अंतर्गत प्रमुख रूप से तीन उपअध्याय हैं जिसमें पहला हिंदी कहानी का विकास दूसरा विभिन्न कहानी आंदोलन तथा तीसरे उप-

अध्याय में समकालीन कहानी में चल रहे प्रमुख विमर्शों पर चर्चा की गयी है। यदि गौर से देखा जाए तो हिंदी कहानी का इतिहास प्रमुख रूप से सौ वर्षों का इतिहास है। जिसके अंतर्गत किसी बड़े परिवर्तन की संभावना बहुत कम दिखाई देती है। लेकिन फिर भी इन सौ वर्षों में भारतीय समाज कई तरह के ऐतिहासिक परिवर्तनों के प्रभाव मे रहा है। औद्योगिक परिवर्तनों के फलस्वरूप जब भारत पश्चिमी शिक्षा के प्रभाव में आया तो वैचारिक रूप से एक वैश्विक समझदारी को विकसित करने का कार्य आरंभ हुआ। जिसका सीधा प्रभाव साहित्य पर पड़ा जिसके कारण हिंदी कथा साहित्य में मार्क्सवादी संवेदना का विकास होता दिखाई देता है। ना केवल मार्क्सवाद बल्कि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद फ्रायड, सार्त्र, नीत्शे आदि विचारको के प्रभाव में साहित्य आता हुआ दिखाई देता है। इन विचारकों के प्रभाव के फलस्वरूप कहानी विधा पर भी इसका प्रभाव पड़ा।

प्रारंभिक हिंदी कहानियों के विषय में भवदेव पांडेय द्वारा संपादित किताब 'हिंदी कहानी का पहला दशक' अत्यंत ही महत्वपूर्ण साबित हुई। इसके अंतर्गत कई ऐसी कहानियों से साक्षात्कार करने का मौका मिला जो पहली बार प्रकाशित हुयी थीं। इनकी दूसरी किताब'बंग महिला रचना संसार' अत्यंत ही उपयोगी सिद्ध हुयी। इन पुस्तकों के माध्यम से हिंदी कथा साहित्य के प्रारंभिक दौर के मूल साहित्य को पढ़ने का मौका मिला। वहीं दूसरी तरफ गोपाल राय द्वारा रचित हिंदी कहानी का इतिहास, कहानी के सौ वर्षों के इतिहास को सामने लेकर आती है। दो खंडों में लिखी यह पुस्तक विस्तार से हिंदी कहानी में आने वाले संवेदनात्मक परिवर्तन पर दृष्टिपात करती है। हिंदी कहानी के इतिहास के विषय में खासतौर पर आजादी के बाद का कथा साहित्य विभिन्न आंदोलनों के बरक्स इन बदलती हुई सामाजिक विचारधाराओं का परिचय दिया। प्रमुख रूप से नयी कहानी आंदोलन के दौरान कहानी एक विधा के रूप में परिपक्व होती दिखाई देती है वहीं दूसरी तरफ इसके सामाजिक सरोकारों में भी परिवर्तन आता दिखाई देता है। इस समय साहित्य में सचेतन कहानी, अकहानी, सक्रिय कहानी और जनवादी कहानी जैसे तमाम आंदोलनों का आरंभ दिखाई देता है लेकिन इनमें से कोई भी आंदोलन अपनी सशक्त पहचान नहीं बना पाया।

इन सभी आंदोलनों में सामाजिक यथार्थ के साथ कई तरह के प्रयोग किये गए, जिसके फलस्वरूप अतियथार्थवाद, प्रकृतवाद, आलोचनात्मक यथार्थवाद तथा समाजवादी यथार्थवाद का विकास साहित्य में होता हुआ दिखाई देता है। अर्थात समय बदलने के साथ लगातार साहित्य में चित्रित यथार्थ की तकनीक में भी परिवर्तन आया है।

समकालीन कथा साहित्य प्रमुख रूप से साहित्य में भोगे हुए यथार्थ को दिखाता है जिसके बरक्स कालांनतर में अस्मितावादी विमर्श का विकास हिंदी कथा साहित्य में होता दिखाई देता है। इससे दलित,

स्त्री, आदिवासी तथा समाज के अन्य पिछड़े वर्गों का साहित्य में प्राथमिकता दी गयी।

शोध के पहले अध्याय में कहानी विधा के विकास के पहले दशक से लेकर समकालीन दौर तक के सभी प्रमुख आंदोलनों पर दृष्टिपात किया गया है। इसके अलावा इन आंदोलनों में सामाजिक यथार्थ को दिखाने की तकनीक में आने वाले परिवर्तनों पर भी दृष्टिपात किया गया है।

शोध प्रबंध के दूसरे अध्याय में यथार्थवाद के अर्थ, स्वरूप और यथार्थ के साथ उसके अंतर को स्पष्ट किया गया है। अपने विकास की प्रारंभिक अवस्था में यथार्थवाद को प्रकृतवाद के एक अंग के रूप में स्वीकार किया जाता था लेकिन कालांतर में इन दोनों के बीच के मूल अंतर को समझने की कोशिश की गयी। साहित्य में भी प्रकृतवाद और यथार्थवाद के बीच के अंतर को स्पष्ट किया गया।

इस अध्याय के दूसरे उप अध्याय में यथार्थवाद का ना केवल भारतीय साहित्य में वरन् विश्व साहित्य के विकास में क्या योगदान है, इस पर विस्तार से चर्चा की गयी है। अर्थात मार्क्सवाद के पूर्व जो भी दार्शनिक यथार्थवाद की संभावनाओं की तलाश साहित्य में कर रहे थे जिनमें प्रमुख रूप से बेलिंस्की, हर्जन, तॉलस्तॉय और चेर्नीशेव्स्की आदि की दार्शनिक विचारधाराओं की चर्चा की गयी है। इनका विश्व साहित्य में यथार्थवाद के विकास में क्या योगदान है इसपर विचार किया गया है। यह उप अध्याय प्रमुख रूप से यथार्थवादी विचारधारा के इतिहास पर दृष्टिपात करता है। जब साहित्य में मार्क्सवादी विचारधारा के विकास के पहले साहित्य को समाज की एक इकाई के रूप में चित्रित किया गया है। इसके अलावा तीसरे उप अध्याय में हिंदी साहित्य और यथार्थवाद तथा साहित्य के इतिहास लेखन में यथार्थवादी पद्धति के विकास का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। इसके अंतर्गत हिंदी साहित्य में यथार्थवाद के आरंभ से लेकर उसके विकास के संदर्भ में महत्वपूर्ण बातों को प्रस्तुत किया गया है।

यदि हम यह मानते हैं कि समाज में होने वाले आर्थिक परिवर्तन का प्रभाव प्रमुख रूप से सांस्कृतिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी होता है तो इस क्रम में साठोत्तरी कहानियों के विश्लेषण को प्रस्तुत करते समय उस दौर के सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक परिवर्तन का विश्लेषण करना आवश्यक हो जाता है। इस दृष्टि से मेरे शोध का तीसरा अध्याय महत्वपूर्ण है जिसके अंतर्गत साठोत्तरी भारत की वैचारिक पृष्ठभूमि पर दृष्टिपात किया गया है। जहाँ एक तरफ आजादी को मिले हुए दस वर्ष हो चुके थे वहीं दूसरी तरफ भारतीय जनता यह समझ चुकी थी कि यह एक राजनैतिक आजादी थी जिसके अंतर्गत भारतीय राजनेता औपनिवेशिक तंत्र के अवशेषों को अभी भी ढोते हुए चल रहे थे। देश की आर्थिक नीतियाँ लगातार परिवर्तित हो रही थीं। भारत विकास के प्रारंभिक चरण में विकास के समाजवादी पैटर्न का हिमायती था। कालांतर में इसमें इस तरह के संशोधन किये गये जिसके कारण अर्थव्यवस्था लगातार देश के पूंजीपतियों

के हित में नीतियों को लागू करती गयी जिसका बोझ लगातार देश का मध्यवर्ग और निम्नवर्ग उठाता गया। परिणाम स्वरूप उदारीकरण की नीतियों को लागू करने और अपनी आर्थिक अनुकूलता को अनदेखा करने वाली भारतीय सरकार 1990 के बाद उदारवादी आर्थिक नीतियों के पक्ष में खुलकर सामने आती है। इस तरह की पक्षधरता किसी एक दिन का परिणाम नहीं थी वरन् इसकी पृष्ठभूमि 60 के बाद से ही तैयार हो रही थी। जिसका विवरण इस अध्याय में दिया गया है।

सामाजिक विचार इस नयी राजनैतिक और आर्थिक शक्तियों से संचालित हो रहे थे। जिसके अंतर्गत प्रमुख रूप से परंपरा और आधुनिकता की विचारधारा, मध्यवर्ग का विकास, साम्प्रदायिकता तथा अस्मितावादी विमर्शो की जो पृष्ठभूमि तैयार हो रही थी उसपर विस्तार से विचार किया गया है। इस तरह की सामाजिक परिस्थितियों की संवेदना हिंदी कथा साहित्य में प्रमुख रूप से दिखाई दे रही थी तथा सिर्फ अपने वर्तमान का निर्माण कर रही थी वरन् अपने भविष्य की पृष्ठभूमि भी तैयार कर रही थी। इन सभी तथ्यों को अपने शोध में सम्मिलित करना इसलिए आवश्यक था क्योंकि इसी के आधार पर साठोत्तरी कहानियों का विश्लेषण किया गया है।

चौथा अध्याय कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है इसका कारण यह है कि इसके अंतर्गत साठोत्तरी हिंदी कहानियों का विश्लेषण प्रमुख रूप से यथार्थवाद के विशेष संदर्भ में किया गया है जो मेरे शोध में एक प्रमुख अध्याय के रूप में जुड़ता है। इस अध्याय के पहले उप अध्याय में साठोत्तरी कहानियों की बदलती हुयी संवेदना पर विचार किया गया है। किस तरह साठोत्तरी कहानियाँ, नयी कहानी और उससे पहले की कहानी आंदोलनों से संवेदनात्मक रूप से भिन्न हैं इस पर विस्तार से चर्चा की गयी है। इसके अंतर्गत कुछ महत्वपूर्ण तथ्य सामने आये हैं। समय बीतने के साथ किस प्रकार इस दौर के साहित्य की संवेदना में परिवर्तन होता है उस पर भी विचार किया गया है। परंपरा और आधुनिकता के मायनों में लगातार परिवर्तन होता है। इस समय साहित्य में आधुनिकता का वही अर्थ नही रह गया था जो स्वतंत्रता के पहले के साहित्य में प्राप्त होता है। आजादी के बाद समाज में कई तरह के मूलभूत परिवर्तन आते हैं जिसका प्रभाव साहित्य और खास तौर से कथा साहित्य पर पड़ता हुआ दिखाई देता है।

इसके बाद के उप अध्याय में साठोत्तरी कहानियों में यथार्थवाद के विविध रूपों पर विचार किया गया है। किसतरह भोगे हुए यथार्थ का विस्तार होता है और उसका समाज पर क्या प्रभाव पड़ता है- इन महत्वपूर्ण प्रश्नों पर चर्चा करना और साथ ही इसके प्रभाव पर विचार करना भी एक आवश्यक कार्य है। इन सब तत्वों को इसी उप अध्याय में सम्मिलित किया गया है।

तीसरा उप अध्याय साठोत्तरी कहानी के संदर्भ में बहुत ही महत्वपूर्ण है क्योंकि यह इस समय के साहित्य

में आये भाषा और शिल्प के परिवर्तन पर विचार करता है। नई कहानी आंदोलन का हिंदी कथा साहित्य के इतिहास में अपने भाषा और शिल्प के कारण ही एक अलग तरह की पहचान है। यथार्थवाद भाषा और शिल्प के विषय में क्या सोचता है या यह पद्धति साहित्य के रूप को कितना महत्व देती है- इन्ही सब प्रश्नों के उत्तर ढूढने का कार्य इस उप अध्याय में किया गया है।

पांचवे अध्याय के अंतर्गत प्रमुख रूप से यथार्थवादी रचनाकारों की कहानियों का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। इस क्रम में कुछ रचनाकार ऐसे हैं जो नयी कहानी आंदोलन की संवेदना को लेकर साठोत्तरी कहानी के दौर तक आये हैं। इसके अलावा कुछ रचनाकार अपनी रचनाओं में साठोत्तरी कहानियों की नयी संवेदना को विकसित करते दिखाई देते हैं। इनमें प्रमुख रूप से कमलेश्वर, मोहन राकेश तथा निर्मल वर्मा की कहानियों में होने वाले संवेदनात्मक परिवर्तन को दिखाने की कोशिश की गयी है। यहाँ कई स्त्री लेखिकाएं भी हैं। इसमें कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी और नासिरा शर्मा आदि की कहानियों को लिया गया है, जिन्होंने कथा साहित्य में स्त्री जीवन के अनछूए पहलूओं को रेखांकित करने का कार्य किया है। आजादी के बाद हिंदू- मुस्लिम संबंधों के स्वरूप में लगातार परिवर्तन होता गया और इसका कथा साहित्य पर क्या प्रभाव पड़ा इसके संज्ञान के लिए इस अध्याय में नासिरा शर्मा और गुलशेर खाँ शानी की कहानियों के विश्लेषण को सम्मिलित किया गया है।

प्रमुख रूप से पांच अध्यायों में विभाजित इस विषय के अंतर्गत कई महत्वपूर्ण तथ्य उभरकर सामने आये हैं, जो कहानी विधा में आने वाले परिवर्तन को तो दिखाते ही हैं। साथ ही यथार्थ को प्रस्तुत करने की तकनीक में साठोत्तरी दौर में जो परिवर्तन आया उसने हिंदी कथा साहित्य का कितना भला किया और कितना नुकसान किया इसका विश्लेषण उपसंहार में किया गया है।

नयी कहानी आंदोलन का आरंभ इस दौर में जीवन की बढ़ती हुयी दुरूहताओं की अभिव्यक्ति के लिए हुआ। स्वतंत्रता के बाद लगातार धीरे-धीरे बदलते भारतीय समाज की संवेदना भी परिवर्तित हो रही थी। पारंपरिक परिवार का ढाँचा टूटना, स्त्री-पुरूष संबंधों का परिवर्तित होना, लगातार विघटित होते पारंपरिक जीवन मूल्य, समाज के दलित वर्गों में अन्य वर्गों के समान बराबरी के दर्जे के लिए संघर्ष और जागरूकता का विकास आदि नये तरह की सामाजिक व्यवस्था की मूल प्रवृत्तियां थी।

इनसब के बीच रचनाकार को लगातार इस संवेदना के साथ सामंजस्य स्थापित करना पड़ा। इस दौर के अनेक रचनाकारों की अद्वितीय रचनाएं भी आयीं। इसक्रम में निर्मल वर्मा, अमरकांत, भीष्म साहनी, कमलेश्वर, उषा प्रियंवदा, मन्नू भंडारी आदि का नाम प्रमुख है। इस विकसित होती नयी सामाजिक संरचना के उपकरण तो आधुनिक थे लेकिन यह अपनी परंपरा से बहुत कटी हुयी थी। इस विकसित परंपरा ने अपने

इतिहास से कोई सीख नहीं ली और एक आधारहीन धरातल पर टिकी रही जिसके परिणाम सकारात्मक नहीं मिल पा रहे थे। कालांतर में रचनाकारों ने विघटन की शिकार इन जीवन मूल्यों को ईमानदारी के साथ अभिव्यक्त किया। नयी कहानी आंदोलन के रचनाकारों ने महानगरीय, कस्बाई और ग्रामीण जीवन का यथार्थ तथा मध्यवर्गीय संवेदना के विकास पर अपनी कलम चलाई। निर्मल वर्मा कृत परिंदे, मोहन राकेश की मलबे का मालिक और मिस पॉल, भीष्म साहनी की चीफ की दावत, उषा प्रियंवदा की वापसी और मछलियाँ, कमलेश्वर की राजा निरबंसिया, मन्नू भंडारी का यही सच है आदि कहानियों को लिखकर इस दौर की अत्यधिक समृद्धशाली बनाया है।

यदि देखा जाए तो साठोत्तरी दौर की कहानियों में नई कहानी आंदोलन की संवेदना का विस्तार दिखाई देता है। हर दौर के साहित्य में यथार्थवादी और गैर यथार्थवादी परंपरा मौजूद रहती है। इसक्रम में इतिहासकार और रचनाकार की यह जिम्मेदारी होती है कि वह इन दोनों परंपराओं में से जो समाज के लिए अत्यधिक उपयोगी हो उसे समृद्ध करे। इस शोध कार्य में लगातार यह प्रयास किया गया है किया गया है कि साठोत्तरी कथा साहित्य के यथार्थवादी पक्ष को उजागिर किया जा सके, साथ ही उसकी सामाजिकता को भी उभारा जा सके। इस दौर की कहानियां निःसंदेह रूप से विषम सामाजिक और राजनैतिक परिस्थतियों की उपज हैं और अपनी खास शैली के कारण परंपरा और इतिहास से अलग हो जाती हैं। इसके बावजूद हिंदी की इतिहास परंपरा में साठोत्तरी कथा आंदोलन के योगदान को अनदेखा नही किया जा सकता है।

तेजपुर विश्वविद्यालय
(केंद्रीय विश्वविद्यालय)
नपाम, तेजपुर - 784 028, असम, भारत

TEZPUR UNIVERSITY
(A Central University)
Napaam, Tezpur - 784 028, Assam, India

CERTIFICATE

This is to certify that the thesis entitled "Sathottari Hindi Kahaniyan Aur Yatharthvad" submitted to the School of Humanities and Social Sciences, Tezpur University in part fulfillment for the award of the degree of Doctor of Philosophy in Hindi is a record of research work carried out by Ms. Anju Lata under my supervision and guidance.

All help received by her from various sources have been duly acknowledged.

No part of the thesis has been submitted elsewhere for award of any other degree or diploma.

Date : 18-02-2014
Place : Tezpur

Supervisor : Dr. Ananta Kumar Nath
Designation : Professor
School : Humanities and Social Sciences
Department : Hindi

फोन / Phone : 03712-267007 - 9 (3 lines) • फेक्स / Fax : 03712-267005, 267006 • ई-मेल / e-mail : admn@tezu.ernet.in

DECLARATION

I hereby declare that the thesis entitled "Sathottari Hindi Kahaniyan Aur Yatharthvad" being submitted to the Department of Hindi, Tezpur University, Tezpur, Assam in part fulfillment of the requirements for the award of the degree of doctor of Philosophy, has previously not formed the basis for the award of any degree, diploma, associateship, fellowship or any other similar title or recognition.

(Anju Lata)

Dept. of Hindi
Tezpur University
Tezpur- 784028 (Assam)s

अनुक्रमणिका

भूमिका 1 - 5

प्रथम अध्यायः हिंदी कहानी का स्वरूप 6 - 47

1.1. हिंदी कहानी की अवधारणा और विकास

1.2. प्रारंभिक हिंदी कहानियाँ

1.3. प्रेमचंद युग

1.4. प्रेमचंदोत्तर हिंदी कहानी

1.5. स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानी

1.6. विभिन्न कहानी आंदोलन

1.7. समकालीन हिंदी कहानी

द्वितीय अध्यायः यथार्थवादी कला आंदोलन 48 - 80

2.1. यथार्थ और यथार्थवाद

2.2. प्रकृतवाद

2.3. यथार्थवाद का इतिहास

2.4. यथार्थवाद

2.5. साहित्य और कला में यथार्थवाद

2.6. हिंदी साहित्य में यथार्थवादी साहित्य चिंतन

2.7. साहित्य के इतिहास लेखन में यथार्थवादी विचारधारा

तृतीय अध्यायः साठोत्तरी हिंदी कहानियों की वैचारिक पृष्ठभूमि 81 -107

3.1. राजनैतिक विचारधारा का विकास

3.2. आर्थिक विचारधारा का विकास

3.3. सामाजिक विचारधारा का विकास

3.4. अस्मितावादी विमर्श

3.5. भविष्य की कल्पना

चतुर्थ अध्यायः साठोत्तरी हिंदी कहानियाँ और यथार्थवाद 108 -132

4.1. साठोत्तरी हिंदी कहानियों का स्वरूप और संवेदना

4.2. पितृसत्तात्मकता के विरूद्ध कथा साहित्य

4.3. धर्म का स्वरूप

4.4. साठोत्तरी हिंदी कहानियों में यथार्थवाद के विविध रूप

4.5. यथार्थवाद के आईने में कहानियों का शिल्प और तकनीक

पंचम अध्यायः प्रमुख यथार्थवादी कहानीकारों की कहानियों का विश्लेषण 133 - 170

उपसंहार 171 -177

ग्रंथानुक्रमणिका

भूमिका

प्राचीन काल से कला मानव जीवन का एक अभिन्न अंग रहा है। वह सारी चीजें जो मनुष्य के जीवन में घटित होती हैं और नहीं भी, उसे वह कला के माध्यम से प्रस्तुत करता रहा है। कला और साहित्य एक जादू की तरह समाज पर प्रभाव डालते हैं। अपने इसी प्रभाव के कारण साहित्य और कला हमेशा से मनुष्य की जरूरत रहे हैं। समय के साथ-साथ कला और समाज के आपसी संबंध परिवर्तित होते रहे हैं। जब लिखने और छपने के साधन उपलब्ध नहीं थे तब मौखिक परंपरा में कविता, कहानी और संगीत सुनने- सुनाने का प्रचलन था। कालांतर में जब छापेखाने का अविष्कार हुआ तब वह सारा साहित्य जो मौखिक परंपरा में उपलब्ध था वह लिखित रूप में आने लगा। इसतरह तकनीकी विकास से कला और साहित्य का स्वरूप बदलता गया। वस्तुतः साहित्य और समाज एक दूसरे से प्रभावित होते रहे हैं और एक दूसरे को प्रभावित करते भी रहे हैं। इस तरह आरंभ से ही साहित्य और समाज के मध्य एक द्वंदात्मक प्रक्रिया चलती रही है। इस संबंध को दार्शनिक धरातल प्रदान करने में यथार्थवादी विचारधारा की प्रमुख भूमिका रही है।

यथार्थवाद प्रमुख रूप से साहित्य और समाज के आपसी संबंधों को व्याख्यायित करने वाली विचारधारा है। यह विचारधारा साहित्य को समाज की एक इकाई के रूप में स्वीकार करती है। खासतौर पर मार्क्सवादी विचारधारा के तहत साहित्य और समाज के आपसी संबंधों की विवेचना करने पर यह तथ्य और भी उभरकर सामने आता है। मार्क्सवाद यह मानता है कि मनुष्य की चेतना पदार्थ के द्वारा संचालित होती है। इसक्रम में यहाँ साहित्य को एक ऐसा माध्यम माना जाता है जो समाज को प्रभावित करता है। इस तरह साहित्य और समाज के आपसी संबंधों की जांच इस पद्धति के माध्यम से की जाती है।

साहित्य में आधुनिक काल के आगमन के साथ जब अनेक गद्य विधाओं का जन्म होता है तो उसी समय कहानी विधा के स्वरूप को लेकर चर्चाएं आरंभ होती हैं। कहानी की परिभाषा के अंतर्गत कहा गया है कि कहानी में किसी एक संवेदना का उत्तरोतर विकास होता है। इसतरह कहानी को उपन्यास, नाटक, निबंध आदि विधाओं से अलग किया गया। समय के साथ कहानी की 'संवेदना' भी लगातार परिवर्तित होती गयी। यह विधा लगातार अपने समाज के प्रभाव में रही है। नवजागरण काल से लेकर राष्ट्रवादी आंदोलन के उत्कर्ष तक कहानी विधा लगातार विकसित होती गयी है और इस क्रम में वह अत्यधिक समाज सापेक्ष हो जाती है। खासतौर पर राष्ट्रवादी आंदोलन के दौर में हिंदी कहानी ने प्रेमचंद के नेतृत्व में काफी लंबा सफर तय किया। इस समय कलात्मक रूप से कहानी विधा ने आदर्शवाद से यथार्थवाद तक का सफर तय किया।

आजादी के बाद बदली हुयी सामाजिक राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियों के दौरान भारतीय समाज में नयी तरह की संवेदना का विकास दिखाई देता है। इन बदली हुयी परिस्थितियों ने रचनाकार की

रचनात्मकता को भी प्रभावित किया। इसी प्रभाव में नयी कहानी आंदोलन का आरंभ हुआ। इस आंदोलन ने ना सिर्फ संवेदनात्मक रूप से कहानी को बदला वरन् सामाजिक यथार्थ को दिखाने की पद्धति को भी बदलने का कार्य किया। प्रमुख रूप से अनुभव की प्रामाणिकता और भोगे हुए यथार्थ के प्रभाव में इस दौर का साहित्य लिखा गया। आजादी के बाद जिस तरह की सामाजिक विचारधारा का विकास भारतीय समाज में होता है उसकी अभिव्यक्ति साहित्य में लगातार होती रही। हमें आजादी तो प्राप्त हो गयी लेकिन वैचारिक रूप से हम अभी भी पराधीन थे। एक तरह की निराशा का भाव भारतीय समाज में व्याप्त था। इस आजादी की वास्तविकता बहुत जल्दी ही सामने आ गयी।

इस दौर में जो साहित्य रचा गया वह प्रमुख रूप से निराशा का साहित्य था। जहाँ अकेलेपन की अभिव्यक्ति थी। नयी आर्थिक संरचना के बीच भारतीय समाज में कई तरह के मूलभूत परिवर्तन दिखाई देते हैं, जिसमें मध्यवर्गीय संवेदना का विकास एक प्रमुख घटना थी। नयी कहानी आंदोलन की इस संवेदना को साठोत्तरी कहानी में विस्तार प्राप्त होता है। जो अवसाद नयी कहानी आंदोलन के साहित्य में व्याप्त है उसे साठोत्तरी दौर में वैचारिक रूप से अभिव्यक्ति मिलती है। साठोत्तरी कथा आंदोलन प्रमुख रूप से मोह भंग का काल था। इसके अंतर्गत अकहानी, सचेतन कहानी, सहज कहानी आदि आंदोलनों का उदय होना इस दौर के वैचारिक विचलन का प्रमाण है। राजनैतिक रूप से भी यह दौर अत्यधिक अस्थिर रहा है। देश की जनता का विश्वास सरकार से उठता हुआ दिखाई देता है। बंगाल का विभाजन, नक्सलबाड़ी आंदोलन, भारत-चीन युद्ध आदि का प्रभाव साहित्य पर भी पड़ता दिखाई देता है। इसतरह साठोत्तरी कथा साहित्य के अंतर्गत 1960 से लेकर 1975 तक के कथा साहित्य को लिया गया है।

यथार्थवाद के विशेष संदर्भ में साठोत्तरी दौर की कहानियों का विश्लेषण करने के लिए इस शोध प्रबंध को प्रमुख रूप से पाँच भागों में बांटा गया है। पहले अध्याय के अंतर्गत हिंदी कहानी के स्वरूप और विकास पर प्रकाश डाला गया है। इसक्रम में हिंदी कहानी के सौ वर्षों के इतिहास पर प्रकाश डाला गया है। हिंदी कहानी के पहले दशक की कहानियों में नवजागरण के तथ्यों को उजागर करने की कोशिश की गयी है। दूसरा उपअध्याय प्रेमचंद युग पर आधारित है । प्रेमचंद की कहानियों ने लगातार यथार्थवाद की जमीन को पुख्ता करने का कार्य किया है। तीसरा उपअध्याय विभिन्न कहानी आंदोलनों पर आधारित है जिसके अंतर्गत नयी कहानी, अकहानी, सचेतन कहानी आदि का विश्लेषण किया गया है। इसके अतिरिक्त समकालीन कहानी आंदोलनों के बरक्स अस्मितावादी विमर्शों पर आधारित कहानियों का उल्लेख किया गया है।

शोध का दूसरा अध्याय प्रमुख रूप से यथार्थवादी कला आंदोलन पर आधारित है। पहले उपअध्याय में यथार्थवाद के अर्थ और स्वरूप पर विस्तार से चर्चा की गयी है। इसके बाद मार्क्सवाद से पहले यथार्थवादी पद्धति के विकास में योगदान देने वाले विद्वानों की चर्चा की गयी है। इसक्रम में तीसरे उपअध्याय में यथार्थवाद के प्रकार पर लिखते हुए आदर्शवाद से लेकर प्रकृतवाद तथा यथार्थवाद और भोगे हुये यथार्थ की चर्चा की गयी है। अंतिम उपअध्याय में मुख्यतः हिंदी साहित्य में यथार्थवादी पद्धति के विकास पर प्रकाश डाला गया है। इस अध्याय में प्रमुख रूप से यथार्थवादी पद्धति के विषय में विस्तार से चर्चा की गयी है।

तीसरा अध्याय साठोत्तरी हिंदी कहानियों की वैचारिक पृष्ठभूमि पर आधारित है। यहाँ राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक विचारधारा का विश्लेषण किया गया है। साठोत्तरी कहानियों के रचनाकारों की जो विचारधारा निर्मित हो रही थी उसके लिए जो बाह्य कारक जिम्मेदार थे उनपर विस्तार से चर्चा की गयी है। इस दौर की राजनैतिक परिस्थितियाँ अत्यंत ही अस्थिर थीं जिसके कारण कहानियों में संवेदनात्मक परिवर्तन देखने को मिलता है। जिसपर विस्तार से चर्चा शोध के चौथे अध्याय में की गयी है।

चौथा अध्याय प्रमुख रूप से साठोत्तरी कहानियां और यथार्थवाद पर आधारित है जहाँ प्रमुख सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियों के बरक्स इस दौर की कहानियों की चर्चा की गयी है। किसतरह इस दौर की संवेदना लगातार परिवर्तित हो रही थी- इसपर विस्तार से चर्चा की गयी है। इस पर विचार किया गया है कि आधुनिकता और परंपरा की अवधारणा कैसे बदलती है और इसकी अभिव्यक्ति किस प्रकार कहानियों में की गयी है। इसके अलावा यथार्थवाद के विविध रूपों को कहानियों के माध्यम से व्यक्त करने की कोशिश की गयी है। यथार्थवाद के आईने में इन कहानियों में भाषा और शिल्प पर चर्चा इस अध्याय के एक उपअध्याय में किया गया है।

शोध के पांचवे अध्याय में प्रमुख रूप से दस साठोत्तरी यथार्थवादी रचनाकरों को लिया गया है। जिनकी कहानियों का विश्लेषण यथार्थवाद के विशेष संदर्भ में किया गया है। इन रचनाकारों को चुनते समय तीन ऐसे कहानिकारों को लिया गया है जो नयी कहानी आंदोलन के दौर से ही कहानियाँ लिख रहे थे। इनमें प्रमुख रूप से कमलेश्वर, मोहन राकेश तथा निर्मल वर्मा जी हैं। किसतरह इनके कहानियों की संवेदना साठोत्तरी दौर तक आते- आते बदल जाती है, इसपर विस्तार से विचार किया गया है। तीन ऐसे रचनाकार हैं जो प्रमुख रूप से साठोत्तरी दौर के हैं- ज्ञानरंजन, गुलशेरखाँ शानी तथा काशीनाथ सिंह। इन तीनों की कहानियों के द्वारा साठोत्तरी दौर की कहानियों में विकसित संवेदना का विश्लेषण किया गया है। इसके अतिरिक्त चार महिला लेखिकाएं हैं- कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी, उषा प्रियंवदा तथा नासिरा शर्मा।

इसतरह साठोत्तरी हिंदी कहानियाँ और यथार्थवाद पर आधारित अपने शोध प्रबंध को मैंने प्रमुख रूप से पांच भागों में बांटा है ताकि इस विषय के अध्ययन तथा शोध में सुविधा हो तथा साथ ही इस विषय पर आधारित महत्वपूर्ण विचारों को उभाराने का मौका मिल सके।

पिछले चार वर्षों से तेजपुर विश्वविद्यालय में रहते हुए अध्ययन और अध्यापन का पूरा मौका मिला जिसके कारण यह शोधकार्य समय पर पूरा हो सका। विश्वविद्यालय कैंपस में वह सारी सुविधाएं उपलब्ध हैं जिनका लाभ शोधार्थी आसानी से उठा सकता है। साथ ही असम राज्य की जलवायु ने भी अनुकूल भूमिका निभाई। घर और परिवार से इतने दूर रहने के कारण अध्ययन की सुविधा तो प्राप्त हो गयी लेकिन मम्मी - पापा और दोस्तों की कमी लगातार बनी रही जिन्होंने दूर रहते हुए भी लगातार मुझे प्रेरित किया जिनके लिए धन्यवाद लिखना उनके महत्व को कम करना होगा।

अपने इस शोध कार्य में सबसे अहम् भूमिका निभाने वाले मेरे शोध निर्देशक प्रो. अनंत कुमार नाथ जी का शुक्रिया अदा करना चाहूँगी जिन्होंने एक निर्देशक से बढ़कर अभिभावक की भूमिका भी निभाई है, जिनके सहयोग के बिना मेरा यह कार्य पूरा नहीं हो पाता। साथ ही विभाग के अन्य सहयोगी डॉ. सूर्यकांत त्रिपाठी और अनुशब्द को भी धन्यवाद देना चाहूँगी जिन्होंने विभागीय कार्यों के दबाव से मुझे मुक्त रखा जिसके कारण यह कार्य संभव हो सका।

यथार्थवाद और प्रारंभिक कहानियों से संबंधित कई महत्वपूर्ण सामग्री को उपलब्ध करवाने के लिए तथा समय-समय पर विचार- विमर्शो के द्वारा विषय से संबंधित समझदारी बनाने में मदद करने के लिए शीतांशु को धन्यवाद देना चाहती हूँ। इसक्रम में अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय द्वारा निर्मित वेबसाइट 'हिंदी समय' को धन्यवाद जिसके कारण पूर्वोत्तर भारत के इस कोने में रहते हुए भी मेरे शोध से संबंधित महत्वपूर्ण रचनाएं मिल सकी।

रवि, अमित तथा दीदी व प्रियंवद सर के स्नेहिल सहयोग के बिना यह शोध अधूरा होता। इसके अलावा वंदना, सर्मिष्ठा, निर्माली और विवेक ने इस शोध प्रबंध को लिखने के संघर्षपूर्ण दिनों में अपने दोस्त होने की जिम्मेदारी समझते हुए मेरा काफी सहयोग किया। अंत में फातिमा का शुक्रिया करूँगी जिन्होंने यदि मेरे घर के कामों की जिम्मेदारियों को नही सभांला होता तो यह शोध कभी नहीं लिखा जा पाता।

- अंजु लता

उन सभी

मूर्त और अमूर्त शक्तियों को

जो बेहतर समाज बनाने के लिए सक्रिय हैं

प्रथम अध्याय

हिंदी कहानी का स्वरूप

हिंदी कहानी का स्वरूप

हिंदी साहित्य में आधुनिक काल के आगमन के साथ कहानी विधा का विकास होता है। इसके पहले के साहित्य में कथा को अन्य साहित्यिक माध्यमों से प्रस्तुत किया जाता था। साहित्य में गद्य के उदय के प्रमाण आधुनिक काल से पहले भी प्राप्त होते हैं लेकिन कहानी एक व्यवस्थित साहित्यिक विधा के रूप में इसी युग में विकसित होती है। इसके जन्म के साथ ही इसके स्वरूप से संबंधित अनेक तथ्यों पर विचार आरंभ किया गया। किस प्रकार इस विधा को उपन्यास, निबंध और नाटक से अलगाया जाए इसपर विस्तार से चर्चा करने की आवश्यकता महसूस होती है। यदि देखा जाए तो कहानी के अलावा अन्य साहित्यिक विधाओं के केंद्र में कथा ही है लेकिन एक खास साहित्यिक शैली तथा प्रस्तुतीकरण के कारण कहानी विधा के अंतर्गत नहीं आती है। इसलिए कहानी के स्वरूप तथा समय बीतने के साथ उसमें होने वाले परिवर्तनों पर विस्तार से विचार करने की जरूरत महसूस होती है। आधुनिक काल के विचारकों ने इस विधा से जुड़े महत्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किये जहाँ ना सिर्फ रूप से संबंधित वरन् अंतर्वस्तु से जुड़े कई तथ्य सामने लाये गये।

हिंदी कहानी का एक लंबा इतिहास है जिसके अंतर्गत वह लगातार अपने स्वरूप को बदलती रही है। प्रारंभिक हिंदी कहानियों से लेकर नई कहानी आंदोलन तक और नई कहानी से समकालीन कहानी तक इस विधा में परिवर्तन कई महत्वपूर्ण परिवर्तन दिखाई देते हैं। प्रारंभ में यह बंगाली और अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव में रही और बाद में देश व्यापी राष्ट्रवादी आंदोलन के प्रभाव में विकसित होती है। आजादी के बाद इस विधा के विकास में विभिन्न प्रकार के आंदोलनों का दौर आरंभ होता है। समकालीन कहानी आंदोलन के अंतर्गत दलित और स्त्री विमर्श का आरंभ होता है। जिसमें ना सिर्फ कहानी की भाषा बदलती है वरन् यथार्थ को प्रस्तुत करने के ढंग में भी परिवर्तन परिलक्षित होती है।

प्रारंभिक हिंदी कहानियों से लेकर समकालीन कहानी के दौर तक कई पड़ावों से गुजरती हुयी कहानी ने लगातार अपनी परिभाषा को भी बदला है। जहाँ एक तरफ प्रारंभिक दौर की कहानियों ने इस सशक्त विधा को विकसित करने का कार्य किया वहीं बाद में लगातार सामाजिक यथार्थ को प्रभावित करती प्रतीत होती है। शुरूआती दौर में कहानी की अवधारणा को लेकर कई तरह के विचार इतिहासकारों में व्याप्त थे। कालांतर में इसकी परिभाषा को निर्धारित किया गया जिसके कारण कहानी मौखिक परंपरा से लिखित परंपरा में अपने स्थान को सुरक्षित करती है। वर्तमान साहित्यिक परंपरा में हिंदी कहानी अत्यधिक सक्रिय रूप में हमारे सामने उपस्थित होती है। जहाँ रचनाकार समाजिक यथार्थ और कल्पना का सम्मिश्रण उपस्थित करता है। साथ ही भोगे हुए यथार्थ और प्रामाणिक अनुभवों को भी कहानी विधा के भीतर एक

सम्मानित स्थान दिया जा रहा है।

1.1. कहानी की अवधारणा और विकास :

कहानी की अवधारणा पर विचार करने के लिए इसके इतिहास में जाने की आवश्यकता पड़ती है। कहानी क्या है और गद्य में वह कौन से तत्व होते हैं जिससे कहानी की निर्मिति होती है? -इन प्रश्नों से जुझने पर कहानी की अवधारण को निर्धारित किया जा सकता है। सामान्यतः किसी एक संवेदना के विकास को कहानी का मूल तत्व माना जाता है। जबकि उपन्यास और अन्य गद्य विधाओं में संवेदनाओं की विविधता और स्वरूप में भिन्नता परिलक्षित होती है। समय बीतने के साथ कहानी के स्वरूप में लगातार परिवर्तन होता है जिसके कारण यह विधा अपनी अवधारण को लगातार परिवर्तित करती हुयी दिखाई देती है।

जब तक कहानी लिखित रूप से विकसित नही हो पायी थी तब उसका प्रभाव श्रोताओं तक सीमित था। इसलिए कथा साहित्य के इतिहास में केवल लिखित परंपरा को सम्मिलित किया जाता है। इतिहास में प्रमुख रूप से दो तरह की कहानियों का प्रचलन रहा है- पहला पाठ प्रधान कहानी और दूसरा श्रोता प्रधान कहानी। इस संदर्भ में डॉ. भवदेव पांडेय ने लिखा है कि- हिंदी कहानी का इतिहास अथवा आलोचना लिखने वाले विमर्शवादियों द्वारा अभी तक श्रोता प्रधान कहानी और पाठ प्रधान कहानी में कोई भेद निरूपित नहीं किया गया है। इसके कारण आधुनिक कहानियों के संकलन और स्वरूप-निर्धारण में काफी कठिनाईयां उपस्थित रहीं हैं।[1]

प्रारंभिक कहानियों में इन दो तरह की कहानियों का प्रचलन था, जिसके अंतर्गत पाठ प्रधान कहानी का अर्थ है इतिहास के आदमी और कहानी के आदमी में फर्क न होना। लेखक के द्वारा अपनी रचनात्मकता का इस्तेमाल करके किसी एक संवेदना के साथ उससे जुड़े हुए पात्रों के चरित्र का विकास करना। इस संदर्भ में कहानी में पाठ और पाठक के आपसी रिश्तों की जांच करना भी एक आवश्यक पक्ष है। इसलिए कहानी की सामाजिक पक्षधरता भी रचनाकार और पाठक दोनों के महत्व को रेखांकित करती है। कहानी कितनी मौलिक है इसका निर्धारण करने से पहले यह जान लेना आवश्यक होता है कि वह समाज के किस वर्ग के पक्ष मे रची जा रही है। पाठ प्रधान कहानी इसलिए अत्यधिक महत्वपूर्ण हो जाती है क्योंकि यह एक दस्तावेज के रूप में सुरक्षित रहती है।

श्रोता प्रधान कहानी का विकास भारतीय समाज में अज्ञात काल से माना जाता है। अत्याधुनिक प्रिटिंग प्रेस के उदय हो जाने के बावजूद भी मौखिक रूप से कही-सुनी जाने वाली कहानियों का अस्तित्व सदैव रहेगा। लिखित परंपरा में कहानी के विकास के बाद भी कहानी के स्थान पर आख्यायिका शब्द के प्रचलन की परंपरा थी। कहानी विधा के विकास के संदर्भ में राजेंद्र यादव जी ने लिखा है कि- वर्तमान और अतीत

की दूरी इतिहास लेखन में तो नहीं लेकिन मूल्यांकन और अध्ययन में अनेक कठिनाईयों और अंतर्विरोधों को जन्म देती है। हिंदी कहानी के वेदों वाला इतिहास, आधुनिक काल तक आकर टूट जाता है और आलोचकों को टिप्पणी देनी पड़ती है। कहानी के रूप में हम आज जिस साहित्य रूप से परिचित हैं, वह आधुनिक युग की देन हे और उसका विकास विदेशों में हुआ है।[2]

इस तरह यह देखा जाता है कि भारतीय समाज में कहानी मौखिक परंपरा में एक लंबे समय से मौजूद रही है। सभ्यता के विकास का वह समय जब जन इतिहास को दर्ज करने की कोई वैज्ञानिक पद्धति विकसित नही हो पाई थी तो मनुष्य अपने अतीत को कहानियों के माध्यम से वाचिक परंपरा में जीवित रखने की कोशिश करता था। हमारे समाज में प्राचीन काल से ही कहानियों को कहने की परम्परा रही है। बचपन से लेकर बड़े होने तक हम कहानियों के संपर्क में रहते हैं। कहानी कहने की परंपरा में एक तरफ कथा वाचक होता है और दूसरी तरफ श्रोता। कालांतर में जब कहानी ने इतिहास के तत्वों को अपने में समाहित करने की कोशिश की तब इसे आख्यायिका की संज्ञा दी गयी। आख्यायिका में उपरोक्त दोनों पक्षों का होना आवश्यक है। इस क्रम में एक के मुख से दूसरे और दूसरे के मुख से तीसरे तक कथा के माध्यम से इतिहास का संचरण होता रहता है।

वैज्ञानिक तकनीक के विकास के फलस्वरूप जब छापेखाने का विकास हुआ तो कथा ही नही वरन् साहित्य की अन्य विधाओं का भी विकास हुआ। इस क्रम में कथा वाचक और श्रोता समाज में कम रह गये। कहानी लिखित रूप में पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से आने लगी। और कहानी लिखने और पढ़ने वाले समाज का अंग बन गये। इस संदर्भ में गोपाल राय कहते हैं कि- उन्नीसवी शताब्दी के अंतिम वर्ष में सरस्वती के प्रकाशनारंभ (1900) के साथ उसके संपादको ने लघु- आकारी कथाओं के प्रकाशन की आवश्यकता महसूस की। यह पत्रिका की आंतरिक आवश्यकता भी हो सकती है और अंग्रेजी में लोकप्रिय हो चुकी शॉर्ट-स्टोरी का प्रभाव भी। सरस्वती के पहले ही अंक में प्रकाशित किशोरीलाल गोस्वामी की जिस रचना (इंदुमती) को 1928-29 में शुक्ल जी ने और अन्य आलोचकों ने भी कहानी कहा, उसे स्वयं गोस्वामी जी ने आख्यायिका कहा था।[3]

इसप्रकार कहानी विधा के अस्तित्व में आने के साथ ही उसके नाम को लेकर विवाद आरंभ हो गया था। किसी भी साहित्यिक विधा को लेकर आरंभिक दौर में इसप्रकार का विवाद स्वाभाविक है। किसी भी साहित्यिक विधा के आरंभ होने के पीछे अनेक कारण होते हैं और कहानी विधा का जन्म अपने समय में कई प्रकार के सामाजिक परिवर्तन का सूचक था जो अपने साथ साहित्य में भाषा के परिवर्तन के साथ - साथ गद्य साहित्य की अनेक विधाओं को लेकर आया। इन सभी विधाओं का केंद्रीय तत्व कथा को माना

जाता है जो अपने आकार और प्रस्तुतीकरण के आधार पर विभाजित किया जाता है। अपने विकास के प्रारंभिक अवस्था में इन विधाओं का चरित्र स्पष्ट नही था। इस संदर्भ में बच्चन सिंह ने कहा है- सन् 1850 से 1900 तक उपन्यास कहानी का भेद स्पष्ट नही किया जा सकता है। समस्त कथा साहित्य (फिक्शन) को उपन्यास कहने का चलन था। एक कहानी कुछ आपबीती - कुछ जगबीती को, जो कदाचित उपन्यास के रूप में लिखा जा रहा था, भारतेंदु ने उसे कहानी की संज्ञा दी। किशोरीलाल गोस्वामी की इंदुमती जिसे हिंदी की पहली कहानी माना जाता है और जो सरस्वती में (1900) में प्रकाशित हो चुकी थी उसे भी गोस्वामीजी ने उपन्यास कहकर प्रकाशित किया है।[4]

अपनी विकास की प्रारंभिक अवस्था में कहानी विधा का स्वरूप इतना अस्पष्ट था कि न केवल रचनाकारों में वरन् कहानी का इतिहास लिखने वाले आलोचकों के मतों में भी बहुत अंतर है। खैर, कहानी विधा ने समय बीतने के साथ अपने स्वरूप को स्पष्ट किया। साहित्य का विकास समाज में आये परिवर्तन का सूचक होता है या ऐसा कहा जा सकता है कि यह परस्पर निर्भर प्रक्रिया है। साथ ही यह इतिहास से जुड़ा हुआ तथ्य है इसीलिए एक समय विशेष में ना केवल कहानी वरन् अन्य गद्य विधाओं का भी जन्म होता है। अब शोध का विषय यह है कि वह कौन-कौन से सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और ऐतिहासिक कारण थे जिसने गद्य साहित्य का विकास किया?

1857 की क्रांति के बाद भारतीय समाज का स्वरूप बदलने की प्रकिया आरंभ हो गयी थी। इस क्रम में अंग्रेजों के द्वारा भारतीय इतिहास के अध्ययन की प्रक्रिया भी आगे बढ़ चुकी थी। 1800 में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना एक महत्वपूर्ण पड़ाव था जहाँ पर विभिन्न भाषाओं से हिंदी एव अंग्रेजी में अनुवाद कार्य चल रहा था। इस संस्थान ने भाषा के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस संदर्भ में आचार्य रामचंद्र शुक्ल कहते हैं कि- फोर्ट विलियम कालेज के आश्रय में लल्लूलाल जी गुजराती ने खड़ी बोली के गद्य में 'प्रेमसागर' और सदल मिश्र ने नासिकेतोपाख्यान लिखा। अतः खड़ी बोली को एक साथ आगे बढ़ाने वाले चार महानुभाव हुए हैं- मुंशी सदासुख लाल, सैयद इंशा अल्लाह खाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र।[5]

इसप्रकार इस संस्थान ने हिंदी भाषा के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। वास्तव में यह समय एक संक्रमण काल था जब भाषा, साहित्य, संस्कृति और इतिहास सभी क्षेत्रों में परिवर्तन का दौर चल रहा था। नई शिक्षा के प्रभाव में आयी भारतीय जनता वैचारिक रूप से भी बदल रही थी। विभिन्न पत्र- पत्रिकाओं का संपादन इसी के प्रकाश में हुआ। इन पत्र-पत्रिकाओं ने गद्य साहित्य के विकास में काफी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। ना केवल गद्य विधा का विकास वरन् भाषा को भी सुधारने का कार्य किया गया। इस क्रम में देशी बोलियों के स्थान पर खड़ी बोली साहित्य की भाषा के रूप में स्थापित होती है। खास तौर पर

सरस्वती पत्रिका का योगदान इस क्षेत्र में प्रमुख रूप से है।

वहीं दूसरी तरफ अंग्रेजी शासन ने भारतीय अर्थव्यवस्था को लूटने के बाद अपने धर्म का प्रचार-प्रसार करने का प्रयास आरंभ कर दिया। वैसे इतिहास गवाह रहा है कि जब भी कोई नया धर्म आरंभ हुआ तो उसने आम-जन की भाषा को माध्यम बनाया। इस क्रम में खड़ी बोली हिंदी का साहित्य विकसित करने में ईसाइ धर्म के प्रचार ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इन धर्म प्रचारकों ने ना केवल साहित्य की भाषा को विकसित किया वरन् उस समय में जन्म लेने वाली नयी विधाओं को समृद्ध करने का कार्य भी किया।

साहित्यिक भाषा के रूप में खड़ी बोली हिंदी का विकास होने के पश्चात् हिंदी साहित्य का परिचय अंग्रेजी और बांग्ला साहित्य के साथ होने लगा। पुनर्जागरण आंदोलन के प्रारंभ होने के साथ भारतीय समाज और साहित्य का स्वरूप धीमी गति से बदलने लगा था। इस संदर्भ में गोपाल राय कहते हैं कि- एक उल्लेखनीय तथ्य यह भी है कि हिंदी कहानी का जन्म उस समय हुआ जब उत्तर भारत का पुनर्जागरण आंदोलन अपने विकास के दूसरे चरण में प्रवेश कर चुका था। यह तो सुज्ञात ही है कि जिस समय, यानी उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में *बंगाल में पुनर्जागरण का दौर चल रहा था, हिंदी क्षेत्र (जिसे बंगाली भद्र लोक हिंदुस्तान* कहता था) मध्यकालीनता के अंधेरे में जकड़ा हुआ था।[6]

इसप्रकार एक ही देश का भाग होने के बावजूद भारतीय समाज में राजनैतिक चेतना का विकास समान रूप से नहीं हो पाया था। फिर भी जैसे-जैसे हिंदी जगत ने विकास किया इस भाषा का साहित्य भी विकसित होने लगा। इसके साथ ही इस समय की कहानियों पर पुनर्जागरण आंदोलन का प्रभाव भी दिखाई देता है।

कहानी के विकास में अनुवाद की भूमिका पर भी विचार करना चाहिए। इसका कारण यह है कि कहानी विधा का हिंदी जगत से परिचय अनुवाद के सहारे ही हुआ। प्रारंभिक हिदी कहानी में शुमार इंदुमति पर शेक्सपीयर के नाटक 'टेम्पेस्ट' का प्रभाव माना जाता है। इसके अतिरिक्त बांग्ला और अंग्रेजा साहित्य का प्रभाव हिंदी कहानियों पर पड़ा। इस संदर्भ में शुक्ल जी ने कहा है कि- अंग्रेजी की मासिक पत्रिकाओं में जैसी छोटी-छोटी आख्यायिकाएं या कहानियाँ निकला करती हैं वैसी कहानियों की रचना 'गल्प' के नाम से बंगभाषा में चल पड़ी थीं। ये कहानियाँ जीवन के बड़े मार्मिक और भावव्यंजक खंडचित्रों के रूप में होती थीं। द्वितीय उत्थान की सारी प्रवृत्तियों का आभास लेकर प्रकट होने वाली 'सरस्वती' पत्रिका में इस प्रकार की छोटी कहानियों के दर्शन होने लगे। 'सरस्वती' के प्रथम वर्ष में ही पंडित किशोरीलाल गोस्वामी 'इंदुमति' नाम की कहानी छपी जो मौलिक जान पड़ती है। इसके उपरांत तो उसमें कहानियां बराबर निकलती रहीं पर यह अधिकतर बंगभाषा में अनुदित या छाया लेकर लिखी होती थीं। बंगभाषा से

अनुवाद करने वालों में इंडियन प्रेस के मैनेजर बा. गिरिजाकुमार घोष, जो हिंदी कहानियों में अपना नाम 'लाल पार्वतीनंदन' देते थे, विशेष उल्लेख योग्य है। उसके उपरांत बंगमहिला का स्थान है जो मिरिजापुर निवासी प्रतिष्ठित बंगाली सज्जन बा. रामप्रसाद घोष की पुत्री और पूर्णचंद्र की धर्मपत्नी थी। उन्होंने बहुत सी कहानियों का बंगला से अनुवाद तो किया ही, हिंदी में कुछ मौलिक कहानियाँ भी लिखीं जिसमें से एक थी दुलाईवाली जो सं. 1964 में सरस्वती में प्रकाशित हुयी थी।[7]

इसप्रकार हिंदी कहानी की प्रारंभिक अवस्था में लेखकों के द्वारा अनुवाद की हुयी कहानियों का प्रचलन था। बाद में इन्हीं लेखकों ने मौलिक कहानियाँ भी लिखीं। कुछ कहानियों पर अंग्रेजी और बांग्ला का प्रभाव मिलता है क्योंकि इन भाषाओं का साहित्य, हिंदी भाषा के साहित्य से पहले विकसित हुआ था।

चूंकि कहानी में एक क्षण की संवेदना का विकास होता है इसीलिए यदि कहानी मौलिक है तो उसमें संवेदना की मौलिकता अत्यंत आवश्यक है। हिंदी साहित्य में अनूदित कहानियों से आरंभ होकर कहानी ने संवेदनात्मक मौलिकता तक का सफर तय करके विकासशील अवस्था को प्राप्त किया। कहानी विधा के विकास में पत्र-पत्रिकाओं का विशेष योगदान रहा है। भारत में छापेखाने के अविष्कार के फलस्वरूप विभिन्न प्रकार की पत्र - पत्रिकाओं का संपादन आरंभ हुआ। इसप्रकार की पत्रिकाओं का संपादन और साथ ही परिवर्तन करने वाले यंत्र भी सामाजिक परिवर्तन के सूचक थे। समय बीतने के साथ इन पत्र- पत्रिकाओं ने हिंदी साहित्य को समृद्ध करने का कार्य किया। इसक्रम में हिंदी कहानी का भी कल्याण हुआ। प्रारंभिक हिंदी पत्रिकाओं के कारण कई कहानियाँ प्रकाश में आयीं।

सरस्वती पत्रिका के संपादन के साथ हिंदी भाषा और विभिन्न साहित्यिक विधाओं के प्रति लेखकों में जागरूकता आयी। सरस्वती पत्रिका ने हिंदी भाषा को विकसित करने का कार्य किया। किशोरीलाल गोस्वामी कृत 'इंदुमति' 1900 ई. में आख्यायिका के नाम से प्रकाशित हुयी। 1902 में गुलबहार प्रकाश में आयी। शुक्ल जी की रचना 'ग्यारह वर्ष का समय' 1903 में प्रकाशित हुयी। इसे आख्यायिक के नाम से प्रकाशित किया गया। इसप्रकार सरस्वती पत्रिका ने प्रत्येक वर्ष एक-एक कहानी प्रकाशित करके इस विधा को समझने में सहायता की। इसके बाद लगातार प्रकाशित होने वाली पत्रिकाओं नें नई कहानियों को प्रकाश में लाकर कहानी का विकास किया। इसके अतिरिक्त हिंदी-उर्दू परंपरा के कालजयी लेखक प्रेमचंद की प्रारंभिक कहानियां भी प्रकाश में आने लगीं। इस संदर्भ में गोपाल राय जी लिखते हैं कि- हिंदी-उर्दू कहानी को अपनी समय की आत्मा से जोड़ने वाले सर्वाधिक उल्लेखनीय कहानीकार नवाब राय (प्रेमचंद) थे जिनका प्रथम कहानी 'इश्के दुनिया हुब्बे वतन' अप्रील 1908 में जमाना में प्रकाशित हुयी।[8]

इसप्रकार हिंदी कहानी के विकास के पहले दशक में दो पत्रिकाएँ सरस्वती और जमाना अत्यधिक सक्रिय

रहीं। इसके अतिरिक्त दूसरे दशक में इंदु(1909), सेवक(1910), अदीब(1910), मर्यादा(1910), गृहलक्ष्मी(1912), औदुम्बर(1912), हिंदी मनोरंजन(1912), नवनीत(1913), प्रभा(1913) साहित्य-पत्रिका (1914) ने हिंदी कहानी के विकास में अत्यधिक योगदान दिया। इनकी सहायता से कहानी आम जन के जीवन का हिस्सा बन पायी।

1.2. प्रारंभिक हिंदी कहानी (हिंदी कहानी का पहला दशक) :

1857 की क्रांति के पश्चात् समाज का स्वरूप धीरे -धीरे बदलने लगा। यह क्रांति अपनी प्रारंभिक अवस्था में औपनिवेशिक सत्ता के खिलाफ उठने वाला मजबूत कदम था लेकिन आगे आने वाले समय में इसकी तीव्रता घट गयी। फिर भी, सामाजिक परिवर्तन के लिए उठने वाला कदम पीछे आ जाने के बावजूद भी अपने अवशेष को छोड़ ही देता है। आने वाले समय में राष्ट्रवादी आंदोलन की नींव रखने में इस क्रांति की भूमिका पर विचार करना आवश्यक है। इस क्रांति के बाद ही औपनिवेशिक शासन द्वारा हिंदू-मुस्लिम एकता को अलगाने की कोशिश की गई और इस कार्य के लिए विभिन्न प्रकार के छल-प्रपंच आरंभ किए गए। इसके अलावा, पुनर्जागरण आंदोलन, जिसकी शुरूआत बंगाल से हो चुकी थी उसके दूसरे चरण का आरंभ हो चुका था जिसके प्रभाव में हिंदी साहित्य जगत भी आ रहा था। बांग्ला साहित्य के प्रभाव में आने के साथ ही हिंदी में इसका प्रभाव दिखाई देने लगा था । इंदुमति जिसे हिंदी की पहली कहानी माना जाता है उसपर शेक्सपीयर के नाटक टेम्पेस्ट का प्रभाव बताया जाता है और लगातार उसकी मौलिकता पर भी प्रश्न उठाया जाता है। इस कहानी में प्रेम विवाह का समर्थन किया गया है। इसके अतिरिक्त ग्यारह वर्ष का समय कहानी बाल विवाह और पति विहीन स्त्री की पीड़ा को वर्णित करती है।

उपरोक्त दोनों ही विषय-वस्तु पुनर्जागरण आंदोलन के प्रमुख एजेंडे के रूप में स्थापित हैं। बीसवीं शताब्दी की पहली कहानी के रूप में जिन कहानियों का उल्लेख किया जाता है उनमें माधवराव सप्रे कृत 'एक टोकरी भर मिट्टी' महत्वपूर्ण है। यह कहानी एक बूढ़ी औरत और उसके पोती की है। इस कहानी में एक असहाय बूढ़ी औरत की सम्पत्ति पर अधिकार पाने की कोशिश और गाँव के जमींदार के शोषण और अत्याचार की कहानी कही गयी है। इस कहानी का अंत आदर्शवादी है, फिर भी, यह कहानी अपने समय में विधवा औरत की व्यथा को ठीक ढंग से प्रस्तुत करती है।

इसके अतिरिक्त भगवानदास कृत प्लेग की चुडैल, गरिजादत्त वाजपेयी कृत पंडित और पंडिताईन, बंग महिला कृत चन्द्रदेव से मेरी बातें, कुंभ में छोटी बहू और दुलाईवाली, नवाबराय कृत सोजे वतन की कहानियाँ, वृंदालाल वर्मा कृत राखीबंध भाई आदि मौलिक कहानियों के रूप में उल्लेखनीय हैं।

बंगमहिला कृत 1904 में रचित 'चन्द्रदेव से मेरी बातें' प्रारंभिक हिंदी कहानियों की श्रेणी में आती है। यह एक ऐसी कहानी है जिसमें चाँद को संबोधित करते हुए औपनिवेशिक शासन की कुनीतियों की तरफ इशारा किया गया है। इस संदर्भ में भवदेव पांडेय ने कहा है कि- हिंदी साहित्य की पहली कहानी थी जिसमें अपने समय की राजनीति और अर्थनीति को केंद्रीय कथ्य बनाया गया है।[9]

वास्तव में यह कहानी अपने समय की सामाजिक सच्चाई को उजागर करती है। जो अपने समय के हिसाब से साहित्य के क्षेत्र में एक सार्थक कदम था। दूसरी कहानी 'कुंभ में छोटी बहू' 1906 में लिखी गयी। यह कहानी भी धर्म के पाखंड को उजागर करती है और इसके साथ ही यह बताती है कि किस प्रकार देश की आम जनता धर्म के गिरफ्त में हैं। इस कहानी में वह लिखती हैं कि- धन्य हिंदू जाति ! धन्य हिंदू कुल! तुम्हारे पवित्र चरणों में इस क्षुद्र लेखिका का एक बार नही शतबार नही सहस्त्र बार नही कोटि बार सादर प्राणाम है। भाई हिंदू तुम्हारे पास अब कोई वल नही है। केवल धर्म बल! ईश्वर तुम्हारे इस महान धर्म बल को अटूट रखे। केवल यही मुझ दासी की हार्दिक कामना है।[10]

कहानी की यह पंक्तियाँ धर्म के ऊपर व्यंग्य होने के साथ-साथ इसके किसी स्थानापन्न ना होने पर दुख भी व्यक्त करता है। 1907 में लिखी गयी कहानी 'दुलाईवाली' कहानी में मध्यवर्गीय परिवार के यथार्थ को प्रस्तुत किया गया है। इसके साथ ही बंगाल में आने वाले स्वदेशी आंदोलन के प्रभाव को वर्णित किया गया है। कहानी का नायक वंशीधर कहता है कि- नहीं, एक देशी धोती पहिनकर आना था, सो भूलकर बिलायती ही पहिन आये। नवल कट्टर स्वदेशी हुए हैं न? वे बंगालियों से भी बढ़ गये हैं । देखेंगे तो दो चार सुनाए बिना नहीं रहेंगे। और बात भी ठीक है। नाहक विलायती चीजें मोल लेकर क्यों रूपये की बर्बादी की जाए। देशी लेने से भी दाम लगेगा सही पर रहेगा तो देश ही में।[11]

यह कहानी उस समय के स्वदेशी आंदोलन को न केवल दिखाती है वरन् उससे होने वाले आर्थिक लाभ को भी प्रदर्शित करती है। इस कहानी के संदर्भ में गोपाल राय लिखते हैं कि- यह एक चुहलबोध की कहानी है। पर इसमें चुहल के बीच मध्यवर्ग की अभावग्रस्तता के संकेत भी बहुत मार्मिक हैं। समकालीन परिवेश का यथार्थ चित्रण भी कहानी को नयापन प्रदान करता है।[12]

चुहलबोध के साथ-साथ यह कहानी अपने समय की राजनैतिक चेतना और स्त्री जीवन के मर्म को भी दिखाती है। 1909 में प्रकाशित मधुमंगल सिह की कहानी 'भुतही कोठरी' में समाज में फैले हुए अंधविश्वास से अवगत कराया गया है। इस कहानी के अतिरिक्त 1908 में लिखी गयी कहानी 'भाई-बहन' बच्चों को आधार बनाकर लिखी गयी है लेकिन इस कहानी में स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग पर जोर दिया गया है। इसके अलावा स्त्री जीवन की विडंबना को भी दर्शाया गया है। गिरिजादत्त की कहानी 'पंडित और

पंडितानी' तत्कालीन समाज में प्रचलित अनमेल विवाह से उत्पन्न होने वाली समस्या पर दृष्टिपात किया गया है। इसप्रकार प्रारंभिक हिंदी कहानियों में नवजागरण की चेतना के दर्शन होते हैं। बंगाल से आरंभ हुयी इस चेतना ने हिंदी साहित्य में धीरे-धीरे स्थान बना लिया था। कहानी की अंतर्वस्तु के आधार पर यदि विचार किया जाए तो उस समय की कहानियों में लगातार औपनिवेशिक शासन के विरोध में आवाज उठाई गयी है। इस संदर्भ में गोपाल राय मे कहा है कि- 1908 के पूर्व के हिंदी कहानीकार सामाजिक-नैतिक समस्याओं को तो अपनी कहानियों का विषय बनाते हैं, पर औपनिवेशिक शासन के विरूद्ध इशारा करने का भी उनमें साहस या इच्छा नहीं दिखाई पड़ती।[13]

1908 के पूर्व की कहानियों में प्रमुख रूप से जो कहानियां लिखी गयीं उनके विषय में उपरोक्त विवरण से यह पता चलता है कि यह सामाजिक-नैतिक समस्याओं को अपना विषय-वस्तु तो बनाती ही हैं लेकिन साथ ही स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग पर जोर भी देती हैं। एकतरह से यह आर्थिक आत्मनिर्भरता को प्रेरित करता है। अतः हम यह कह सकतें हैं कि कहानी प्रारंभिक दौर में ही औपनिवेशिक शासन के वास्तविक चेहरे को समाज के सामने लेकर आ रहा था।

इन सब के बीच हिंदी की पहली कहानी कौन-सी है, इसके विषय में भी आलोचको में सहमति और असहमति रही है लेकिन कुछ विद्वान इस विवाद में नहीं पड़ते हैं और प्रारंभिक हिंदी कहानियों की विशेषता बताते हुए कहानी के विकास में उसके महत्व को रेखांकित करते हैं। खैर, कहानी एक विधा के रूप में आधुनिक काल की देन है और मौखिक परंपरा में लंबे समय से मौजूद रही है- इस पर कोई विवाद नही है। लेकिन राजेद्र यादव जैसे आलोचकों का मानना है कि आधुनिक कहानी का आरंभ 1915 में चंद्रधर शर्मा द्वारा रचित 'उसने कहा था' से होती है। इस संदर्भ में इन्होंने लिखा है कि- इस शताब्दी का आरंभ हिंदी कहानियों के लिए महत्वपूर्ण है। किशोरीलाल गोस्वामी की कहानी इंदुमति -1901- पर टैम्पेस्ट की छाप है। रामचंद्र शुक्ल की कहानी ग्यारह वर्ष का समय -1903- और एक बंग महिला की दुलाई वाली- 1907- अपनी मौलिकता के बावजूद कहानी होने की मांग पूरी नहीं करती हैं। यों इन दिनों कहानियां तो बहुत निकली होंगी लेकिन मै समझता हूँ की हिंदी की पहली मौलिक और कलापूर्ण कहानी चंद्रधर शर्मा गुलेरी की उसने कहा था -1916- है और उससे ही आधुनिक हिदी कहानी का आरंभ माना जाना चाहिए।[14]

पहली और दूसरी कहानी के विवाद में ना पड़ना कई तरह से तर्कपूर्ण है लेकिन प्रारंभिक हिंदी कहानियों का कहानी विधा के विकास में जो योगदान है उसे नकारा नहीं जा सकता है। अपने विकास के प्रारंभिक

दौर में यह हो सकता है कि कहानियों पर अन्य भाषाओं का प्रभाव हो और उनकी मौलिकता में कमी हो लेकिन यदि वह बहुत कम मात्रा में भी मौलिकता का परिचय देती है तो उसका उल्लेख करना कहानी विधा के विकास में उसके प्रभाव को रेखांकित करना आलोचक का कार्य है। इसक्रम में यदि उसने कहा था कहानी रूप-अंतर्वस्तु और तकनीकी दृष्टि से मौलिकता ग्रहण करती है तो उसमें कहीं ना कहीं प्रारंभिक कहानियों का भी योगदान है जिन्होंने एक शुरूआत की है और इसे अनदेखा नही किया जा सकता है।

वहीं दूसरी तरफ हिंदी - उर्दू परंपरा के सबसे लोकप्रिय कथाकार नवाबराय का नाम आता है। इन्होंने अपने समय के साहित्य को समाज के साथ जोड़ने की कोशिश की ताकि साहित्य की प्रासंगिकता बनी रहे। इनकी कहानी इश्के दुनियाँ 1908 में जमाना पत्रिका में छपी। 1908 में ही सोजेवतन जमाना प्रेस, कानपुर से प्रकाशित हुई। लेखक के सोजेवतन संग्रह में इश्के दुनिया और हुब्बे वतन, दुनिया के सबसे अनमोल रत्न, यही मेरा वतन है, शेख मखमूस सिले मातम (शोक का पुरस्कार) आदि कहानियों प्रकाशित हुयीं। इनके लेखन की आरंभिक अवस्था में भारत के राजनैतिक माहौल में लगातार परिवर्तन आ रहा था। धीरे -धीरे औपनिवेशिक शासन के विरूद्ध आंदोलन का राष्ट्रवादी स्वरूप उभरकर सामने आ रहा था। इस संदर्भ में गोपाल राय लिखते हैं कि- जिस समय नवाब राय (प्रेमचंद) ने कहानी लेखन का आरंभ किया, उससे पहले जुझारू राष्ट्रवादी आंदोलन की शुरूआत हो चुकी थी। बंग-भंग का आंदोलन अपने चरम पर था। कांग्रेस इस आंदोलन में शिरकत करे या ना करे- इस प्रश्न को लेकर 1907 में कांग्रेस उदारवादियों और जुझारू राष्ट्रवादियों में विभाजन हो गया ...इसी समय नवाब राय की पहली कहानी 'इश्के दुनिया' व 'हुब्बे वतन' और पहला कहानी संग्रह सोजे वतन प्रकाशित हुआ। उसके बाद नवाबराय के साथ क्या घटित हुआ, यह हम जानते हैं। उसके तुरंत बाद 1910में 'इंडियन प्रेस एक्ट' लागू कर दिया गया जिसके तहत बंगाल में बंदेमातरम, युगांतर और अन्य समाचार पत्रो के प्रकाशन पर रोक लगा दिये जाने के साथ- साथ आंदोलन के प्रमुख नेताओं को कैद कर लेने और अन्य दमनात्मक कार्रवाहीयों का सिलसिला आरंभ हो गया।[15]

इसतरह नवाब राय के साहित्य लेखन में आते ही साहित्य का स्वरूप मात्र लेखन से बाहर निकाल कर क्रियाशील हो गया उसका प्रभाव गहरायी से समाज के ऊपर पड़ने लगा। और अंग्रेजा सत्ता की नीवें हिल गयीं। उनपर प्रतिबंध लगने के बाद भी वह अपना असली नाम बदलकर प्रेमचंद नाम से लगातार लिखते रहे।

1.3. प्रेमचंद युग (हिंदी कहानी के विकास का दूसरा दशक) :

हिंदी कहानी के विकास के पहले दशक में कहानी विधा के रूप में अपनी एक अलग पहचान बना चुकी थी।

दूसरे दशक में साहित्य में इस विधा का जन्म और विकास करने वाले कारकों ने अत्यधिक विकास किया जिसके फलस्वरूप कहानी को इसका लाभ मिला। गोपालराय ने इस दशक को दो वर्गो में बांट दिया है उन्होंने कहा है कि- दूसरे दशक की कहानियों की प्रकृति को देखते हुए अनका विवेचन दो खण्डो में करना संगत प्रतीत होता है। पहले खण्ड में 1911-15 की कहानियों रखी जा सकती हैं। इस संदर्भ में सन 1911 और 1915 राजनैतिक दृष्टि से ही नहीं, साहित्यिक दृष्टि से भी उल्लेखनीय वर्ष जान पड़ते हैं। 1911 में जयशंकर प्रसाद की पहली और उल्लेखनीय कहानी ग्राम और 1915 में चंद्रधर शर्मा की कालजीवी कहानी उसने कहा था प्रकाशित हुयी थी । यह संयोग ही है कि 1915 में ही प्रेमचंद की पहली हिंदी कहानी सौत भी प्रकाशित हुयी थी। [16]

इसप्रकार कहानियों के प्रकाशन की दृष्टि से यह दशक काफी महत्वपूर्ण था। इस समय की कहानियों में एकतरफ जहाँ प्रेमचंद भारतीय जन-मानस के भीतर औपनिवेशिक गुलामी से मुक्ति की भावना का विकास कर रहे थे वहीं दूसरी तरफ प्रसाद जैसे रचनाकार अपनी कहानियों में मानवीय प्रेम को मुख्य विषय के रूप में प्रस्तुत कर रहे थे।

यदि गहरायी से देखा जाए तो यह वो समय था जब समाज को साहित्य की अत्यधिक आवश्यकता थी, वह साहित्य से प्रेरित हो रही थी। यदि ऐसा नही होता तो उस समय प्रेमचंद जैसे रचनाकार को प्रतिबंधित नही किया जाता और इन सब के बावजूद प्रेमचंद नाम बदलकर नही लिखते। खैर, कारण चाहे कुछ भी हो साहित्य समाज से तथ्यों को लेता है और उनको समय के अनुसार रास्ता दिखाता है। 1915 तक प्रेमचंद की दर्जनों कहानियाँ उर्दू में प्रकाशित हो चुकी थीं, फिर भी हिंदी भाषा के पाठक इनकी कहानियों से अपरिचित थे। वैसे भी इनकी कहानियों की भाषा -हिंदी और उर्दू- में इतना अंतर नही था कि उसका अनुवाद कर देने के बाद भी समझने में कठिनाई हो। इनकी पहली हिंदी भाषा और देवनागरी लिपि की कहानी सौत का प्रकाशन सरस्वती में हुआ।

वहीं दूसरी तरफ जयशंकर प्रसाद का प्रवेश हिंदी कहानी साहित्य में 1911 में ग्राम से हुआ। यह कहानी इंदु में प्रकाशित हुई। अपनी कहानियों की विषय-वस्तु प्रेम को बनाते हुए प्रसाद ने हिंदी कहानी की परंपरा में एक नई कड़ी जोड़ने की कोशिश की। इनकी कहानियों में प्रेम में उत्कृष्ट त्याग की भावना दिखाई देती है। इस संदर्भ में गोपाल राय ने कहा है कि- प्रसाद की छाया में संग्रहित 11 कहानियों में 10 का विषय किसी ना किसी रूप में प्रेम है। सिर्फ एक और वह भी पहली ही कहानी ग्राम औपनिवेशिक शासन की करूण स्थिति से जुड़ी हुई है। औपनिवेशिक शासन में महाजनों का या छोटे किसानो का या जमींदारों की जमीन या जमींदारी हड़प कर 'अनुपस्थित' जमींदार बन जाना एक आम बात थी। प्रसाद ने इस यथार्थ की

पृष्ठभूमि में एक स्त्री की, और साथ ही उसे अपनी जमींदारी से मुक्त करने वाले महाजन के पुत्र की संवेदना का मार्मिक चित्रण किया है।[17]

इसप्रकार जहाँ एकतरफ हिंदी कहानी के दूसरे दशक में प्रेमचंद की कहानियां अंग्रेजी शासन के विरूद्ध आवाज उठाती है वहीं दूसरी तरफ प्रसाद और इस युग के उल्लेखनीय कहानीकार गुलेरी प्रेम को प्रमुख विषय के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

इस काल में चंदधर शर्मा गुलेरी की प्रमुख कहानी 'उसने कहा था'(1915) प्रकाशित हुयी। मूलतः पंजाब की पृष्ठभूमि पर आधारित यह कहानी द्वितीय विश्व युद्ध की रणभूमि पर समाप्त होती है। गुलेरी जी ने कल्पना का सहारा लेकर द्वितीय विश्व युद्ध की जो पृष्ठभूमि तैयार की है वह अत्यंन्त जीवंत हो गयी है। अपने बचपन के प्रेम को सार्थक करने के लिए कहानी का नायक अपने प्राणों की आहूति दे देता है। यदि वह चाहता तो अपनी जान बचा सकता था लेकिन वह अपनी प्रेमिका की कही हुयी बातों को याद करके मृत्यु को प्राप्त होता है। इसतरह की कहानियाँ लगातार मनुष्य के जीवन में प्रेम की प्रासंगिकता को बनाए रखती हैं। इस कहानी के संदर्भ में नंदकिशोर नवल कहते हैं कि- निःसंदेह हिंदी की पहली कालजयी कहानी चंद्रधरशर्मा गुलेरी लिखित उसने कहा था है। यह कहानी एक चमत्कार की तरह है, क्योंकि इसके लेखक रचनाकार नहीं बल्कि अनेक भाषाओं और अनेक विषयों पर अधिकार रखने वाले एक पंडित थे। लेकिन इस कहानी का यह दुर्भाग्य है कि इसे प्रायः गलत समझा गया है।[18]

उपरोक्त बातें उसने कहा था कहानी के संदर्भ में कई मायनों में सही सिद्ध होती हैं। एक तरफ जहाँ इस कहानी में पंजाबी भाषा का मिश्रण इसकी विशेषता बनती है वहीं दूसरी तरफ कई स्थानों पर समझ में ना आने का कारण भी बन जाती है। एक तरफ पंजाब और दूसरी तरफ फ्रांस की पृष्ठभूमि पर कहानी को आगे लेकर जाने की तकनीक हिंदी कहानी की परंपरा में एक नया प्रयोग था। इसतरह तकनीक की दृष्टि से यह कहानी एक विकसित परंपरा का प्रमाण देती है। .

1916-20 तक, पांच वर्षो में हिंदी कहानी के विकास की परंपरा में कई महत्वपूर्ण बदलाव आये। यह बदलाव देश की सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक परिवर्तन के फलस्वरूप हुआ, जिसका प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा। यह वो समय था जब देश की जनता ने अंग्रेजी शासन के खिलाफ और साथ ही देश में स्वशासन लाने का अभियान चला रही था। इन सब के बीच एक राजनीतिज्ञ के रूप में गांधी जी की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण हो गयी थी। उन्होंने अंग्रेजी शासन के विरोध में ऐसा आंदोलन चलाया जिसमें समाज के सभी वर्गों के लोग महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकें और खासतौर पर स्त्रियां आंदोलन का हिस्सा बन सकें। सामाजिक परिवर्तन के इस दौर में हिंदी कहानी में कई तरह का परिवर्तन दिखाई देता है और

प्रेमचंद एक महत्वपूर्ण कहानीकार बनकर सामने आते हैं। पंच परमेश्वर (1916), वियोग और मिलाप (1917), बलिदान (1918), बूढ़ी काकी आदि कहानियां उर्दू और हिंदी में एक साथ प्रकाशित होती रहीं। यह कहानियां जहाँ एक तरफ मानवीय संवेदना की अभिव्यक्ति करती हैं वहीं दूसरी तरफ विषम सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों का गहरायी में जाकर विश्लेषण करती हैं।

यदि महिला कथाकारों की बात की जाए तो इस संदर्भ में डा. लक्ष्मीनरायण लाल के अनुसार- हिंदी कहानी के विकास में अगस्त, 1918 में काशी की कौशल्या देवी द्वारा शुरू कि गयी हिंदी गल्पमाला का महत्वपूर्ण योगदान है। इसके प्रथम भाग के द्वतीय अंक में प्यारेलाल गुप्त कृत समालोचक, फूलमति कृत बड़े की बेटी, रूद्रदत्त भट्ट कृत अजीबदास की जासूसी और जी. पी श्रीवास्तव कृत मै ना बोलूंगी कहानिया प्रकाशित हुयी थी।...इन कहानियों के द्वारा जी.पी श्रीवास्तव ने जिस मनोवैज्ञानिक कथा-धारा का सूत्रपात किया, उसका विकास हिंदी गल्पमाला में ही मार्च, 1920 में प्रकाशित इलाचंद्र जोशी कृत सजनवां नामक कहानी में हुआ।[19]

इसप्रकार हिंदी कहानी के विकास के दूसरे दशक में स्त्रियों ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इस समय यदि कहानियों के रूप और अंतर्वस्तु की बात की जाए तो दो तरह की परंपरा दिखाई देती है- पहली प्रेमचंद द्वारा निर्मित और दूसरी प्रसाद की परंपरा। प्रेमचंद मूलतः उर्दू में लिखते थे लेकिन बाद में इनकी कुछ कहानियों का अनुवाद हुआ और साथ ही इनका लेखन मूलतः हिंदी में आने लगा। अनुवाद करने के बाद भी इनकी कहानियों की भाषा में कोई परिवर्तन नहीं आता है। इसके अलावा मूलतः हिंदी में लिखी कहानियों की भाषा उसकी लोकप्रियता का कारण बनकर सामने आती है। जहाँ तक प्रसाद की भाषा का सवाल है वह अत्यंत ही संस्कृतनिष्ठ और अलंकार की परंपरा के निकट गयी जान पड़ती है। इनकी भाषा के विषय में गोपाल राय जी कहते हैं कि- प्रसाद की 'हिंदी' में ढाँचा तो खड़ी बोली वाला ही रहा, पर शब्दावली तत्सम प्रधान हो गयी। एक और विशेष बात यह हुयी कि संस्कृत काव्य-परंपरा से जुड़े होने के कारण प्रसाद की भाषा में अलंकरण की प्रधानता हो गयी, जो कहानी की यथार्थवादी प्रकृति से मेल नहीं खाता है।[20]

यदि देखा जाए तो हिंदी कहानी ने अपने विकास के दूसरे चरण में एक विधा के रूप में विकास किया ही साथ ही भाषा और शिल्प के स्तर पर भी काफी समृद्धि प्राप्त की। इस दशक में आलोचकों और इतिहासकारों के सामने इस विधा से जुड़े हुए कई तरह के तथ्य सामने आतें हैं।

1.3.क. हिंदी कहानी का तीसरा दशक :

हिंदी कहानी का तीसरा दशक कहानी के विकास का एक ऐसा पड़ाव है जहाँ पर पहुँचकर इस विधा को एक नया मुकाम हासिल हुआ। यह और मुखर होकर पाठक के सामने आयी। कहानी के दूसरे दशक में प्रेमचंद एक महत्वपूर्ण कहानीकार बनकर उभरते हैं लेकिन तीसरे दशक में कई अन्य कहानिकारों का प्रवेश हिंदी साहित्य में हुआ। इनमें जयशंकर प्रसाद, रामकृष्ण दास, विनोद शंकर व्यास, चंडी प्रसाद, हृदयेश, सुदर्शन, बेचन शर्मा उग्र, वृंदालाल वर्मा आदि प्रमुख हैं। फिर भी इन सब के बीच प्रेमचंद की प्रासंगिकता बनी रही। अपने लेखन के प्रारंभ में यह उर्दू में लिखते थे लेकिन तीसरे दशक तक आते-आते इनकी कहानियाँ हिंदी और उर्दू दोनों पत्रिकाओं में समान रूप से प्रकशित हो रही थीं। इनकी कई कहानियों को सरकारी नौकरी में रहते हुए सरकार के विरोध में लिखते रहने के कारण प्रतिबंधित कर दिया गया था। इस प्रतिबंध के बावजूद इन्होंने अपना नाम बदलकर लेखन कार्य जारी रखा। प्रेमचंद की भाषा और भावों की सहजता के कारण उनके साहित्य को लोकप्रियता हासिल हुयी। समय बीतने के साथ सरकारी नौकरी छोड़कर इन्होंने साहित्य की सेवा की। इनका साहित्य बहुत गहराई तक जनता की भावनाओं से जुड़ा हुआ था, इसीलिए इनका रचना-संसार जन इतिहास का महत्वपूर्ण दस्तावेज बनकर सामने आता है। इस बारे में गोपाल राय जी कहते हैं कि-

इन कहानियों में एक बात बहुत साफ होकर गुजरती है, वह यह कि किसान और स्त्री इस दशक की राजनीति में बहुत सक्रिय हो उठे थे। ऐतिहासिक दस्तावेजों से भी इसकी पुष्टि होती है, किंतु प्रेमचंद की कहानियाँ इसको जो संवेदनात्मक तीव्रता प्रदान करती हैं, उससे इतिहास सजीव हो उठता है।[21] इसतरह से प्रेमचंद के लेखन से साहित्य में समाज के इतिहास को स्थान मिला। विध्वंस (1921), सौभाग्य के कोड़े (1924), मंदिर (1927), घासवाली (1929), सद्गति (1930) और पूस की रात (1930)- यदि ध्यान से देखा जाए तो इनकी कहानियां लगातार प्रभावशाली होती गयी हैं। इनकी कहानियां अपने विकास के तीसरे चरण में यथार्थवादी प्रवृत्ति की नज़र आती हैं। समय की मांग के अनुसार प्रेमचंद लगातार अपने विचारों में परिवर्तन ला रहे थे।

इस दशक के अन्य प्रमुख कहानीकारों में विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, सुदर्शन, ज्वाला दत्त शर्मा, बेचन पांडेय शर्मा उग्र और प्रसाद की कहानियाँ प्रकाश में आती हैं। स्वच्छंदतावादी रौमैंटिक कहानीकारों में प्रसाद, जैनेंद्र, उग्र, निराला, सियारामशरण गुप्त, हृदयेश का नाम आता है। इसके अतिरिक्त वे लोग जिन्हें प्रेमचंद संस्थान का कहानीकार कहा गया है, जिसमें चंदधर शर्मा गुलेरी, राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह,

भगवती प्रसाद वाजपेयी, चतुरसेन शास्त्री, विनोद शंकर व्यास, वाचस्पति व्यास पाठक, आदि की कहानियां मूलतः रोमैंटिक हैं।

प्रेमचंद के एक सफल कहानीकार के रूप में हिंदी साहित्य में स्थापित हो जाने के बाद प्रसाद के कहानी संग्रह आकाशद्वीप और आँधी की कहानियाँ आतीं हैं। इनकी कहानियों की प्रवृत्ति प्रेमचंद की कथा परंपरा से अत्यधिक भिन्न है। प्रसाद की कहानियों के विषय में बच्चन सिंह जी कहते हैं कि- प्रसाद की कहानियाँ अपने ढंग की अद्वितीय हैं। इसलिए उनके ढंग पर लिखी कहानियाँ समाहित नहीं हो सकीं। प्रेमचंद की कहानियों में जीवन की जो विविधताएं दिखाई देती हैं वे प्रसाद की कहानियों में नहीं मिलेंगी, पर मनोजगत की गहराईयों में उनकी अद्‌भुत पैठ हैं। यह मनोजगत यथार्थ से दूर कल्पना के निकट है, रहस्म्यमय है, विस्मयावह है, रहस्यात्मक है।[22]

इसतरह से कथा साहित्य की विकासशील परंपरा से जुड़ने वाले कहानीकार अपनी-अपनी प्रवृत्ति के साथ आये। इस दशक में राय कृष्णदास के दो कहानी संग्रह आख्यान(1929) और सुधांशु (1929) में प्रकाशित हुए। इस दशक के अंत में जैनेंद्र के कथा साहित्य का उदय होता है। जैनेद्र का पहला कहानी संग्रह फांसी 1929 में और दूसरा कहानी संग्रह 1931 में वातायन में प्रकाशित होता है। प्रेमचंद के समकालीन होने के बाद भी जैनेंद्र एक नयी प्रवृत्ति के साथ कथा साहित्य में प्रवेश करते हैं। प्रेमचंद ने अपने कथा साहित्य के माध्यम से यथार्थ की जो नींव डाली थी आने वाले समय के कहानीकारों ने उस परंपरा को आगे बढ़ाया। इस संदर्भ में यदि जैनेंद्र की साहित्यिक प्रवृतियों पर विचार किया जाए तो यह दिखाई देता है कि वे प्रेमचंद से अलग नयी प्रवृतियों को साहित्य का हिस्सा बनाते हैं। वास्तविकता यह थी कि जब जैनेंद्र अपने छात्र जीवन में थे तो वह काफी लंबे समय तक राष्ट्रवादी आंदोलन का हिस्सा रहे और यह केवल जैनेंद्र की सच्चाई नहीं थीं बल्कि उस समय की मांग थी जब महात्मा गाँधी के नेतृत्व में देश के जागरूक युवा आंदोलन का हिस्सा बन चुके थे। फिर भी जैनेंद्र ने मनोवैज्ञानिक यथार्थ को अपने साहित्य का हिस्सा बनाया। वहीं दूसरी तरफ प्रेमचंद अपनी रचनात्मकता के चरम अवस्था पर पहुँच गये थे। 1930 के आस - पास इन्होंने जितनी भी कहानियों की रचना की वह भारतीय साहित्य में यथार्थवादी विचारधारा के विकास में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। सद्गति, पूस की रात और होला का उपहार आदि ऐसी ही कहानियाँ हैं। इस सामाजिक यथार्थ का विकास आगे चलकर प्रेमचंद अपने उपन्यासों में करते हैं।

प्रमुख रूप से यदि देखा जाए तो हिंदी कहानी के दूसरे दशक में कहानी विधा के शिल्प और संरचना के स्तर पर जो प्रयोग चल रहा था उसका विकास तीसरे दशक में होता है। तीसरे दशक के अंत तक कथा साहित्य में शिल्प के स्तर पर प्रयोग करने वाले कई कथाकार दिखाई देते हैं जिनमें जैनेंद्र, प्रसाद, बेचन

शर्मा उग्र आदि प्रमुख हैं। इससे इस क्षेत्र में प्रेमचंद की कथा शिल्प की परंपरा चली आ रही थी उससे अलग हटकर एक नयी परंपरा का विकास होना शुरू हुआ। खैर, तरह-तरह के शिल्पगत प्रयास चाहे कितने भी हुए हों, इस दशक में प्रेमचंद का नाम एक युग निर्माता के रूप में सामने आता हैं। इसका कारण यह है कि इन्होंने साहित्य को समाज के साथ लगातार जोड़ने की कोशिश की और साथ ही सामाजिक यथार्थ के चित्रण को एक परिवर्तनशील पृष्ठभूमि प्रदान की। इनकी विचारधारा लगातार यथार्थ के बदलने के साथ - साथ बदलती दिखाई देती है। यही इनके कालजयी रचनाकार होने का कारण है।

1.4. प्रेमचंदोत्तर हिंदी कहानी: (हिंदी कहानी का चौथा दशक)

हिंदी कहानी के तीसरे दशक के मध्य तक कथा साहित्य पर प्रेमचंद जी का प्रभाव था। इस युग निर्माता कथाकार का कथा साहित्य पर इतना अधिक प्रभाव रहा है कि इन्हें परिपाटी मानकर इतिहासकार काल विभाजन करते हैं। एक लंबे समय से यथार्थ कथा साहित्य का अंग रहा है। इसकी शुरूआत प्रेमचंद जी से मानी जाती है। इसक्रम में कथा को प्रस्तुत करने का समाजवादी और व्यक्तिवादी दृष्टिकोण विकसित होता है और कालांनतर में कथा साहित्य के मार्क्सवादी और मनोविश्लेषणात्मक धारा का विकास होता है। इसके मूल्यांकन के लिए आलोचकों को निश्चय ही पृथक पद्धतियों का विकास करने की जरूरत पड़ी। जहाँ एकतरफ जैनेंद्र, इलाचंद्र जोशी और अज्ञेय जैसे रचनाकार हैं वहीं दूसरी तरफ यशपाल, भैरव प्रयाद गुप्त, और रांगेय राघव जैसे रचनाकारों की यथार्थवादी रचनाएं हैं।

यदि उस समय के समाज के ऊपर दृष्टिपात करें तो यह दिखाई देता है कि साम्राज्यवादी व्यवस्था के विरूद्ध लोगों की समझ निर्मित हो रही थी। इसकी वास्तविकता से तो वे बहुत पहले ही वाकिफ हो चुके थे, तत्कालीन समय में आर-पार की लड़ाई के लिए खड़े हो गये। इसके साथ ही अंग्रेजी शासन ने भी अपना क्रूर चेहरा दिखाना आरंभ कर दिया था। विभिन्न कूटनीतिक चालों की सहायता से अंग्रेज भारत को कई भागों में बांटने के साथ-साथ इनकी लड़ाई को कमजोर करने की कोशिश कर रहे थे।

1935-36 में प्रेमचंद और प्रसाद के साथ हिंदी कहानी का एक युग समाप्त हुआ लेकिन आने वाली नयी पीढ़ियों ने इनकी परंपरा को आगे बढ़ाया। अंतर्वस्तु, भाषा और शिल्प के स्तर पर जिस परंपरा की नींव कथा लेखन के प्रारंभिक दशकों में इन कालजयी रचनाकारों के द्वारा डाली गयी थी वह विकासशील हो चुकी थी। इस दशक की महत्वपूर्ण घटना यह थी कि मार्क्सवादी विचारधारा का प्रभाव विश्व भर के प्रगतिशील व्यक्तियों को आकर्षित कर रही थी। इसी क्रम भारतीय साहित्य पर भी इसका प्रभाव पड़ा और 1936 ई. में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुयी। गोपाल राय ने ऐसा माना है कि सज्जाद जहीर के

द्वारा संपादित कहानी-संग्रह अंगारे के प्रकाशन के साथ इस आंदोलन की शुरूआत हुयी है। लेकिन वास्तविकता यह नही हैं। एक लंबे समय से हिंदी और उर्दू साहित्य में तरक्कीपसंद रचनाकारों की अधिकता रही है जिन्होंने यथार्थवाद को अपने साहित्य का विषय बनाया। अपने सृजन के प्रारंभिक दौर में हिंदी और उर्दू एक भाषा के दो रूप होने का प्रमाण देती हैं, जिनकी लिपि में भिन्नता है। इसीलिए हिंदी के कई प्रारंभिक रचनाकार उर्दू को अपनी रचनात्मकता का माध्यम बनाते हैं।

भैरव प्रसाद गुप्त ने यथार्थवादी और मार्क्सवादी चेतना के तहत कथा लेखन आरंभ किया, जो इस क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण पहल थी। इन्होंने लगातार शहरी और ग्रामीण परिवेश की कहानियॉ लिखकर कथा साहित्य को समृद्ध किया। इनका रचनाकाल आजादी के बाद तक फैला हुआ है। सपने का अंत, सिविल लाइन का कमरा, फंदा, इंसान और मक्खियॉ, ऐसी आजादी रोज-रोज आदि उल्लेखनीय कहानियॉ हैं।

हिंदी साहित्य के तीसरे दशक में जैनेंद्र ने अपनी अलग पहचान तो बना ली थी लेकिन उनको ख्याति प्रेमचंदोत्तर युग में ही मिली। इस संदर्भ में गोपाल राय ने लिखा है कि- हिंदी कहानी में जैनेंद्र की पहचान जिन कहानियों से बनती है वे उनकी प्रेम संबंधी कहानीयॉ हैं। प्रेम व्यक्ति की सहज, स्वाभाविक मनोवृति है, पर आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक और मनोवैज्ञानिक आदि अनेक कारणों से वह मुक्त नही होता और बाहरी स्थितियों से उसका संघर्ष अपरिहार्य होता है। जैनेंद्र की कहानियों में यह संघर्ष अनेक रूपों में चित्रित हुआ है।[23]

अपनी प्रेम कहानियों के कारण हिंदी कथा साहित्य में अपनी अलग पहचान बनाने वाले जैनेंद्र पर दार्शनिक फ्रायड का गहरा असर दिखाई देता है। मनोविश्लेषणात्मक पद्धति का सहारा लेकर जैनेद्र ने कथा साहित्य की रचना की है लेकिन वे किसी बनी बनाई परिपाटी पर नहीं चलते हैं। व्यावहारिक मनोविज्ञान का सहारा लेकर इन्होंने पत्नी, पाजेब, जाह्नवी, ग्रामोफोन का रिकार्ड और एक गो जैसी कहानियॉ लिखी हैं। इनमें गहरी मानवीय संवेदना और वास्तविकता भी। साथ ही जैनेंद्र ने शिल्प के स्तर पर भी एक अलग पहचान बनाने में कामयाबी हासिल की। इन्होंने कहानी को घटना-वर्णन (किस्सागोई) के घेरे से निकाल कर चरित्र प्रधान कथा की रचना की।

इस युग के तीसरे प्रमुख रचनाकार अज्ञेय हैं। इनकी पद्धति मनोवैज्ञानिक होने के साथ -साथ जिस स्तर तक चिंतन की गहराई में उतरती है उतनी ही दार्शनिकता की उचॉई को भी प्राप्त करती है। इनकी पहली कहानी जिज्ञासा 1929 में लिखी गयी जो 1935 में प्रकाशित हुयी। 1931 से 1934 तक लगातार राजनैतिक सक्रियता के कारण अज्ञेय मुल्तान और दिल्ली के जेलों में बंद रहे और इसी कारावास के दौरान इन्होंने 18 कहानियॉ लिखी। अज्ञेय की कहानियॉ पाठक को अंदर तक प्रभावित करती हैं। जयदोल,

कोठरी की बात, रोज, परंपरा, द्रोही, विपथगा, शरणदाता, आदि कहानियॉ उनके गूढ़ दार्शनिक चिंतन, मनोविश्लेषणात्मक चित्रण और विद्रोही स्वभाव का परिचय देने में सक्षम है। इनकी कहानी गैंग्रीन में विवाह के पश्चात् एक औरत के जीवन में वाले परिवर्तन के फलस्वरूप उसकी मानसिकता में आया परिवर्तन चित्रित है। विवाह पूर्व के जीवन को भुला कर उसने अपने आप को इस तरह से गृहस्थ जीवन में ढाल लिया है कि उसे पहचान पाना मुश्किल है। लेखक ने बहुत ही बेहतर ढंग से उसकी परिस्थिति को उजागर किया है।

मार्क्सवादी और मनोविश्लेषणात्मक कहानीकारों के बीच कुछ कहानीकार ऐसे थे जो किसी परंपरा के वाहक नही थे वरन् अपनी स्वतंत्र राह चुन कर चल रहे थे। इन लेखकों में प्रमुख रूप से भगवती चरण वर्मा और उपेद्रनाथ अश्क का नाम आता है। उपेन्द्र नाथ अश्क 1930 से कथा साहित्य में अपनी रचनाशीलता को प्रदर्शित कर रहे थे। इनकी कहानियों में दुलो, मॉ, पाषाण, सभ्य- असभ्य, डाची, मरूस्थल आदि प्रमुख हैं। इनकी कहानियों के संदर्भ में गोपाल राय कहते हैं कि- अपनी कहानियों में अश्क ने मनोविज्ञान के उपयोग की अच्छी पहल की है, पर कई कहानियों में मनोवैज्ञानिक तत्व इतना अ-प्रभाविष्णु हो गया है कि अश्क को उसकी अलग से व्याख्या करनी पड़ी है और पाठकों-आलोचकों को उसे समझने में असमर्थ होने का फतवा देना पड़ा है। जाहिर है कि जहॉ ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है वहॉ लेखक की रचना शक्ति की कमजोरी भी अवश्य होती है। और अब तो समय ने सिद्ध कर दिया है कि पाठक आलोचक तो अपनी जगह पर दुरूस्त हैं, अश्क की संवेदना और मनोवैज्ञानिक अंतर्दृष्टि की कमजोरी ही उनकी कहानियों की असफलता के मूल में है।[24]

यह सत्य है कि अश्क के यहॉ मनोविज्ञान और संवेदना का सामंजस्य भली-भॉति नहीं किया गया है जिसके कारण वह पाठक पर आवश्यक असर नहीं दिखा पाता है। खैर कारण जो भी हो अश्क ने इस समयावधि में अपनी रचनाशीलता प्रदर्शित की है। इनके अतिरिक्त निराला, पंत और महादेवी ने भी इस युग में कथा साहित्य की रचना की जिसमें निराला की कहानियॉ काफी हद तक सामाजिक यथार्थ को दिखाने में समर्थ रही हैं। चतुरी-चमार, बिल्लेसुर बकरिहा आदि ऐसी कहानियॉ हैं जो दलित समाज की यथार्थवादी व्याख्या प्रस्तुत करती हैं ।ये कहानियॉ न केवल जाति से दलित वरन् अपनी खास प्रवृत्तियों के कारण उपेक्षा के शिकार लोगों के प्रति भी सहानुभूति प्रदर्शित करती दिखाई देती है।

1.5. स्वातंत्रयोत्तर हिंदी कहानी: (हिंदी कहानी का पांचवा दशक)

हिंदी कहानी के चौथे दशक के रचनाकार पांचवे दशक में भी सक्रिय रहे। इन रचनाकारों ने हिंदी कहानी

की गतिशीलता को बनाए रखने में रचनात्मक सहयोग प्रदान किया। यह समय भारतीय समाज के लिए बहुत ही उथल- पुथल का समय था। जहाँ एक तरफ स्वतंत्रता के लिए लड़ाई का विविध स्वरूप नज़र आ रहा था, वहीं दूसरी तरफ आंदोलनकारियों की विचारधारा में भी कई तरह के परिवर्तन दिखाई दे रहे थे। इसका स्पष्ट प्रभाव आम जनता पर भी दिखाई दे रहा था। उस समय के सांम्प्रादायिक दंगों तथा सत्ता की लालसा मन में पालने वाले राजनेताओं के कारण देश को विभाजन की त्रासदी से गुजरना पड़ा। यह घटना ना सिर्फ भारतीय इतिहास में वरन् विश्व के इतिहास में एक काले धब्बे की तरह है। जहाँ धर्म के नाम पर दो राष्ट्रों का निर्माण हुआ और आम जनता को विस्थापित होकर अजनबी शहरों में शरणार्थी की तरह रहना पड़ा। पांचवे दशक के उत्तरार्ध में स्वतंत्र भारत के निर्माण के सपने पल रहे थे। किन्तु 15 अगस्त 1947 को आजादी मिलने के साथ ही एक तरह से मोह भंग की स्थिति पैदा हुयी। जिस तरह की स्वतंत्रता की कल्पना जनता कर रही थी परिणाम उसके विपरित था। एक तरह के धार्मिक उन्माद की स्थिति पैदा हो गयी जिसके शिकार महात्मा गांधी हुए। 1949 में लगभग डेढ़ सौ सालों से गुलाम और हजारों सालों के राजतंत्रीय भारतीय समाज को स्वतंत्र, सम्प्रभु और धर्म निरपेक्ष राष्ट्र का दर्जा हासिल हुआ। सन् 1950 को 26 जनवरी के दिन भारत का संविधान लागू किया गया। कहने को तो बहुत से नियम-कानून को प्राथमिकता दी गयी लेकिन समाज अपनी रूढ़ि-ग्रस्त परंपराओं को नहीं छोड़ पाया था।

इन सब के बीच हिंदी कहानी के स्वरूप में भी लगातार परिवर्तन आता गया। 1947 में आजाद हुए भारत में कहानीकारों की जो नयी पीढ़ी तैयार हुयी उसने कहानी के वस्तु, शिल्प और संवेदना के स्तर पर व्यापक परिवर्तन उपस्थित किया। यह परिवर्तन समाज में आये बदलाव के परिणामस्वरूप हो पाया। आजादी के बाद से ही हिंदी कहानी में अनेक छोटे-बड़े आंदोलन चलते रहे जिसने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से साहित्य को समृद्ध किया। समय के साथ समाज में आये बदलाव का प्रभाव साहित्य पर पड़ता रहा और हिंदी कहानी लगातार उसके रंग में रंगती आगे बढ़ती रही। इस बीच नयी कहानी, सचेतन कहानी, अकहानी, सहज कहानी, सक्रिय कहानी, समानांतर कहानी, और जनवादी कहानी आदि के नाम से अनेक आंदोलन चलते रहे। इन आंदोलनों ने जहाँ एक तरफ कथा साहित्य को कलात्मक ऊचाँई प्रदान की वहीं दूसरी तरफ संकीर्णताओं और स्वार्थों के कारण इसे क्षति भी पहुचाँई।

आजादी के बाद समाज में आये परिवर्तन का प्रभाव साहित्य पर पड़ना लाज़िमी था। इस समय के नये कहानीकार कहानी के क्षेत्र में अपनी नवीन कल्पनाएं लेकर उभरे। इस आंदोलन की शुरूआत को यदि देखा जाए तो इसे समाजवादी दृष्टिकोण के साथ उभरना चाहिए था और ऐसा हुआ भी लेकिन कालांतर मे इसका स्वरूप बदल गया। समाज में फैला हुआ असंतोष, क्षोभ, आक्रोश की भावना को साहित्य में स्थान

मिलने लगा। इसका प्रमुख कारण यह था कि देश को मिली स्वतंत्रता के बाद लोगों की आकांक्षाओं और आशाओं पर पानी फिर गया था। यह वो आजादी नही थी जिसकी लोगों ने कल्पना की थी। इस समय कथाकारों की जो नयी पीढ़ी उभरकर सामने आती है वो समाज के मध्यवर्ग और निम्न मध्य वर्ग का हिस्सा थी। जाहिर सी बात है कि इस वर्ग की संवेदनाएं आकांक्षाए भिन्न होंगी। इस संदर्भ में गोपाल राय ने कहा है कि- उल्लेखनीय है कि देश की आबादी का 10 प्रतिशत हिस्सा होते हुए भी मध्यवर्ग हिंदी कहानी पर छाया हुआ है। इस दशक में ग्रामीण जीवन को अपनी कहानियों का हिस्सा बनाने वाले कहानीकारों की संख्या 10 प्रतिशत से अधिक नहीं है।[25]

लेकिन इस 10 प्रतिशत मध्यवर्गीय लेखकों और पाठकों ने कहानी लेखन की परंपरा में कई प्रकार के परिवर्तन किये। यह परिवर्तन संवेदना और रूप दोनों स्तरों पर दिखाई देती है। गाँव से शहर की तरफ पलायन का सिलसिला आजादी के बाद बहुत तेजी से बढ़ जाता है। जिसकी तरफ प्रेमचंद ने अपने उपन्यास गोदान में बहुत पहले ही गोबर के चरित्र के माध्यम से इशारा कर दिया था। जिस तरह की सामाजिक परिस्थितियों का उल्लेख प्रेमचंद 1936 के समाज को देखकर करते हैं कालांतर में वह और स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगती हैं। नई कहानी आंदोलन के प्रणेताओं ने इस परंपरा को आगे बढ़ाने की बजाए एक अलग तरह की संवेदना और उसको व्यक्त करने की अलग पद्धति विकसित की। जिसपर मध्यवर्गीय सोच का अत्यधिक प्रभाव दिखाई देता है।

1.6. विभिन्न कहानी आंदोलन (नयी कहानी आंदोलन) : (1950-60)

समाज का वह वर्ग जो पलायित होकर गाँव से शहर आता है वह नये परिवेश में सम्मान के साथ जीना चाहता है, लेकिन आर्थिक और सामाजिक विषमता इनकी इस आकांक्षा पर पानी फेर देती है। इस विषमता के विरोध में इस समय के रचनाकारों ने लगातार कलम चलायी। रचनाकार इन परिस्थितियों का विरोध कर के स्वस्थ और उन्नत समाज की स्थापना का आकांक्षी था। यही आकांक्षा उसकी कहानियों में विभिन्न रूप धारण कर के भर रही थी। राजेंद्र यादव, मोहन राकेश और कमलेश्वर आदि नये कहानीकार इसी नयी संवेदना को अपनी कहानियों के माध्यम से उभार रहे थे। आजादी के बाद देश के भीतर कई प्रकार के बदलाव आये थे। कई क्षेत्रों में सकारात्मक परिवर्तन आये और कई ऐसे क्षेत्र थे जिसके अंतर्गत स्वतंत्रता ने आपनी सीमा तय कर दी थी। इन विभिन्न प्रकार की विपरित परिस्थितियों में समाज में कलाकार का महत्व बढ़ जाता है। समस्या यह थी कि वह अपनी रचनाशीलता का विकास किस प्रकार करे। उसके सामने प्रश्न यह था कि अब वह कौन सी सामाजिक-सांस्कृतिक समस्याएँ होंगी जिन्हें वह अपनी

रचनात्मकता में बढ़ावा देगा। इस प्रसंग में डॉ. नामवर सिंह जी कहते हैं कि- साहित्यिक रूप की दृष्टि से कहानी स्वयं बहुत आधुनिक है। वह नवीनता के साथ उत्पन्न भी हुयी है। इसलिए सौ पचास वर्षों के इस इतिहास में कहानी के रूप में किसी मौलिक परिवर्तन की न तो संभावना है और न ही आवश्यकता।[26]

यदि देखा जाए तो कहानी का इतिहास बहुत छोटा है लेकिन फिर भी इतने समय में ही इस विधा ने अपने रूप को बहुत बदला है। इसका कारण यह है कि सामाजिक परिवर्तन की गति आधुनिक काल में बढ़ गयी है, जिसके कारण साहित्य, कला, संस्कृति में भी तेजी से परिवर्तन आने लगा है। फिर भी कहानी के कथ्य और उसको प्रस्तुत करने के तरीके में लगातार परिवर्तन होता दिखाई देता है। कथ्य और शिल्प के स्तर पर होने वाले यह परिवर्तन आलोचना के केंद्र में रहे हैं।

नयी कहानी आदोलन के अंतर्गत परिवेश की विश्वसनीयता और अनुभूति की प्रामाणिक अभिव्यक्ति पर बल दिया गया। यह आंदोलन अपने युग के यथार्थ से सीधे जुड़ी हुयी प्रतीत होती है। फणीश्वरनाथ रेणु, धर्मवीर भारती, मार्कंडेय, अमरकांत, भीष्म साहनी, कृष्णा सोबती, निर्मल वर्मा, मन्नू भंडारी, शानी, उषा प्रियंवदा, हरिशंकर परसाई, शैलेश मटियानी जैसे रचनाकारों ने नयी कहानी आंदोलन को अपनी रचनात्मकता से समृद्ध किया। भोगे हुए यथार्थ को आधार बना कर आरंभ हुए इस आंदोलन के कई ऐसे रचनाकार थे जिन्होने वास्तविक यथार्थ के साथ कई तरह के प्रयोग किये। नयी कहानी आंदोलन में जुड़ा हुआ नया शब्द कहीं ना कहीं नयी संवेदना, नयी दृष्टि और नये शिल्प रूप को प्रतिबिम्बित करता है जो कि साहित्य में दृष्टिगोचर होता है। इसके साथ ही लेखक एक नये तरह की विचारधारा को भी लेकर आता है जिसके माध्यम से वह समाज को देखता है। वह बदली हुयी दृष्टि समाज को कौन सी दिशा प्रदान करती है- यह विचार का विषय है।

स्वतंत्रता के बाद समाज में कई तरह के बदलाव आते हैं जैसे - परिवार के पारंपरिक ढांचे का टूट जाना, स्त्री- पुरूष संबंधों में परिवर्तन, विघटित होते हुए पारंपरिक जीवन मूल्य, समाज के दलित वर्ग को सम्मान से जीने का हक- इस नये सामाजिक संरचना की मूल प्रवृत्तियां थीं। डॉ नामवर सिंह ने निर्मल वर्मा कृत परिंदे कहानी को नयी कहानी आंदोलन की प्रतिनिधि रचना के रूप में उल्लेख किया है। नामवर सिंह का कहना है कि- इस कहानी में व्यक्ति चरित्र वही है, जीवन परिस्थितियां रोज की वही जानी पहचानी हैं, लेकिन निर्मल के हाथों वही स्थितियां इतिहास की विराट नियति बनकर खड़ी हो जाती हैं और उनके सम्मुख खड़ा व्यक्ति सहसा अपने को असाधारण रूप से अकेला पाता है और उसकी जबान से निकला हुआ एक मामूली सा वाक्य युग व्यापी प्रश्न बन जाता है।[27]

यह सत्य है कि यह कहानी एक युग प्रश्न की तरह प्रतीत होता है। यहाँ समाज की बदली हुयी परिस्थितियों

के सभी तत्व मौजूद हैं। निराशा, अजनबीपन, अकेलापन, जीवन की निर्रथकता और नियतिवाद को दिखाने के बावजूद कहानीकार एक आशावदी अंत की ओर अग्रसर है। लतिका चाह कर भी जूली का प्रेम-पत्र रख नहीं पाती है वह उसे वापस कर आती है। प्रेम जीवन का शाश्वत तत्व है जो चाह कर भी लतिका को नहीं मिलता। उसके चरित्र में एक तरह का भटकाव है। अपनी भावनाओं को स्थिर करने का वह लगातार प्रयास करती है लेकिन असफल होती है। रिश्तों की जरूरत को समझने के कारण ही वह जूली का पत्र वापस करती है। निर्मल वर्मा के विषय में शम्भूनाथ जी ने लिखा है कि- निर्मल वर्मा की कुछ ऐसी कहानियाँ भी हैं, जिसमे रिश्ते की गर्माहट का हल्का सा आभास झलकता है। सितंबर की एक शाम एक ऐसे आदमी के भटकन की कहानी है, जिसकी सूनी जिंदगी में उसकी बहन मानवीय संबंधों की बची आखिरी डोर है।[28] यह निर्मल वर्मा की विशेषता है कि तमाम निराशा के बावजूद वह आशा की आखिरी किरण जला कर जाते हैं- कुछ ऐसा है जो बाकि रह जाता है। यह संवेदना का अंतिम कण जीने की इच्छा को बाकी रखता है।

अमरकांत इस काल के एक प्रमुख कहानीकार बनकर उभरते हैं। इनकी कहानियों में निम्नवर्ग और मध्यवर्ग के मनुष्यों के जीवन का परिचय मिलता है। अपने जीवन के प्रारंभिक चरण में यह गाँधीवादी आंदोलन से जुड़े रहे जिसके कारण इनकी शिक्षा भी प्रभावित हुयी। वाद में यह लगातार साहित्य सृजन से जुड़े रहे। इनके विषय में गोपाल राय लिखते हैं कि- अमरकांत का कहानी संसार मुख्यतःनिम्नवर्ग और मध्यवर्ग के पात्रों, उनकी जीवन दशाओं और संवेदनाओं का संसार है। उनकी कहानियों में मध्यवर्ग अपनी समस्त भावजन्य पीड़ा, वैचारिक अंतर्विरोध, चरित्रिक विसंगतियों और नैतिक बोध की असंगति के साथ उपस्थित हुआ है।[29]

यह कथन कइ मामलों में व्यवस्थित है। अपनी कहानी डिप्टी कलेक्ट्री में अमरकांत ने एक बेरोजगार व्यक्ति और उसके पिता के दर्द को बहुत ही संजीदगी के साथ उभारा है। उन्हें इसकी पहचान है कि इस नयी समाज व्यवस्था के उपकरण तो आधुनिक हैं लेकिन इसके भीतर की क्रियाविधि के परिणाम भयंकर हैं। ऐसा लगातार देखने में आ रहा है कि हम जैसे-जैसे स्वयं को आधुनिक घोषित करते जा रहे हैं वैसे-वैसे समाज को पीछे की तरफ लेकर जा रहे हैं। नयी कहानी आंदोलन आधुनिकता की आड़ में विघटित होते हुए जीवन मूल्यों को ईमानदारी के साथ अभिव्यक्त करने का जोखिम उठाती है। महानगरीय, कस्बाई और ग्रामीण जीवन बोध, यथार्थ चित्रण, मध्यवर्गीय जीवन का मार्मिक चित्रण, सामाजिक और पारिवारिक संबंधों में आने वाले बिखराव की स्थिति का चित्रण नयी कहानी आंदोलन की विशेषता है।

मोहन राकेश ने मलबे का मालिक और मिस पॉल, भीष्म साहनी ने चीफ की दावत, उषा प्रियंवदा ने

मछलियाँ और वापसी और कमलेश्वर ने राजा निरबंसिया जैसी कहानियां लिखकर इस नए आंदोलन की प्रमुख प्रवृत्तियों को पाठकों के सामने रखा। फणीश्वर नाथ रेणु जैसे रचनाकार लाल पान की बेगम और रसप्रिया जैसी कहानियों को लिखकर उस समय के ग्रामीण समाज से परिचय कराते हुए प्रतीत होते हैं।

इन नये प्रकार के कथा आंदोलन ने आलोचना के लिए नई पद्धति को विकसित करने का रास्ता तैयार किया। इस समय की कहानियों में सूक्ष्म प्रतीक और बिम्ब, सांकेतिकता और प्रतीकात्मकता की अधिकता मिलती हैं, जिसके कारण एक नये आलोचनाशास्त्र को रचने की आवश्यकता महसूस की गयी। खैर, इस पूरे दौर में नयी कहानी का आंदोलन हिंदी कथा सहित्य के इतिहास की दिशा को बदल देता है। इस नयी प्रकार की संवेदना ने समाज के परिवर्तन में क्या भूमिका निभाई है यह गंभीर शोध का विषय है।

1.6.क. सचेतन कहानी (हिंदी कहानी का सातवां दशक)

सन् पचास के आस-पास नयी कहानी आंदोलन के बरक्स नये जीवन-मूल्य, नये जीवन-बोध और नये शिल्प और अनुभव संसार की प्रामाणिक अभिव्यक्ति का दावा करने वाले रचनाकारों ने जो संकल्प किया था वह धीरे-धीरे पुराना पड़ गया। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जो नये प्रकार की सामाजिक परिस्थितियां उत्पन्न हुयी थीं उनके समाप्त होने पर या कह सकते हैं कि पुराने पड़ जाने के कारण नयी कहानी आंदोलन निस्तेज होने लगी। यह समय ऐसा था जब सामाजिक सांस्कृतिक परिस्थितियों में जो अस्थिरता दिखाई देती हैं वह साहित्य में भी परिलक्षित होती है।

भारतीय इतिहास में आजादी के बाद 1961 का समय औद्योगिक विकास का समय माना जाता है। जब कृषि की तुलना में उद्योग को अधिक प्राथमिकता दी गयी। इसके बाद देश को लगातार दो युद्धों का सामना करना पड़ता है। 1965 में भारत-चीन युद्ध और 1971 में भारत पाकिस्तान का युद्ध जिसने भारतीय अर्थ व्यवस्था को गहराई से प्रभावित किया, जिसके परिणाम स्वरूप यह समय लगातार सामाजिक विक्षोभ और व्यापक जन आक्रोश का रहा है। आर्थिक विकास का नया फार्मुला सामाजिक वर्गो के बीच आर्थिक असमानता को बढ़ा रहा था, जिसके परिणाम स्वरूप तत्कालीन सरकार के प्रति जनता के बीच असंतोष बढ़ाता जा रहा था। इस संदर्भ में केवल गोस्वामी कहते हैं कि- यह मोहभंग का काल था। स्वतंत्रता संघर्ष के समय देखे गये सपने टूट गये थे। जीवन यापन कठिन होता जा रहा था। स्वार्थ की आंधी ने पारंपरिक नैतिक मूल्यों को जड़ से उखाड़ दिया था। जीवन यापन के लिए घर की स्त्री को घर से बाहर निकलना पड़ा। समाज का पुराना ढाँचा चरमरा गया। जटिल जीवन के साथ नये संबंधों का निर्माण हुआ। किन्तु गंतव्य स्पष्ट ना होने के कारण जिसके जहाँ सींघ समाये वो उधर को मुड़ गया।[30]

कई अर्थो में यह काल भटकाव का युग था जहाँ एकतरफ विपरित सामाजिक परिस्थितियाँ थीं और दूसरी तरफ समाज में फैले हुए विभिन्न प्रकार की विचारधाराओं का आंतक जिसके कारण इस युग के साहित्य में एकरूपता देखने को नहीं मिलती है। यदि ध्यान से देखा जाए तो साहित्य का अपने रचना क्षेत्र मध्यवर्ग तक सीमित हो जाने के कारण समाज और साहित्य के बीच दूरी बढ़ती हुयी प्रतीत होती है। निश्चित रूप से पाठक वर्ग मध्यवर्ग तक सीमित हो गया था। इस प्रकार के आंदोलनों ने वैचारिक स्तर पर हिंदी कहानी को कमजोर करने का काम किया। परंपरा से मिलने वाली प्रेमचंद की विरासत को नयी कहानी आंदोलन के बाद दिशाहीनता का शिकार होना पड़ा। इसीलिए इस तरह के तमाम छोटे-छोटे आंदोलन इस दशक में सिर उठाते रहे और कोई बड़ा आंदोलन गद्य के क्षेत्र में नहीं कर सके। फिर भी यह काल हिंदी कहानी में शिल्प के स्तर पर काफी प्रयोगात्मक रहा है। समाज की विसंगतियों को दिखाने के साथ-साथ बहुत ही कम कहानीकार ऐसे हैं जिन्होंने आशा की किरण को प्रतिभासित किया है।

नयी कहानी आंदोलन के बाद डॉ. महीप सिंह के नेतृत्व में यह आंदोलन चलाया गया। वास्तव में नयी कहानी की आत्मपरकता और रूपवादी प्रवृत्ति के विरोध में यह आंदोलन शुरू किया गया। सन् 1964 में महीप सिंह ने आधार पत्रिका का सचेतन कहानी विशेषांक निकाला। सचेतन कहानी सक्रिय भाव बोध की कहानी के रूप में देखी जाती है। इसके अंतर्गत सामान्य मनुष्य के द्वारा अपने अधिकारों और बेहतर जीवन यापन के लिए किये जाने वाले संघर्ष की कथा है। इस आंदोलन के प्रमुख रचनाकारों में मनहर चौहान, कुलदीप बग्गा, नरेन्द्र कोहली, वेदराही, श्रवण कुमार, योगेश गुप्त, राम दरश मिश्र, जगदीश चतुर्वेदी आदि हैं। इस आंदोलन की प्रमुख कहानियों में महीप सिंह का उजाले के उल्लू, स्वघात, जगदीश चतुर्वेदी की अधखिले गुलाब, मनहर चौहान की बीस सुबहों के बाद और सुरेन्द्र अरोड़ा की बर्फ का नाम लिया जा सकता है। सचेतन कहानी प्रमुख रूप से सक्रियता, आशा, आस्था और संघर्ष की प्रवृत्ति लेकर आगे बढ़ती है। किन्तु सचेतन कहानी का यह आंदोलन महीप सिंह की आधार पत्रिका के सचेतन विशेषांक के द्वारा प्रचिलित हुआ और इन प्रमुख लेखकों तक ही सीमित रह गया।

1.6.ख अकहानी -

हिंदी कहानी की दशा और दिशा 1960 के बाद राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य के बदलने के साथ लगातार बदलती गयी। नयी कहानी की संवेदना के भीतर इस बदली हुयी परिस्थिति का समावेश मुमकिन नहीं था जिसके कारण अनेक प्रकार के आंदोलन लगातार सिर उठाते रहे। इन्हीं में से एक अ-कहानी का आंदोलन भी था जो फ्रांस के एण्टी स्टोरी और अस्तित्ववादी चिंतक सार्त्र और कामू के विचार-दर्शन का प्रभाव था। अकहानी के कहानीकारों ने नकार या कह सकते हैं अस्वीकार का दर्शन स्वीकार किया। इसका

अर्थ यह था कि इन कहानीकारों ने कथा रचना और संवेदना के प्रचलित मानदण्डों का निषेध किया जिसके परिणाम स्वरूप कहानी में एक नये प्रकार की यथार्थ चेतना उभरकर सामने आती है। इन रचनाकारों ने मनुष्य की पीड़ा, कुण्ठा, व्यर्थताबोध, अजनबीपन, नगण्यताबोध, आदि का चित्रण करके अपनी यथार्थ चेतना को नये अर्थों में परिभाषित करने का प्रयास किया।

वास्तविकता यह थी कि नयी कहानी आंदोलन के प्रणेताओं ने स्वतंत्रता के बाद समाज में उत्पन्न मोहभंग की स्थिति को तो दर्शाया था लेकिन असके आगे का रास्ता तैयार करना भूल गये। इसका परिणाम यह हुआ कि साहित्य की निर्थकता को बढ़ावा मिला। इस संदर्भ में स्वयं प्रकाश जी लिखते हैं कि- अकहानी-सहज कहानी-एण्टी कहानी, सचेतन कहानी, एब्सर्ड कहानी और किसिम-किसिम के बोहेमियन गैर जिम्मेदारियों ने ना केवल कहानी के पाठक भगाए बल्कि इसे साहित्य के केंद्र से भी बहुत पीछे धकेल दिया।[31]

उपरोक्त कथन से स्पष्ट है कि इस प्रकार के आंदोलनों ने किस प्रकार कहानी के आंदोलन को कमजोर किया। इस प्रकार के आंदोलन को ना तो इतिहास से कुछ सीखने को मिला और ना ही भविष्य के प्रति अपनी जिम्मेदारी का एहसास हुआ। इसीलिए जिन परिस्थितियों में यह जन्म लेती हैं वही परिस्थितियाँ उसके पतन का कारण भी बन जाती हैं। खैर, इस समय के प्रमुख रचनाकारों में जगदीश चतुर्वेदी, श्रीकांत वर्मा, राजकमल चौधरी, प्रबोध कुमार, रवीन्द्र कालिया, ममता कालिया गंगाप्रसाद विमल आदि का नाम लिया जा सकता है। इन कहानीकारों ने कहानी के शिल्प में कुछ नये प्रयोग किये जिनको अनदेखा नहीं किया जा सकता है। इनमें कथा तत्व तो गायब है, घटनाएं और ब्यौरे भी सत्य नही हैं, लेकिन कहानी में सूक्ष्मता को बल मिला है। परिणामस्वरूप इस आंदोलन ने कहानी को लगातार जटिल बनाने की कोशिश की है।

1.6.ग. सहज कहानी :

जैसा कि ऊपर बताया गया है, इस दशक में चलने वाले कहानी के आंदोलन ने कहानी से आम आदनी के जीवन को नकारने का प्रयास किया जिसके परिणाम स्वरूप कहानी एक जटिल संरचना बनकर रह गयी। इसी असहजता के विरोध में अमृतराय ने सहज कहानी आंदोलन की शुरूआत की। इसका उद्देश्य कहानी को सहज बनाना या कह सकते हैं कि उसकी खोयी हुयी सहजता को वापस लाने का प्रयास था। सादगी के सौंदर्यशास्त्र को अपनी कहानियों में प्रत्यक्ष करने वाले महान कथाकार प्रेमचंद के सुपुत्र अमृतराय का सहज कहानी आंदोलन के माध्यम से कहानी की सहजता को फिर से वापस लाने का प्रयास करना लाजिमी था। यह आंदोलन कोई बड़ा रूप नहीं ले पाया लेकिन कहानी में सहजता को वापस लाने की वकालत को कम कर के नहीं आंका जा सकता है।

1.6.घ. हिंदी कहानी का आठवां दशक :हिंदी कथा साहित्य का आठवां दशक संवेदनात्मक रूप से इतना परिवर्तनशील है कि इसके कालविभाजन में भी कठिनाई उत्पन्न होती है। यह काल जन विक्षोभ का काल था। इंदिरा गांधी के प्रधानमंत्री बनने के साथ ही पूरे देश में जन आंदोलनो का एक दौर आरंभ हो जाता है। यह वही दौर था जब भारत की कम्युनिस्ट पार्टी का विभाजन होता है। सशस्त्र क्रांति की संवेदना के साथ वामपंथी धड़े सक्रिय थे लेकिन तत्कालीन परिस्थितियों के कारण संसदीय राजनीति में भी वामपंथी समूह हिस्सा ले रहा था। दूसरी तरफ औद्योगिक आंदोलन का नया रूप उभरकर सामने आया, जहाँ कर्मचारी अपनी मांगों को पूरा करने के लिए अपने मालिकों का घेराव कर देते थे। कुछ ही समय बाद यह तरीका शिक्षण संस्थानों के द्वारा भी अपनाया जाने लगा। कांग्रेस के भीतर भी कई तरह की वैचारिक विभेद की स्थिति पैदा हो गयी। मुख्य रूप से कांग्रेस वामपंथी और दक्षिणपंथी विचारधारा में विभाजित दिखाई देता है। इसी बीच इंदिरा गांधी ने लोकसभा भंग कर दी और एक वर्ष पूर्व ही चुनाव की घोषणा कर दी। 1970 के दौर में इंदिरा गॉधी ने भारतीय जनता के बीच विश्वास भरने की लगातार कोशिश की लेकिन यह प्रयास छद्म ही साबित हुआ। अपनी सरकार के प्रति जो अविश्वास लोगों में पैदा हो चुका था वही अविश्वास साहित्यकार में भी दिखाता पड़ता है जिसके कारण अकहानी जैसे आंदोलन शुरू होते हैं। इस समय की कहानियों में अंधकारमय जीवन की कल्पना दिखाई देती है। इस समय की कहानियों के केंद्र में देश की आम जनता लगातार गायब होती दिखाई देती है। यह आवश्यक हो गया था कि साहित्य के केंद्र में फिर से जनता को लेकर आया जाए। इस दशक में यह काम लगातार किया गया। इस संदर्भ में स्वय प्रकाश जी ने लिखा है कि- और दिलचस्प बात यह है कि अकहानी की निष्क्रियता और संवेदनशून्यता को झटककर कहानी को पुनः सक्रिय लोगों की जिंदा दास्तान बनाने की यह मुहिम सेठों की पत्रिका सारिका से शुरू हुयी। अक्टूबर 1974 में प्रकाशित सारिका का समानांतर कहानी विशेषांक इस आंदोलन का पहला घोषित दस्तावेज है। अपने वैचातिक ढीले ढालेपन, मध्यवर्गीय विभ्रमों और चिरंजन वाम जैसे गैरजुझारू आवेगों के बावजूद समानांतर ने देश भर के जनपक्षीय कहानीकारों को जोड़ने की ईमानदार तथा प्रभावी कोशिश की, दीगर भारतीय भाषाओं के लेखकों से दोस्ताना ताल्लुकात कायम किये और मराठी के दलित आंदोलन की तर्ज पर हिंदी में भी दलित लेखन का सूत्रपात किया।[32]

अर्थात इस काल ने हिंदी कहानी को हवा से जमीन पर फिरसे लाने की कोशिश की। समानांतर कहानी आंदोलन के अगुआ सारिका पत्रिका के संपादक कमलेश्वर थे। जहाँ एक तरफ कांग्रेस से मोहभंग की स्थिति में जयप्रकाश नारायण का आंदोलन सम्पूर्ण क्रांति का नारा दे रहा था वहीं दूसरी तरफ साहित्य में सारिका पत्रिका के समानांतर कहानी विशेषांक में कमलेश्वर ने मेरा पन्ना स्तम्भ के अंतर्गत इतिहास के नंगे हो

जाने, आम आदमी के दुविधा रहित होकर संघर्ष में सन्निद्ध हो जाने, जीने के तमाम साधनों और स्त्रोतो पर पर पूंजी का प्रभुत्त हो जाने और नंगे इतिहास के द्वारा हमारी निष्क्रियता का एहसास कराकर कलाकार को आम आदमी की पीड़ा और उसके संघर्ष को मुखरित करने का आह्वान किया।

इस युग की प्रमुख घटनाएं बांग्लादेश का उदय, नक्सलवादी आंदोलन और इमरजेंसी का लागू होना थी, लेकिन हिंदी कहानी से यह घटनाएं लगभग गायब हैं। 60-70 की कहानियाँ जहाँ निम्न मध्यवर्गीय समाज के छोटे- बड़े दुखों के बीच फंसकर रह गयी थीं उनकों यह याद दिला दिया की देश की 80 प्रतिशत जनता अभी रोजी- रोटी के लिए जमीन पर आश्रित है। यह सच उस समय सामने आता है जब नक्सलवादी आंदोलन का दौर शुरू होता है और इस अस्सी प्रतिशत आबादी के लिए सरकार की जिम्मेदारी में लगातार गिरावट रही थी। इस संदर्भ में गोपाल राय ने लिखा हे कि- कांग्रेस सरकार ने भूमि सुधार का कोई भी कार्यक्रम ईमानदारी के साथ लागू नही किया। सत्ता की कुर्सी पर उच्च वर्ग के लोग ही, वे चाहे राजनीतिकर्मी हों या नौकरशाह, विराजमान थे और उनका वर्ग हित भूमि सुधार के पक्ष में नहीं था। इस स्थिति में वर्ग संघर्ष अपरिहार्य था, जो राजनीति के क्षेत्र में दिखाई दिया।[33]

वास्तविकता यह थी कि इस समय आम जनता का सरकार पर से विश्वास उठ चुका था । वह लगातार विकल्प की तलाश कर रही थी । इसक्रम में समानांतर कहानी आंदोलन अपने पहले की परंपरा से सीख लेते हुए (जहाँ समाज से आम आदमी की समस्याएं गायब हैं) फिर से साहित्य को समाज के साथ जोड़ने की कोशिश करता है। इस दशक के बहुत से कहानीकार ऐसे हैं जो ना सिर्फ जन आंदोलनों से जुड़े रहे वरन् उसका चित्रण अपनी कहानियों में करते रहे हैं।

समानांतर कहानी आंदोलन के प्रणेताओं ने लगातार साहित्य और समाज के आपसी संबंधों को बदलने की कोशिश की। सारिका के समानांतर कहानी विशेषांक के रूप में विभिन्न भाषाओं के समानांतर कहानियों के विशेषांक निकाले गये। इसके अलावा इस विषय पर अनेक गोष्ठियाँ करवा के समानांतर कहानी आंदोलन को अखिल भारतीय स्वरूप देने की कोशिश की गयी। इस समय के प्रमुख रचनाकारों की रचनाओं में उस समय की विसंगतियों पर सूक्ष्मता के साथ दृष्टिपात किया गया है।

1.6.च. सक्रिय कहानी आंदोलन :

राकेश वत्स द्वारा सम्पादित पत्रिका 'मंच 70' से सक्रिय कहानी आंदोलन की शुरूआत मानी जाती है। इस आंदोलन में चित्रा मुद्गल, रमेश बत्रा, वीरेन्द्र मेंहदी रत्ता, स्वदेश दीपक आदि ने सहयोग दिया है। सक्रिय कहानी के भीतर समानांतर कहानी का ही नायक है जो केवल वैचारिक स्तर पर सक्रिय नही है वरन् व्यवहारिक स्तर पर भी मजबूती से खड़ा होता है। इस प्रकार इस आंदोलन ने अपने आप को समानांतर

कहानी से दो कदम आगे खड़ा किया। इस समय की कहानियों का संघर्ष सक्रिय और संगठित है।

सक्रिय कहानी के संघर्षरत पात्र जनपक्षधर मूल्यों के समर्थक हैं। शोषण से मुक्ति पाना उनके संघर्ष का चरम सुख बनकर उभरता है। यह कहानी आंदोलन बहुत कम समय में समाप्त हो गया लेकिन साहित्य में यदि कोई यथार्थ अपना स्थान खो दे तो यह आवश्यक नहीं है कि वह समाज से भी गायब हो जाए। यह कम समय का छोटा आंदोलन भी कहीं ना कहीं समाज के एक बड़े वर्ग की सच्चाई को व्यक्त करता है। इस दशक में लिखी इब्राहिम शरीफ की कहानी 'जमीन का आखिरी टुकड़ा' तेजी से भूमिहीन होते किसानों की तरफ इशारा करती है। जो कहानी प्रेमचंद ने गोदान के माध्यम से व्यक्त की थी, 50 वर्षों के बाद भी उसमें कोई अंतर नहीं आया। भारतीय किसान अगर होरी से भी बद्तर हालत में दिखाई देता है तो इसके कारणों की गहराई में जाने की जरूरत है।

तत्कालीन कांग्रेस सरकार की नीतियों के कारण ही लगातार भारतीय किसान इस प्रकार की दुर्दशा का शिकार हुआ। भूमि सुधार का कोई भी कानून इस प्रकार से लागू नही किया जा सका की उसका कोई भी लाभ किसानों को मिल सके। इसके अतिरिक्त इस कहानी में मजदूर आंदोलन की भी आहट सुनाई देती है। वहीं दूसरी तरफ अब्दुल बिस्मिल्लाह की कहानी अतिथि देवो भव भारतीय समाज में सदियों से पल रहे छूआ-छूत की भावना की तरफ इशारा करती है। यह भावना पहले तो सिर्फ हिन्दू उच्च और निम्न वर्ग की जातियों में थी लेकिन इस्लाम के आगमन के साथ इसका एक रूप हिंदू परिवारों में मुसलमानों के खिलाफ भी पनपने लगा था। इससे मुक्त होना कितना कठिन है- अतिथि देवो भव कहानी इसी दोहरी प्रक्रिया की तरफ इशारा करती है। इस्राइल के द्वारा लिखी हुयी कहानी फर्क उस समय विभिन्न विचारधाराओं के प्रभाव में पल रहे भारतीय समाज की तरफ ध्यान केंद्रित करती है। कांग्रेस से मोह भंग की स्थिति के फलस्वरूप संम्पूर्ण क्रांति का नारा देकर जयप्रकाश नारायण आंदोलन का अविर्भाव हुआ था। इस दौर में गाँधीवादी विचारकों, लोहियावादियों और जे.पी. आंदोलनकारियों के आपस के अंतर्विरोधों की तरफ इस्राइल की इस कहानी में इशारा किया गया है। यह दिखाने की कोशिश की गयी है कि जो कांग्रेस की सरकार वैचारिक रूप से कई खेमों में एक लंबे समय से बंट गयी थी वह बंटवारा अब समाज में भी साफ - साफ दिखाई दे रहा था।

इस समय कुछ ऐसे कहानीकार भी थे जो हाशिये के समाज पर अपनी दृष्टि केंद्रीत कर रहे थे। जिसमें जगदम्बा प्रसाद दीक्षित, ममता कालिया, सुधा अरोड़ा और अंन्नपूर्णा मंडल प्रमुख हैं। इन्होंने विभिन्न वर्गों की महिलाओं के दर्द को बयान किया है। ममता कलिया और सुधा अरोड़ा ने कई कहानियाँ औरतों को केंद्र में रखरक लिखी है जो सहानुभूति के साथ-साथ सहजानुभूति का भी एहसास कराती हैं। लेकिन बार-बार

यह प्रश्न उठता है कि यह दोनों ही कहानीकार क्यों मात्र मध्यवर्गीय औरत की कथा बताती हैं। इनकी कहानियों की संवेदना मध्यवर्गीय स्त्री के दर्द तक सीमित रह जाती है।

धीरेंद्र आस्थाना की कहानी पिता दो पीढ़ियों के बीच के गैप को दर्शाती है। कहानी का मुख्य पात्र अपने पिता के साथ वैचारिक असहमति के कारण घर को छोड़ कर चला जाता है। यह वो दौर था जब नक्सलवादी आंदोलन अपने चरम पर था। राहुल को अपना घर इस आंदोलन का समर्थन करने के कारण छोड़ना पड़ा था। उसके मन में अपने पिता की एक खराब याद रहती है। वह अपने बेटे के साथ ऐसा कुछ भी नही करना चाहता है लेकिन इतिहास फिर से अपने के दोहराता है। राहुल जब पिता बनता है तो वह भी अपने बेटे के साथ भी एक पीढ़ी का अंतर महसूस करता है। यह अंतर इतना बड़ा है जिसको चाह कर भी वह पाट नहीं सकता है। राहुल के लिए परिवर्तन का अर्थ था नक्सलबाड़ी आंदोलन का समर्थन और पुराने पड़ चुके रूढ़िवादी समाज का विरोध जबकि उसके गायक बेटे के लिए परिवर्तन आता है पॉप संगीत के उत्छृंखल माहौल में गाना गाकर। यह परिवर्तन केवल एक परिवार नहीं बल्कि एक समाज में बदलाव की सूचना देता है। यहाँ विचारधारा का कोई महत्व नहीं है और परिवर्तन का तात्पर्य मात्र बदलाव दिखाई देता है। यह कहानी एक जगह पर आकर मन्नू भंडारी की कहानी त्रिशंकु जैसी लगने लगती है। यह कहानी दो व्यक्तियों के बीच का अंतर बनकर नहीं बल्कि दो समाजों का अंतर बनकर मुखरित होती है।

नमिता सिंह की कहानी मिशन जंगल और गिनीपिग एक बड़े मानवतावादी प्रश्न को लेकर चलती है और साथ ही कई तरह के गहरे अर्थों को अपने में समेटे हुए है। पूंजीवादी युग ने मनुष्य के प्राकृतिक गुणों को किस प्रकार अपने प्रयोग की वस्तु बना लिया है, इस कहानी में इसपर चर्चा की गयी है। इसके अतिरिक्त इसके खतरे की तरफ भी इशारा किया गया है। यह शिल्प की दृष्टि से एक प्रयोगात्मक रचना है।

1.6.छ. जनवादी कहानी : (हिंदी कहानी का नवां दशक)

हिंदी साहित्य में जनवादी लेखक संघ की स्थापना के साथ जनवादी लेखन को तीव्रता प्राप्त हुयी। सन् 1982 में दिल्ली में जनवादी लेखक संघ की स्थापना हुयी और राष्ट्रीय अधिवेशन भी हुआ। जब भी हिंदी साहित्य में जनवादी लेखन की बात की जाती है तो इसकी शुरूआत को जनवादी लेखक संघ की स्थापना के साथ जोड़कर देखा जाता है। वास्तविकता यह है कि जनवाद की पक्षधरता रखने वाले लेखक हर युग में मौजूद थे। इनकी एक लंबी परंपरा हमें हिंदी कहानी के विकास में दिखाई देती है। इसकी भूमि को तैयार करने में प्रेमचंद, यशपाल, रांगेय राघव, भैरव प्रसाद गुप्त, मार्कण्डेय, भीष्म साहनी, अमरकांत, शेखर जोशी, आदि लेखकों का योगदान है। आम आदमी के पक्ष में इन्होंने जो लेखनी चलाई और समानांतर कहानी आंदोलन जिस तरह साहित्य को फिर से आम आदमी के साथ जोड़ने की कोशिश की, उसने

जनवादी कहानी के विकास का रास्ता तैयार किया।

यदि हम सांतवे दशक की परिस्थितियों पर गौर करें तो पाएंगे कि यह नेहरू युग से मोह भंग का समय था। भारत पाकिस्तान युद्ध, अन्न की काला बाजारी, मुनाफाखोरी, भ्रष्टाचार, साम्प्रदायिकता का उभार आदि ऐसी घटनाएं हैं जिससे हिंदी कहानी गहरे अर्थों में प्रभावित दिखाई देती है। सामाजिक और राजनैतिक स्तर पर यह विरोध नक्सलवादी आंदोलन के आरंभ होने पर दिखाई देता है। इस संदर्भ में लीलाधर मंडलोई जी कहते हैं कि- कहानियों में की तहों को भेद कर पता चलता है कि उसमें विस्थापन, आतंकवाद, पृथकतावादी चेतना, जाति वर्ग संघर्ष, पारिवारिक विघटन, लोकतंत्रीय क्षरण के भी गहरे संकेत विन्यस्त हैं। इन्हीं प्रभावों के बीच हमें कहानी में नागरिक दायित्व से लैस आदमी के दर्शन होते हैं। साथ ही उसके भीतर के स्खलन भी। कहानीकारों ने क्रांतिकारिता को दरकिनार कर के सामाजिक अंतर्विरोधों की गहरी पड़ताल के साथ यथार्थ की परतों में तरने का काम किया। उन्होंने अपने समय के सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक स्थितियों की समीक्षा की और जीवन की जटिलता को पहचाना।[34]

जनवादी कहानी आंदोलन की पृष्ठभूमि को समानांतर कहानी आंदोलन ने पहले ही तैयार कर रखा था। जिसके प्रयासों ने कहानी के केंद्र में समाज को लाकर खड़ा कर दिया। जनवादी कहानी भी अपनी मूलप्रवृत्ति में सामान्य जनता के संघर्ष की पक्षधर है। वह पूंजीवाद की विसंगतियों को अपनी कहानियों में दिखाती है। इसक्रम में ये कहानीकार आर्थिक असमानता के विरोध में अपनी कलम चलाते हैं और समाज की मेहनतकश जनता को एकजुट करने की कोशिश करते हैं। जनसाधारण से जुड़े होने के कारण इन कहानियों की भाषा सहज और सरल तथा साधारण शिल्प को महत्व देती है। किसी भी प्रकार का चमत्कार किये बगैर यह कहानी आंदोलन साधारण शिल्प में सामान्य जन की कथा कहने का प्रयास करती है।

जनवादी कहानी से अपनी रचनात्मकता की गति देने वाले रचनाकारों में रमेश उपाध्याय, रमेश बत्रा, स्वयं प्रकाश, अरूण प्रकाश, असगर वजाहत, संजीव, उदय प्रकाश, हेतु भारद्वाज, नमिता सिंह, राजेश जोशी, अखिलेश आदि का नाम उल्लेखनीय है। इन सभी रचनाकारों ने अपनी-अपनी रचनात्मक सीमा में रहते हुए कहानियाँ कही हैं। उस समय की सामाजिक परिस्थितियों के बीच जब समाज को जनवादी साहित्य की आवश्यकता सबसे अधिक थी, इन साहित्यकारों ने अपनी कलम आम आदमी के पक्ष में चलाने का कार्य किया। इस संदर्भ में लीलाधर मंडलोई जी कहते हैं कि- चूंकि इस दौर में कोई राजनैतिक आंदोलन न था और न ही संघर्ष का कोई ब्लू प्रिंट, इस दृष्टि से यह समय जटिल था। बाजार अपना पांव बढ़ा रहा था। बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ अपना खतरनाक जाल फैला रही थी और शेयर मार्केट विश्व पूंजी और कार्पोरेट

घरानों का बंधक हुआ जा रहा था, तब ऐसे में कहानी के सामने अनेक चुनौतियाँ दस्तक दे रही थीं। इन्हीं सब उपस्थित आगत और दबावों के बीच आठवें दशक की कहानियों को अपना रास्ता बनाना था।[35]

यह सत्य है कि उस समय की चुनौतियों को देखते हुए कहानी ने अपने उत्तरदायित्व को खूबसूरती से निभाया। तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों को उसके ऐतिहासिक संदर्भों के साथ जोड़कर देखने की कला जो कि शुद्ध मार्क्सवादी पद्धति है, उसे स्थापित किया। इसतरह इन रचनाकारों ने हिंदी कहानी को नयी पहचान देने की कोशिश की।

1.7. समकालीन हिंदी कहानी :

समकालीन हिंदी कहानी का तात्पर्य ऐसी कहानियों से है जो आज की परिस्थितियों से साक्षात्कार करती हैं। ऐसी कहानी जो बिना किसी लाग लपेट के अपने समय के सच को पूरे यथार्थ के साथ प्रदर्शित कर रही है। भारतीय समाज के इतिहास में काम करने वाली विभिन्न शक्तियाँ कभी भी बहुत सीधी और सरल नहीं थीं। हिंदी कहानी का रूप 20वीं शताब्दी में अत्यधिक परिवर्तित दिखाई देता है। यह वो समय था जब कई प्रकार की जटिल सामाजिक शक्तियों ने अपना क्रूर और जटिल चेहरा बना रखा था। इस दौर में भूमंडलीकरण, निजीकरण और भगवाकरण की नीतियों के द्वारा सरकार ने आम जनता पर शोषण का जो कहर ढाया है वह देखने योग्य है। इस कठिन समय में कई प्रकार की भयानक सच्चाईयाँ हमारे सामने आयी जिसका सामना समकालीन कथा रचनाकार को करना पड़ा। इस संदर्भ में उमाशंकर चौधरी ने श्रेष्ठ हिंदी कहानियाँ की भूमिका में कहा है कि- 1991 मे शुरू हुए उदारीकरण को कहीं ना कहीं मंडल कमीशन की रिपोर्ट से जोड़कर देखा गया है, उसी का परिणाम या उसी की प्रतिक्रिया समझा गया है। वहीं मंडल के बाद कमंडल आया यानी 6 दिसम्बर 1992 में हुआ बाबरी मस्जिद का विध्वंस। इन तीन घटनाओं ने आधुनिक भारतीय इतिहास की तस्वीर को बदल कर रख दिया। कालांतर में इन तीनों घटनाओं के प्रभाव ने एक नये भारत को जन्म दिया। प्रथमदृष्टया यह लग सकता है कि साहित्य के इस दशक में इन्हीं घटनाओं की प्रतिक्रिया या प्रभाव का दबदबा होगा। और साहित्य इन्हीं घटनाओ की प्रतिक्रिया से अटा पड़ा होगा लेकिन ऐसा नही है। [36]

इससे यह स्पष्ट है कि इस समय के साहित्य ने अपने वर्तमान की सीमा को पार कर के आने वाले भविष्य की विसंगतियों की कल्पना की। साहित्य के साथ तो यह है ही कि वह इतिहास से सीख लेते हुए वर्तमान और भविष्य की कल्पना करता है। यह कथा साहित्य का इतिहास रहा है। ऐसे क्रूर और अनिश्चित समय में युवा रचनाकार के कंधो पर रचनात्मकता का जो बोझ डालने की कोशिश की गयी उसके परिणाम स्वरूप

वह अपनी कहानियों को प्रतीक, बिंब, रूपक और अन्योक्ति की तरफ मोड़ने की कोशिश करता है। यथार्थ के इस बदले हुए स्वरूप ने रचनाकार को कई रूपों से प्रभावित किया, जिसके कारण कहानियों का भी स्वरूप लगातार बदलता गया।

खैर, इस समय की कहानियों और कहानीकारों को शिखर पर पहुँचाने वाले कारकों में पत्रिकाओं की महत्वपूर्ण भूमिका थी। इन पत्रिकाओं में प्रमुख रूप से हंस का महत्वपूर्ण योगदान है। इसका पुनर्प्रकाशन राजेन्द्र यादव के संपादन में 1985 में शुरू हुआ। इस युग के प्रमुख रचनाकारों की रचनात्मकता को प्रदर्शित करने की आधारभूमि हंस ने ही प्रदान की। इस युग के प्रमुख रचनाकार उदय प्रकाश, संजीव, अखिलेश, हरिभटनागर आदि को साहित्य जगत में प्रतिष्ठित करने का कार्य हंस ने किया।

इन सब के अतिरिक्त इस दौर में दलित विमर्श और स्त्री विमर्श जैसे कई ऐसे अस्मितावादी विमर्श उभरकर आते हैं। मंडल कमीशन के बाद समाज के दलित वर्गों में निसंदेह रूप से रोजगार की संभावना बढ़ी जिसने इस वर्ग में आत्मविश्वास जगाया। शिक्षा के संबंध में यह वर्ग अभी भी पिछड़ा हुआ था। दूसरी तरफ, औरतों के लिए भी इस खास तरह की सामाजिक व्यवस्था ने साहित्यिक जगत में स्थान निर्मित किया। इस समय साहित्य जगत में मुख्य रूप से मध्यवर्गीय औरत की समस्याएँ साहित्य में उभरकर आती हैं। बहरहाल स्त्री ने साहित्य जगत में दस्तक तो कुछ दशक पहले दे दी थी लेकिन इस समय उसने एक मुक्कमल स्थान पा लिया था। इसप्रकार हिंदी साहित्य में अस्मितावादी विमर्श की शुरूआत करने में हंस पत्रिका ने बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। ओमप्रकाश वाल्मिकी, श्यौराज सिंह बेचैन, शरण कुमार लिंबाले और प्रह्लाद चंद दास ने जहाँ एक तरफ दलित साहित्य में अपना स्थान बनाया वहीं दूसरी तरफ मैत्रेयी पुष्पा, अनामिक, चित्रा मुद्गल, गीतांजली श्री आदि ने स्त्री साहित्य के क्षेत्र में अपना स्थान बनाया।

समकालीन हिंदी कहानी में पिछले कहानी आंदोलनों से जुड़े लोगों के अलावा अनेक नये कहानीकार भी सक्रिय हुए। समकालीन हिन्दी कहानी के प्रमुख हस्ताक्षर के रूप में संजय (कॉमरेज का कोट, भगवत्त दत्त का कोट), उदय प्रकाश (दरियाई घोड़ा, तिरिछ और अंत में प्रार्थना), ज्ञान प्रकाश विवेक (जोजफ चला गया, मुंडेर, कमीज), अब्दुल बिस्मिल्लाह (रैन बसेरा, अतिथि देवो भवः), स्वयं प्रकाश (मात्रा और भार, सूरज कब निकलेगा), रमेश उपाध्याय (नदी के साथ, जमी हुयी झील), शिवमूर्ति (कसाईबाड़ा, तिरिया चरित्र) आदि का नाम लिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त समकालीन कहानियों में महिला लेखिकाओं की भी प्रमुख भूमिका है। दीप्ति खंडेलवाल, निरूपमा सेवती के साथ-साथ मृणाल पांडेय, मृदुला गर्ग, चित्रा मुद्गल, राजी सेठ, मंजुल भगत, सुधा अरोड़ा, प्रभा खेतान के भी नाम उल्लेखनीय हैं। इन सब के साथ समकालीन कहानी के एक ऐसे रूप का यथार्थ सामने आता है जो वैचारिक जकड़बंदी से मुक्त है। आज का

कहानीकार अपने समय के विस्तृत यथार्थ को पूरी विविधता के साथ चित्रित करने में लगा हुआ है।

हिंदी कहानी के सौ सालों के इतिहास में एक विधा के रूप में जितने भी परिवर्तन की संभावना हो सकती है वह अभी भी बाकी है और इस संदर्भ में आने वाले परिवर्तन के संदर्भ में हो चुके प्रयोगों का उल्लेख किया जा चुका है। जहाँ तक समकालीन कहानी का प्रश्न है, अस्मितावादी विमर्शों और हाशिये के साहित्य की बात प्रमुख है। इसके उल्लेख के बिना समकालीन कहानी की उपलब्धियों पर विचार नहीं किया जा सकता।

1.7. समकालीन हिंदी कहानी (दलित साहित्य लेखन) :

वर्तमान समय में जब बौद्धिको का एक खेमा लगातार इतिहास के अंत की घोषणा करता जा रहा है, समाज के लिए इतिहास की आवश्यकता और गंभीर हुयी है। वास्तविकता यह है कि मनुष्य इतिहास के बिना जिंदा ही नही रह सकता है। वह समाज से स्वयं को तभी जुड़ा हुआ महसूस करता है जब इतिहास के साथ उसे अपनापन महसूस हो। इतिहास ना सिर्फ अतीत के साथ हमारी निजता की पहचान कराता है बल्कि बेहतर भविष्य के निर्माण में सहायता भी करता है। विडंबना यह है कि आज भी हमारे अतीत को बेहतर तरीके से इतिहास में दर्ज नहीं किया गया है। एक लंबे समय से स्त्री, दलित और आदिवासी इतिहास से गायब रहे हैं। उनकी भाषा, सभ्यता और संस्कृति को इतिहास से अलग रखा गया है। पिछले 15 वर्षों में इस क्षेत्र में काफी काम हो रहा है जो बहुत ही आवश्यक था।

इस क्रम में दलित साहित्य लेखन, स्त्री लेखन और आदिवासी साहित्य प्रकाश में आया। इस संदर्भ में लाल बहादुर वर्मा जी कहते हैं कि- 'बच्चे तो इतिहास का हिस्सा होते ही नहीं हैं- उनमे बचपना जो होता है और इतिहास तो वयस्क 'गंभीर' लोगों से सरोकार रखता है। इसी तरह किसी गुलाम, किसान या मजदूर का जिक्र तब आता है जब वह स्पार्टकस या बिरसामुंडा या पावेल हो जाए। उनका जिक्र हो जाए तो उन्हें प्रस्तुत करने का नजरिया उनका अपना नहीं होता है - उन्हें लेखक अपने ढंग से मूल्यांकन करके पेश करता है। इसलिए इतिहास में नारी या दलित का नजरिया नहीं होता है- यानी बहुमत का नजरिया नहीं होता है। ऐसे में यदि दलित इस इतिहास को नकारे तो अपना ही नही इतिहास का भी भला करेगा।'[37]

इतिहास के इस नकार की प्रक्रिया ने कई ज्वलंत प्रश्नों को खड़ा किया। दलित कौन है...दलित साहित्य का क्या अर्थ है...दलित ही दलित की पीड़ा को समझ सकता है...दलित साहित्य के सौंदर्यशास्त्र का प्रश्न आदि। इन सब प्रश्नों के प्रकाश में यदि इतिहास पर नज़र डाली जाए तो यह पता चलता है कि कुछ ऐसे तत्व हैं जिनको इतिहास चाह कर भी अपने से अलग नही कर सकता है। इन्हीं दबे-छुपे तत्वों का सहारा लेकर

बाद के साहित्यकारों ने हाशिए के साहित्य की रचना की है। कालांतर में यह साहित्य और इतिहास का केंद्रीय बिंदु बनकर उभरता है, जिसकी सहायता से इतिहास के दलित और स्त्री नजरिये को विकसित करने में सहायता मिली।

साहित्य के इतिहास के विभिन्न चरणों में दलित साहित्यकारों ने अपनी उपस्थिति दर्ज कराई है। भक्ति आंदोलन को इसीलिए जागरण काल भी कहा जाता है क्योंकि यह वह समय था जब ना सिर्फ लोक बोलियों को साहित्य की भाषा के रूप में दर्जा मिला बल्कि समाज के हाशिये के लोगों ने साहित्यिक रचनाशीलता में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। विडंबना इस बात की है कि इतिहासकारों ने इन्हें हमेशा ही हाशिये पर रखा। यदि राष्ट्रीय आंदोलन की बात की जाए तो यह एक ऐसा दौर था जब समाज के हर वर्ग के लोग राष्ट्रीय आंदोलन में सहभागी बन रहे थे। इस क्रम में ज्योतिबा फूले, डॉ. भीमराव आदि के नेतृत्व में दलित जाति के लोगों में भी चेतना का विकास हुआ। इन विद्वानों ने समाज में जाति के आधार पर होने वाले शोषण के खिलाफ आवाज उठाई। यह एक सामाजिक और सांस्कृतिक समानता प्राप्त करने का आंदोलन था जिसे सिर्फ आर्थिक समानता के आधार पर दूर नहीं किया जा सकता है। यदि साहित्य के इतिहास की बात की जाए तो यहाँ पर भी लगातार साहित्यकार और इतिहासकार ब्राहमणवादी सोच से ग्रसित नज़र आते हैं। इसीलिए दलित साहित्यकारों ने इस साहित्य के लिए अलग सौंदर्यशास्त्र रचने की मांग की।

अब प्रश्न यह है कि इस तरह का असंतोष क्यों पैदा होता है। क्यों सभी दलित साहित्यकार दलित साहित्य के लिए अलग सौंदर्यशास्त्र की मांग करने लगे। इसका कारण यह है कि मुख्यधारा के साहित्यकारों, आलोचकों और इतिहासकारों ने लगातार दलित रचनाकारों को अनदेखा किया है। अब यह जो नया सौंदर्यशास्त्र है, यह कितना कारगर है, इसकी जांच साहित्य के माध्यम से की जा सकती है।

साहित्य की यथार्थवादी धारा का विकास हिंदी साहित्य में और साथ ही संपूर्ण भारतीय साहित्य में राष्ट्रीय आंदोलन के और समाजवादी और मार्क्सवादी विचारधारा के विकास के फलस्वरूप हुआ। सहित्य की इस धारा के अंतर्गत यह माना जाता है कि कला और साहित्य के अंतर्गत कलाकार यथार्थ को प्रदर्शित करता है। प्राचीन काल से यथार्थ साहित्य के केंद्र में रहा है। यथार्थवादी रचनाकार अपने बाहर की दुनिया को लगातार परिवर्तनशील दिखाता है। इस संदर्भ में शिव कुमार मिश्र ने कहा है कि- 'यथार्थवाद निश्चित रूप से सत्य के प्रति उत्कट आग्रह रखता है। वास्तविकता का सत्य चित्रण उसकी आधारभूत विशेषता है। वह तथ्यों का भी आग्रही है। किन्तु सत्य का, वास्तविकता के सत्य चित्रण का तथा तथ्यों के प्रति आग्रह का यह अर्थ कदापि नहीं है कि कृति के निर्माण में चिंतन तथा कला के धरातल पर यथार्थवादी रचनाकार की

अपनी कोई सक्रियता नहीं होती।[38]

इसप्रकार यथार्थवादी रचनाकार तथ्यों का उपयोग करके अपनी रचनाशीलता के माध्यम से उसे समाज के सामने प्रस्तुत करता है। इस क्रम में वह समाज में हो रही घटनाओं के साथ-साथ जो हो सकता है उसे भी प्रदर्शित करता है। अर्थात संभावित सत्य को प्रदर्शित करता है। इन सब के प्रकाश में यदि हम दलित साहित्य का विश्लेषण करें तो यह कह सकते हैं कि समाज के शोषितों और पीड़ितों द्वारा रचित यह साहित्य एक सामाजिक सत्य को प्रदर्शित करता है। कुछ जातियों के लोगों को लगातार उत्पीड़ित किया गया है। ये जातियाँ न केवल आर्थिक आधार पर वरन् सामाजिक आधार पर भी पिछड़ी मानी जाती हैं। इनका शोषण वर्ग के आधार पर नहीं वरन् एक खास तरह की जाति में पैदा होने के कारण होता है। किन्तु वर्गीय शोषण को भी ध्यान में रखते हुए कई दलित चिंतकों ने दलित साहित्य और मार्क्सवाद को जोड़ने की कोशिश की है। इसके लिए लगातार मार्क्सवाद और अंबेडकरवाद के बीच समन्वय की आवश्यकता महसूस की गयी है। इस संदर्भ में शरणकुमार लिंबाले ने कहा है कि- वे ऐसा भौतिक विचार नहीं रखते हैं कि हम गरीब हैं इसलिए अछूत हैं, यह सत्य नहीं है। वे कहते हैं कि हम अछूत है इसलिए गरीब हैं- यह सत्य है। लेकिन हम गरीब है इसलिए अछूत हैं, इस तर्क से तो भारत के सभी गरीब अछूत सिद्ध हुए होते, पर वैसे नहीं है। हमारी छूआछूत का मूल गरीबी में ना होकर हमारी गरीबी का मूल छूआछूत में हैं। ठीक वैसे ही हमारी छूआछूत का मूल आज के वास्तव में नहीं, वह तो यहाँ के इतिहास और धर्म में हैं।[39]

इस प्रकार उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि भारतीय समाज में दलितों का दोहरा शोषण होता है। और यदि साहित्य को समाज का दर्पण मानें तो इस दोहरे शोषण का चित्रण साहित्य में होना चाहिए। दलित साहित्य ने यह काम किया है, उसने आर्थिक शोषण के साथ सांमाजिक शोषण को भी प्राथमिकता दी है। अब प्रश्न यह उठता है कि वह इस काम में कितने सफल हो पाये हैं। इसके लिए दलित साहित्य पर चर्चा करना आवश्यक है। इस परंपरा में शरणकुमार लिंबाले, ओमप्रकाश वाल्मिकी, मोहनदास नैमिशराय आदि रचनाकार आते हैं। इसके साथ ही कुछ ऐसे रचनाकार हैं जो जाति से तो दलित नहीं हैं किंतु उन्होंने दलित जाति पर अपनी कलम चलाई है जैसे निराला, प्रेमचंद, कमलेश्वर आदि।

सहानुभूति और सहजानुभूति के प्रश्न पर विचार करें तो हम देखेंगे कि इसका सीधा संबंध अनुभूति और रचनात्मकता के साथ है। यह दोनों शब्द हाशिये के साहित्य पर आलोचनात्मक लेखन के साथ प्रकाश में आये। दलित और गैर दलित लेखकों के संदर्भ में- भोगे और महसूसे गये यथार्थ का प्रश्न। इस क्रम में शरणकुमार लिंबाले का कहानी संग्रह **छूआछूत** की चर्चा की जाए तो समझने में आसानी होगी। इस संग्रह की लगभग सभी कहानियाँ दलित पात्रों को केंद्र में रखकर लिखी गयी हैं। लगातार इतिहास पर प्रश्न खड़ा

करने वाली यह कहानियॉ समाजिक व्यवस्था पर कटाक्ष करती हैं। हरिजन नामक कहानी की बात की जाए तो यह एक जाति के दलित शिक्षक पर केंद्रीत है। जो एक उच्च जाति के शिक्षक के स्थान पर आता है लेकिन गॉव के लोग उससे पढ़ने से मना कर देते हैं। यह कहानी एक साथ कई तरह की कुप्रथाओं पर दृष्टिपात करती है। कहानी का यह वाक्य- हरिजन मास्टर चुपचाप बैठे हुए थे। जैसे कोई उन्हें पकड़कर ले आया हो। बहुत बेचारे लग रहे थे। इतनी बेचारगी से भरा मास्टर हमें क्या डांटेगा? मास्टर ज्यादा बोलते नहीं थे। लेकिन कोंड्या को बड़ी खुशी हुयी थी। अपनी जाति का मास्टर अपने गॉव में आ गया, इस बात का उसे बड़ा आनंद था।...मास्टर ने कोंड्या की तरह जोहार कर दिया।...लिंगायत ब्राहमणों के लड़के उसके मताहत कैसे पढ़ेगें?[40]

उपरोक्त पंक्तियॉ एक साथ अनेक प्रश्न खड़ा करती हैं। वह सामाजिक व्यवस्था जिसने शोषण का ऐसा जाल बिछाया जिससे एक जाति विशेष के लोगों ने अपनी जुबान खो दी, उस व्यवस्था की आलोचना साहित्य का पहला काम है और इस कहानी में यही किया गया है। इसतरह की कई कहानियॉ इस संग्रह में हैं जिसमें जोहार, क्रांतिपर्व, टक्कर, रोटी आदि प्रमुख हैं।

यदि यथार्थवादी दृष्टि से इन कहानियों का विश्लेषण किया जाए तो अनेक तत्व उभरकर आते हैं। यथार्थवादी पद्धति के अंतर्गत यह माना जाता है कि रचनाकार समाज के भविष्य को भी देखता है। वह केवल समाज की आलोचना नहीं करता बल्कि समस्या के निवारण का भी रास्ता दिखाता है। आलोचनात्मक यथार्थवाद और समाजवादी यथार्थवाद का यही अंतर है। जब रचनाकार एकतरफ होकर नहीं वरन् वस्तुओं को उसकी द्वंदात्मकता में देखता है, तभी वह समाजवादी यथार्थवाद का मार्ग प्रशस्त कर सकता है।

यदि लिंबाले की कहानी **क्रांतिपर्व** की बात की जाए, तो कहानी का नायक त्रिमुख कहानी के अंत में अपनी मॉ की हड्डियॉ बेचकर जो धन प्राप्त होता है उससे डॉ. भीमराव अंबेडकर की मूर्ति स्थापित करने के लिए जमा कर देता है। कहानी के इस तरह के अंत पर यदि दृष्टिपात करें तो यह एक तरह की खीज पैदा करता है। यदि हिंदू देवी-देवताओं की पूजा करना गलत है तो डॉ. अंबेडकर की मूर्ति लगवाना भी एक तरह से उसी परंपरा का अंग बनना ही हुआ है। यदि हिंदू धर्म द्वारा निर्मित जाति प्रथा का विरोध किया जाता है तो मूर्ति पूजा का भी विरोध करना चाहिए। क्योंकि केवल मूर्ति लगवाने से विकास नहीं हो सकता है।

इस संग्रह की अधिकतर कहानियॉ आलोचनात्मक यथार्थवादी कहानियॉ हैं। जो केवल आलोचना करती हैं समस्या का समाधान नहीं करती है। वास्तविकता यह है कि रचनाकार इतिहास की समझ ना होने पर

भटक जाता है। इतिहास से सीख लेना और उसमें हुयी गलतियों को नहीं दोहराना ही इतिहास को सार्थक बनाता है। इस क्रम में इतिहास बोध और अतीतग्रस्तता का अंतर समझने की जरूरत है। इतिहासबोध एक रास्ता दिखाता है जबकि अतीतग्रस्तता विकास के मार्ग में बाधा उत्पन्न करती है। यह प्रतिक्रियात्मक लड़ाई के लिए प्रेरित करता है जो समस्या का समाधान नहीं करता है बल्कि उसे और उलझाता है। यही कारण है कि कालांतर में दलित विचारकों ने प्रेमचंद और निराला जैसे रचनाकारों पर भी प्रश्न खड़ा किया। इसका कारण यह बताया जाता है कि यह रचनाकार दलित नहीं हैं इसलिए यह दलित होने का दर्द नहीं समझ सकते हैं। खैर कारण चाहे जो भी हो लेकिन प्रेमचंद द्वारा रचित 'कफन' कहानी दलित वर्ग की सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक परिस्थितियों का यथार्थवादी ढंग से प्रस्तुत करती है। 1936 में लिखी यह कहानी उस समय ही नहीं, वर्तमान समय में भी अपनी प्रासंगिकता को प्रदर्शित करती है। आज के समय में जब गरीबी का यह आलम हो की सरकार गरीबी हटाने के स्थान पर गरीबों को हटाने के उद्देश्य से काम कर रही हो, वहाँ पर सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से भी पिछड़े लोगों की विडंबना को प्रेमचंद बेहतर ढंग से देख पाते हैं। इस संदर्भ लालबहादुर वर्मा कहते हैं कि- इतिहास के प्रति दलित दृष्टिकोण को समझने के लिए हमें वर्तमान परिदृष्य की दो बातों को ध्यान में रखना चाहिए। महाराष्ट्र में उभरा दलित साहित्य का आंदोलन आज अन्य भाषा क्षेत्रों में भी फैल गया है। इस साहित्य के प्रति मुख्य धारा के साहित्यकारों का दृष्टिकोण पहले तो उपेक्षापूर्ण रहा। पर जब दलित साहित्य ने अपनी जड़ें जमा लीं तो उनसे संवाद शुरू हुआ। अभी भी उनके दृष्टिकोण को ठीक से समझा नहीं जा रहा है। आज दलित तर्क की सबसे सांघातिक मार यह है कि जो दलित नहीं है वह दलित चेतना और पीड़ा को समझ ही नहीं सकता। इस तर्क से वे प्रेमचंद के कफ़न और निराला के बिल्लेसुर बकरिहा आदि रचनाओं पर भी प्रश्न उठा रहे हैं इन तर्कों को प्रायः खारिज करने का अंदाज यह रहता है कि इनकी मजाल की प्रेमचंद और निराला पर प्रश्न उठाएँ। यह वैज्ञानिक तरीका नहीं है। अप्रश्नेय कोई नहीं है। इस तर्क में अतिरेक भी हो तो इसमें निहित सत्य को, इसके मर्म को समझना होगा।[41]

अर्थात अतिरेक होने पर भी दलित साहित्य और साहित्यकारों के मर्म को समझना होगा। साहित्य की मार्क्सवादी आलोचना पद्धति में कहीं ना कहीं जो कमी रह गयी, उसके कारण सबआल्टर्न साहित्य और आलोचना को विस्तार मिला। इस पद्धति ने साहित्य और समाज का कितना भला किया है इस क्षेत्र में तो अभी और शोध करने की जरूरत है। वस्तुतः विकास की द्वंदात्मक पद्धति पर विश्वास करने वाले आलोचको को मार्क्सवाद और अंबेडकरवाद को साथ में जोड़ने वाली कड़ी का पता लगाना होगा। तभी सच्चे अर्थों मे साहित्य जाति और वर्ग से दलित लोगों का भला कर पाएगा।

1.7.क. समकालीन स्त्री लेखन :

वर्तमान समय में अस्मितावादी विमर्शों के क्रम में यदि देखा जाए तो औरत भी पीछे नहीं है। सहानुभूति और सहजानुभूति के प्रश्नों से टकराते हुए वह लगातार अपनी आधी दुनिया के हक की लड़ाई लड़ रही है। यदि हिंदी कहनी का आंदोलन देखा जाए तो पहले दशक में ही बंग महिला के रूप में एक ऐसी कहानीकार उभरकर सामने आती हैं जो ना सिर्फ कहानी के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं वरन् उस कठिन समय में भी औरतों के पक्ष में अपनी कलम चलाती हैं। इसप्रकार हिंदी कहानी के पहले दशक से लेकर समकालीन कहानी के दौर तक स्त्री लेखिकाओं ने अपनी उपस्थिति दर्ज की है।

वर्तमान समय में कथा साहित्य में जो स्त्री विमर्श है उसे पश्चिमी देशों के स्त्री मुक्ति आंदोलन की परिणति माना जाता है। इसकी प्रेरक सिमोन द बोवुआर को माना जाता है जिनकी पुस्तक 'द सेकेंड सेक्स' ने पश्चिमी देशों में काफी लोकप्रियता हासिल की। इसके अतिरिक्त भारत में प्रभा खेतान के द्वारा इस पुस्तक के हिंदी अनुवाद स्त्री उपेक्षिता ने औरत को आर्थिक स्वतंत्रता देने के आंदोलन को भारत में भी तेज किया। इसके अतिरिक्त एक लम्बे समय से स्त्री मुक्ति आंदोलन भारतीय समाज में चर्चा का विषय रहा लेकिन कथा साहित्य में स्त्री विमर्श की चर्चा पिछले दो दशकों से हो रही है।

गौर से देखें तो स्त्री विमर्श के कई आयाम हैं जो हिंदी साहित्य की अनेक विधाओं की रचनाओं में दृष्टिगोचर होते हैं। दलित विमर्श की तरह हंस पत्रिका ने स्त्री विमर्श को भी कथा साहित्य का अपरिहार्य अंग बना दिया। इसके इतिहास में जाएँ तो हम देखेंगे कि औरत के स्वरूप को लेकर हिन्दी साहित्य में एक लंबे समय से लिखा जाता रहा है। छायावाद, प्रगतिवाद, अकविता, नयी कविता आदि से गुजरते हुए एक लंबे समय के बाद वह कथा साहित्य में केंद्रीय स्थान प्राप्त करती है। प्रश्न यह है कि औरत को मिले हुए इस स्थान ने औरत का कितना भला किया है? क्या इसने स्त्री विमर्श को सिर्फ मध्ववर्गीय आंदोलन बनाने की कोशिश की है? इस आंदोलन से मजदूर और निम्नवर्गीय स्त्री की परेशानियां क्या परे हैं? परिणाम पर चर्चा ना करते हुए इस तरफ ध्यान देने की जरूरत है कि इस आंदोलन का सकारात्मक पक्ष क्या है? यह समझने की जरूरत है कि इस आंदोलन ने औरत की नजर से दुनिया को देखने की जमीन तैयार की। इस संदर्भ में देवेंद्र चौबे लिखते हैं कि- वास्तविक स्त्री लेखन का ठीक से विकास स्वाधीनता के बाद ही हो पाया है। खासकर सन् 65 के बाद जब देश के अनेक हिस्सों में सामाजिक समस्याओं को लेकर तरह-तरह के जन आंदोलन होते आये हैं। कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी, उषा प्रियंवदा, और बाद में मृदुला गर्ग, ममता कालिया, मृणाल पांडेय, मंजुल भगत, अर्चना वर्मा, मैत्रेयी पुष्पा, नासिरा शर्मा, प्रभा खेतान, अनामिका, गीतांजलि श्री और कौशल्या बैसन्त्री जैसी लेखिकाएँ स्त्री की एक नयी दुनिया लेकर हिंदी साहित्य के सामने आती हैं जिसमें

सामाजिक रूढ़िवादी बंधनों से मुक्ति की छटपटाहट तो है ही साथ ही साथ एक ऐसी ऐतिहासिक दुनिया रचने की आकांक्षा है जहाँ पर स्त्रियों के अधिकार अधिक नहीं तो कम से कम पुरूषों के बराबर तो होने ही चाहिए।[42]

इसप्रकार यह दशक ऐसे रचनाकारों से अटा पड़ा है जो औरत और मर्द के समान अधिकारों वाली दुनिया बनाने में विश्वास करती हैं। इस संदर्भ में यदि सहानुभूति और सहजानुभूति की बात की जाए तो कुछ तथ्य सामने आते हैं। यदि कोई स्त्री लेखिका अपनी कलम चलती है तो वह निश्चित रूप से औरत के दर्द को बेहतर दिखा पाएगी लेकिन दूसरी तरफ कोई पुरूष औरत के पक्ष में लिखे तो वह संवेदना की किस गहराई तक पहुँच पाएगी यह विचारणीय है। यदि इतिहास में जाएँ तो कथाकार यशपाल औरत की समस्या पर बहुत ही व्यवहारिक और यथार्थवादी होकर लिखते दिखाई देते हैं। वर्तमान समय में जो रचनाकार इस क्षेत्र में सक्रिय हैं वह स्त्री-पुरूष संबंधों के माध्यम से औरत की व्यथा पर दृष्टिपात करते हैं।

इसप्रकार समकालीन कथा परिदृश्य में प्रमुख रूप से इन दोनों (स्त्री और दलित) आंदोलनो ने अपनी एक अलग पहचान बनाई है। इस तरह से इस दौर को अस्मितावादी विमर्शों का दौर भी कहा जा सकता है जहाँ दलित, स्त्री आदिवासी और साथ ही सामाजिक रूप से बहिष्कृत चरित्र भी मजबूती के साथ साहित्य में अपनी उपस्थिति दर्ज कर रहे हैं।

संदर्भ-

1. पांडेय, भवदेव. हिंदी कहानी का पहला दशक. रेमाधव प्रकाशन. दिल्लीः पृ. 12.
2. यादव, राजेंद्र. कहानी : स्वरूप और संवेदना. वाणी प्रकाशन. दिल्लीः पृ. 14.
3. राय, गोपाल. हिंदी कहानी का इतिहास. राजकमल प्रकाशन. दिल्लीः पृ. 17.
4. सिंह, बच्चन. आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास. राजकमल प्रकाशन. दिल्लीः पृ. 86.
5. शुक्ल, रामचंद्र. हिंदी साहित्य का इतिहास. राजकमल प्रकाशन. दिल्लीः पृ. 285.
6. राय, गोपाल. वही. पृ. 42.
7. शुक्ल, रामचंद्र. वही. पृ. 345.
8. राय, गोपाल. वही. पृ. 65.
9. पांडेय, भवदेव. वही. पृ. 36.
10. पांडेय, भवदेव (सं.). बंग महिला रचना संसार. दिल्लीः रेमाधव प्रकाशन पृ. 24.

11. वही. पृ. 28.

12. राय, गोपाल. वही. पृ. 50.

13. वही. पृ. 53.

14. यादव, राजेंद्र. वही. पृ. 20.

15. राय, गोपाल. वही. पृ.52.

16. वही. पृ.67

17. वही. पृ.67

18. नवल, नंद किशोर(स.). हिंदी की कालजयी कहानियां. दानिश बुक्स. दिल्लीः पृ.3.

19. राय, गोपाल. वही .पृ. 95-96.

20. वही. पृ.100

21. वही. पृ. 126

22. सिंह,बच्चन. वही. पृ. 216

23. राय,गोपाल. वही. पृ. 242.

24. वही. पृ.275

25. वही. पृ 381

26. सिंह, नामवर. कहानी: नयी कहानी. वाणी प्रकाशन. दिल्लीः पृ. 19.

27. वही. पृ.165

28. राय, गोपाल. वही. पृ.158.

29. वही. पृ. 103

30. गोस्वामी,केवल. श्रेष्ठ हिंदी कहानियाँ (1960-70). पी.प.हा.प्रा. लि., दिल्लीः पृ.3.

31. वही. पृ. 6

32. प्रकाश, स्वयं. श्रेष्ठ हिंदी कहानियाँ (1970-80). पी.प.हा.प्रा.लि. दिल्लीः पृ. 4.

33. राय, गोपाल. वही. पृ.186.

34. मंडलोई, लीलाधर. श्रेष्ठ हिंदी कहानियाँ (1980-90). पी.प.हा. दिल्लीः पृ6.

35. वही. पृ7.

36. चौधरी, उमाशंकर. श्रेष्ठ हिंदी कहानियाँ (1990-2000). पी.प.हा. दिल्लीः पृ4

37. वर्मा, लाल बहादुर. इतिहास के बारे में. परिकल्पना प्रकाशन. लखनऊः पृ. 144.

38. मिश्र, शिवकुमार. यथार्थवाद. वाणी प्रकाशन. दिल्लीः पृ. 228.

39. नैमिसराय, मोहनदास. दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र. पृ.73

40. लिंबाले, शरण कुमार. छूआछूत. पृ. 42

41. वर्मा, लाल बहादुर. वही. पृ. 122.

42. स्त्री मुक्ति का सपना. पृ475

द्वितीय अध्याय

यथार्थवादी कला आंदोलन

यथार्थवादी कला आंदोलन

साहित्य और समाज के आपसी संबंधों पर एक लंबे समय से विचार होता आया है। कला का क्या अर्थ है? कला और यथार्थ के बीच क्या संबंध है? क्या कला समाज या वास्तविक दुनिया की नकल करती है? कला यथार्थ को परिवर्तित करके चित्रित करती है या यथार्थ से कला का कोई संबंध नही है? इन सब प्रश्नों के साथ विद्वानों के निरन्तर टकराने के बाद भी इस विषय से जुड़े हुए अनेक तथ्य स्पष्ट रूप से आज भी उभरकर सामने नहीं आ पाये हैं। कुछ तथ्य ऐसे हैं जो अनसुलझे सवालों की तरह कला के साथ जुड़े हुए हैं। कला की परिभाषा क्या है?- यदि इस प्रश्न से टकराया जाए तो पता चलता है कि मानव सभ्यता के विकास में मनुष्य प्राकृतिक वस्तुओं का रूपांतरण करके उसपर अपना अधिकार कर लेता है। इसमें माध्यम श्रम बनता है। श्रम के द्वारा मनुष्य वस्तुओं का मनचाहा रूप बनाता है। इसप्रकार मनुष्य अपने जीवन में श्रम के महत्व को समझता और समझाता रहा है। कला का स्वरूप भी कुछ ऐसा ही है। वह वास्तविक जगत के यथार्थ को आकार देने का कार्य करता है। इस क्रम में वह कलाकृति को यथार्थ से बेहतर रूप भी दे सकता है और खराब भी। कलाकार द्वारा चित्रित यथार्थ का स्वरूप लगातार बदलता रहा है। कला में जब यथार्थ के विभिन्न स्वरूपों पर अधिक चर्चाएँ की जाने लगीं तो यह एक आंदोलन की तरह उभरकर सामने आया और उस समय इसे यथार्थ से यथार्थवाद की तरफ अग्रसर माना गया।

यथार्थवाद की व्याख्या दो प्रकार से की जाती है- पहला, दार्शनिक स्तर पर और दूसरा, कलात्मक स्तर पर। यथार्थवाद का दार्शनिक धरातल वस्तु और चेतना के आपसी संबंधों की व्याख्या के क्रम में तैयार होना शुरू हुआ। दार्शनिक हीगल ने यह माना की चेतना पदार्थ को प्रभावित करती है अर्थात मनुष्य का मन जिस प्रकार का होता है उसको बाहर की दुनिया वैसी ही दिखाई देती है। हीगल के इस दर्शन के विपरित कार्ल मार्क्स ने अपना दर्शन दिया जिसके अंतर्गत उन्होंने माना की चेतना पदार्थ को नही वरन् पदार्थ चेतना को प्रभावित करती है। इसप्रकार कार्ल मार्क्स ने हीगल के सिद्धांत को सीधा करने की कोशिश की। इस संदर्भ में समाज की व्याख्या करते हुए मार्क्स ने मनुष्य की आर्थिक परिस्थितियों को उसके मानसिक अवस्था का कारण माना है। हीगल के इस सिद्धांत की व्याख्या करते हुए राहुल सांकृतायन बताते हैं कि- हीगल ने कांट के अज्ञात वस्तुसार (वस्तु अपने भीतर) या परम तत्व को मानने से इनकार कर दिया है और उसकी जगह बताया कि मन (=विज्ञान) और भौतिक प्रकृति ही परम तत्व है, प्रकृति किसी अज्ञात परम (=आत्म) तत्व का बाहर आभास का दिखलावा नही वरन् वह स्वयं परम तत्व है। मन और भौतिक तत्व दो अलग-अलग चीजें नहीं हैं बल्कि परम तत्व के आत्म प्रकाश के एक ही प्रवाह के दो अभिन्न अंग हैं। मन के लिए एक भौतिक जगत की जरूरत है, जिसपर की वह अपना प्रभाव डाल सके।[1]

इसप्रकार हीगल के सिद्धांत से यह स्पष्ट होता है कि वह मन को प्रमुखता देते हैं और संसार की सभी वस्तुओं पर मनुष्य के मन की छाप और प्रभाव की व्याख्या करते हैं। खैर, यथार्थ के संदर्भ में यदि हीगल के दर्शन की व्याख्या की जाए तो यह पता चलता है कि वह संसार की भाववादी व्याख्या करते हैं जहाँ हर वस्तु का संचालक चेतना (मन) को माना जाता है।

अतः देखा जाए तो साहित्य का यथार्थवादी सिद्धांत समाज, जीवन और मनुष्य के आपसी संबंधों पर दृष्टिपात करता है। यानी किस प्रकार यह तत्व एकदूसरे को प्रभावित करते हैं और एकदूसरे से प्रभवित होते हैं। यदि हम यह मानते हैं कि इन तत्वों में परिवर्तन का कारण इनका एक दूसरे को प्रभावित करना है तो उसी समय साहित्य और कला की सार्थकता बढ़ जाती है क्योंकि ये तत्व समाज से सीधे जुड़े हुए होते हैं। यह सिद्धांत सीधे तौर पर कार्ल मार्क्स के द्वारा प्रतिपादित दर्शन के सिद्धांत पर आधारित है। जहाँ मनुष्य की चेतना को पदार्थ के द्वारा संचालित माना जाता है और इन सभी बाहरी तत्वों में आर्थिक कारणों की प्रमुख भूमिका होती है।

कालान्तर में यथार्थवाद के स्वरूप में कई प्रकार के परिवर्तन आये। कुछ विद्वानों ने इसे आर्थिक कारणों तक सीमित कर दिया तो कहीं पर मार्क्सवाद की सीमित समझ होने के कारण कलाकृति के रूप और संरचना दोनों को सीमित करने की कोशिश की गयी। इसका प्रमुख कारण यह रहा है कि एक दार्शनिक विचारधारा को कलाकृति के स्तर पर उतारने की कोशिश करने पर कई प्रकार के तत्वों का छूट जाना लाजिमी है। फिर भी यह कोशिश की जाती रही की इस सिद्धांत को बेहतर ढंग से कला में उतारा जा सके, लेकिन समझने वाली बात यह है कि दर्शन का यह सिद्धांत पदार्थ की द्वंद्वात्मकता पर विश्वास करता है और इसे ही विकास का मूल तत्व मानता है।

2.1. यथार्थ और यथार्थवाद :

यथार्थ और यथार्थवाद के बीच के मूल अंतर को परिभाषित करने पर कई महत्वपूर्ण तथ्य सामने आते हैं। कला की सहायता से कलाकार सत्य के साथ संघर्ष करता है। इस क्रम में वह वास्तविकता को दिखाता है और साथ ही उन चीजों पर भी दृष्टिपात करता है जो वास्तविक नहीं है अर्थात जो दिखाई नहीं दे रहा है। कलाकार भविष्य के प्रति संभावना व्यक्त करता है। इस संदर्भ में रैल्फ फॉक्स कहते हैं कि- कला एक साधन है जिसके द्वारा मानव वास्तविकता से जूझता है और उसको आत्मसात करता है। अपनी भीतरी चेतना की निहाई पर लेखक वास्तविकता रूपी लाल भभूका धातु को रखता, हथौड़ियों की चोट से ठोक-पीट कर अपने उद्देश्य के लिए उसे नई शक्ल में ढालता और एकदम बेसुध होकर - नाओमी मिचिसन के शब्दो में -

विचार के हिंसक हथौड़े उस पर बरसाता है। सृजन की समूची प्रक्रिया, कलाकार की समूची वेदना, वास्तविकता के साथ इसी हिंसक द्वंद्व में, और दुनिया का एक सत्यपूर्ण चित्र गढ़ने के इस प्रयास में निहित है।[2]

इसप्रकार यदि देखा जाए तो यथार्थ और यथार्थवाद के बीच विचारधारा का अंतर होता है। रचनाकार यथार्थ को देखकर उसे अपनी समझ और विचारधारा के अनुसार पाठक के समक्ष प्रस्तुत करता है। इसलिए साहित्य में विचारधारा का महत्व बढ़ जाता है। और इसी के बरक्स एक लंबे समय से साहित्य और कला में समाज के उभरने वाले अलग -अलग स्वरूपों पर चर्चा होती रही है।

यथार्थ और यथार्थवाद के बीच में अंतर करना आवश्यक है। यह दोनों ही तत्व एक दूसरे पर परस्पर निर्भर हैं जो एक दूसरे के पूरक भी कहलाते हैं। इस संदर्भ में डॉ. त्रिभुवन सिंह ने कहा है कि- यथार्थ जीवन को यथार्थवादी कला के माध्यम से मोड़ने का प्रयत्न करता है। मोड़ने का यह प्रयत्न कल्पना के द्वारा संपादित होता है। यह इन दोनों को निश्चित स्वरूप प्रदान करने की क्रिया का निर्देशक तत्व है। जीवन की सच्ची अनुभूति यथार्थ है पर इसकी कलात्मक अभिव्यक्तिकरण यथार्थवाद है। नग्न यथार्थवादी कुरूपता एवं अश्लीलता को महत्व अवश्य देते हैं पर विचारणीय यह है कि उनका चित्रण भी यथातथ्य चित्रण अथवा 'फोटोग्राफिक' चित्रण नहीं हो सकता। इस दृष्टि से यथार्थ यथार्थवाद का अनगढ़ स्वरूप है इसका 'रॉमटिरियल' है।[3]

इसतरह देखा जा सकता है कि यथार्थवाद के लिए यथार्थ कच्चे माल की तरह काम करता है और कलाकार अपनी कल्पना और विचारधारा के मिश्रण से अपनी कृति की रचना करता है। जिन रचनाकारों में वास्तविक यथार्थ के प्रति परिवर्तन की आकांक्षा होती है वह लगातार अपनी विचारधारा के माध्यम से समाज को बदलने का काम करते हैं। इसक्रम में कृति वास्तविक यथार्थ से परे भी हो सकती है। साथ ही रचनाकार को एक ठोस वैचारिक समझदारी के साथ रचनात्मकता के क्षेत्र में उतरने की जरूरत है। कारण यह है कि विचारधारा को प्रस्तुत करने के क्रम में रचनाकार को इतिहास, समाजशास्त्र, दर्शन आदि से भी टकराना पड़ता है। इसलिए साहित्य की यथार्थवादी दृष्टि केवल साहित्य और कला तक सीमित नहीं रहती है। यह साहित्य दृष्टि समाज को बहुमुखी आयाम से देखने की प्रक्रिया है, जिसके परिणाम स्वरूप यह कोशिश होती है कि समाज का हर पक्ष साहित्य में गहराई से उभरकर सामने आये। इसतरह से कलाकार कल्पना और श्रम के जरिये सार्थक प्रयासों के द्वारा वास्तविकता का सहारा लेकर कलाकृति का निर्माण करता है।

जब साहित्य विचारधारा की सहायता से लिखी जाती है तो वह यथार्थ के स्वरूप को और स्पष्ट करती है

और साथ ही यथार्थ और सत्य के बीच जो अंतर है उसे भी प्रदर्शित करती है। यदि हम सत्य को विश्लेषित करने की कोशिश करें तो सामान्य अर्थों में यह पता चलता है कि जो कुछ भी हमें दिखाई देता है वह सत्य है। लेकिन सत्य की परिभाषा के विस्तार में जाएं तो यह पता चलता है कि सत्य दो प्रकार का होता है एक व्यक्त सत्य और दूसरा अव्यक्त सत्य और यदि यथार्थ को सत्य के रूप में परिभाषित किया जाए तो इसके अंतर्गत सत्य के दोनों रूप आएंगे। यथार्थ व्यक्त और अव्यक्त दोनों प्रकार के सत्य को अपने भीतर समाहित करता है।

अव्यक्त यथार्थ को परिभाषित करते समय यह जानना जरूरी है कि यह वो सत्य है जो द्वंद्वात्मकता की प्रक्रिया में विकसित होता है। किसी परम सत्ता की कल्पना यथार्थ के अंतर्गत नहीं आती है। यदि कोई व्यक्ति अथवा परिस्थिति किसी के लिए कल्पना की वस्तु है तो वह दूसरे के लिए वह यथार्थ भी हो सकता है। वर्तमान परिस्थितियों से प्रेरित होकर यदि कोई कलाकार भविष्य कि कल्पना करता है तो वह यथार्थवादी रचनाकार कहलाता है। जैसे एक समय में इंटरनेट, फोन आदि तकनीकी वस्तुएं कल्पना थीं लेकिन कालांतर में इसके भौतिक जगत में अस्तित्व पर प्रश्नचिन्ह नही लगाया जा सकता है। इसप्रकार यथार्थवाद के विकास में कल्पना ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, कल्पना उन वस्तुओं की जो पदार्थ में मौजूद हैं। इस संदर्भ में रांगेय राघव ने कहा है कि- साहित्य का सत्य कल्पना को बिल्कुल नही छोड़ देता, वह यथार्थ के आधार पर जितना ही दृढ़ होता है, उतना ही गहराईयों तक पहुँचता है।[4] अर्थात कल्पना को यथार्थ के धरातल पर जांचने और परखने की जरूरत होती है। वह जितना अधिक यथार्थ की भूमि पर परिपक्व होगा उतना ही जीवन के सत्य की गहराईयों तक पहुँच पाएगा। साहित्य में कल्पना का बहुत महत्व होता है। वह कलाकार की दृष्टि के प्रकाश में परिपक्व होता है और एक समय पर यह विचारधारा का रूप ग्रहण कर लेता है। इस संदर्भ में डॉ. नामवर सिंह जी कहते हैं कि- विचारधारा की सारी की सारी बहस दृष्टिकोण से जुड़ती है। जीवन और जगत को हम अलग- अलग कोणों से देखते हैं और बहस करते हैं कि सच यही है इसलिए एक ही सच है। कोण एक से अलग अलग होता है। कोण में नोक होती है और यह नोक है दिखाई पड़ना।[5]

इसप्रकार साहित्य और कला में दृष्टि का बहुत महत्व है। रचनाकार का दृष्टिकोण कलाकृति में उभरकर सामने आता है, जिसे विचार भी कहा जाता है लेकिन साहित्य केवल विचार नहीं हो सकता बल्कि उसमें कलाकार की संवेदना के साथ पाठक की संवेदना का जुड़ना आवश्यक है, क्योंकि समय बीतने के साथ विचार पुराने पड़ सकतें हैं लेकिन रचनाकार की संवेदनशीलता और सौंदर्य उसे हमेशा एक कालजयी कृति की उपाधि प्रदान करता है। यदि देखा जाए तो कला और साहित्य में वह शक्ति है कि वह सत्य को असत्य

और असत्य को सत्य दिखा सके लेकिन यदि इस परिवर्तन से पदार्थ और चेतना दोनों को वह प्रभावित नही करती है या कलाकृति दोनों में से किसी एक को परिवर्तित नही कर पाती तो उसका होना ना होना कोई मायने नहीं रखता।

2.2. प्रकृतवाद :

प्रकृतवाद मूलतः दर्शन का शब्द है। सृष्टिवाद, विकासवाद के सिद्धांत के बाद प्रकृतवाद जैसी विचारधारा आती है। कला और साहित्य में इसका प्रवेश 19वीं शताब्दी में हुआ। प्रकृतवादी आंदोलन के अंतर्गत प्रमुख रूप से मनुष्य को प्रकृति के एक अंग के रूप में दिखाया गया है। यह दर्शन की उस धारा से संबंधित है जिसके अंतर्गत पृथ्वी और उसकी उत्पत्ति से संबंधित प्रश्नों पर विचार किया जाता है। इसे विश्वविज्ञान (कॉस्मोलॉजी) के नाम से जाना जाता है। इसके संदर्भ में अर्जुन मिश्र ने कहा है कि- प्रकृतवाद के अनुसार प्रकृति ही परम सत्य है। प्रकृति के कार्यों को समझने के लिए किसी प्रकृतवाद का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं है। प्रकृति ही संपूर्ण वास्तविकता है। किसी अति प्राकृतिक अथवा अलौकिक तत्व की सत्ता नहीं है। प्रकृति स्वसम्पन्न (सेल्फ-सफिशियंट) स्वअस्तित्ववान (सेल्फ-एक्जिस्टेंट) स्वव्याख्यायेन (सेल्फ - ऐक्फोनेटरी) तथा स्वसंचालित (सेल्फ -आपरेटिंग) है। इसका नियमन करने वाली कोई और सत्ता नहीं है। मानवीय व्यवहार को भी प्राकृतिक नियमों के आधार पर समझा जा सकता है।[6]

इसतरह यह तथ्य उभरकर सामने आता है कि प्रकृतवाद के अंतर्गत मनुष्य को संचालित करने वाले तत्व के रूप में प्रकृति महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। वहीं दूसरी तरफ यथार्थवाद के अंतर्गत पदार्थ और चेतना के मध्य द्वंदात्मकता को प्रमुखता दी जाती है और इसे विकास का प्रमुख कारक माना जाता है। कला और साहित्य में रचनाकार जब प्रकृतवाद को अपनी रचना के केंद्र में लाता है तो वह नायक को प्रकृति के एक अंग के रूप में चित्रित करता है और इस क्रम में वह नायक को प्रकृति के अधीन चित्रित करता है। कहीं ना कहीं ऐसा नायक नियतिवादी दिखाई देता है। वह स्वयं को प्रकृति से अलग कर के नहीं देख पाता है। इसक्रम में वह प्रकृति की हर परिस्थिति को स्वीकार करता जाता है जो कि विकास के मार्ग में बाधक सिद्ध होती है। ऐसा करना इसलिए नुकसान पहुँचाता है क्योंकि प्रकृति के प्रत्येक तत्व ऐसे नहीं हैं जो मनुष्य के पक्ष में गतिमान होते हैं। ऐसी अवस्था में हमें प्रकृति से संघर्ष करने की आवश्यकता पड़ती है। और यह तभी संभव है जब हम यह स्वीकार करें कि हम प्रकृति से भिन्न हैं या कह सकतें हैं कि प्रकृति के अंग होते हुए भी उससे अलग अस्तित्व रखते हैं। संघर्ष की इस प्रक्रिया में मनुष्य इतिहास और भविष्य को देखते हुए आगे बढ़ता है। इसलिए मनुष्य के परिवर्तन करने की क्षमता के महत्व को समझते हुए जोला ने अपनी डायरी में

लिखा कि- पूंजीपति वर्ग अपने पूंजीवादी विशेषाधिकारों की रक्षा करने और स्वयं को शासक वर्ग के रूप में बनाएं रखने के लिए अपने क्रांतिकारी अतीत के साथ गद्दारी कर रहा है। सत्ता हस्तगत कर लेने के बाद अब वह उस सत्ता को जनगण के हवाले करने में आनाकानी कर रहा है। अतः पूंजीपति वर्ग का धीरे - धीरे जड़ होते जाना निश्चित है। यह प्रतिक्रियावाद, पुरोहितवाद और सैन्यवाद का सहयोगी बनता जा रहा है। मुझे बार-बार इस बात पर जोर देना चाहिए कि पूंजीपति वर्ग का खेल खत्म हो चुका है, वह अपनी सत्ता और संपदा को बनाए रखने के लिए प्रतिक्रियावादी हो गया है। सारी उम्मीद अब भविष्य की शक्तियों से है, जो जनगण में निहित है।[7]

इसप्रकार जोला जैसे प्रकृतवादी को भी भविष्य की शक्तियों पर और जनगण में विश्वास पैदा करना पड़ा। कहीं ना कहीं उसे भी मनुष्य से प्रकृति के स्वतंत्र अस्तित्व पर विश्वास करना पड़ा। जो एक परिवर्तनकारी कारक की भांति कार्य करता है। जहाँ एकतरफ साहित्य की स्वच्छंदतावादी और आदर्शवादी धारा के अंतर्गत क्रमशः मनुष्य को भावों द्वारा संचालित और एक कृत्रिम चरित्र से पोषित कर दिया जाता है, प्रकृतवाद उसके विरोध में अपना विकास करता है, अर्थात तत्व के प्राकृतिक गुण को बनाए रखते हुए उसे साहित्य और कला में प्रस्तुत करता है।

यथार्थवाद और प्रकृतवाद में मूलतः यही अंतर है कि प्रकृतवाद समाज (पदार्थ) और मनुष्य (चेतना) के आपस के द्वंदात्मक प्रकिया पर बल नहीं देता है बल्कि प्रकृति को एक स्थायी तत्व या नियति के रूप में स्वीकार करता है। इस बिंदु पर आकर प्रकृतवाद स्वयं ही अपनी सीमा को तय कर देता है।

2.3. यथार्थवाद का इतिहास :

साहित्य और कला में यथार्थवाद का विकास कार्ल मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धांत के परिणाम स्वरूप हुआ। यदि इतिहास पर नज़र डाली जाए तो यह तथ्य उभरकर सामने आता है कि साहित्य में यथार्थवाद के विकास के लिए एक लंबे समय से पृष्ठभूमि तैयार हो रही थी। 19वीं शताब्दी में ऐसी अनेक विचारधाराएं विकासित हो रही थीं जिन्होंने यथार्थवाद के लिए एक आधार की रचना की। इनमें से चार्ल्स डार्विन के विकास का सिद्धांत सबसे प्रमुख है। इस सिद्धांत ने यह प्रतिपादित किया कि मनुष्य का विकास जीव-जंतुओं से हुआ है।

इस वैज्ञानिक खोज ने यह सिद्ध किया की मनुष्य और प्रकृति के बीच में द्वंद्वात्मकता का रिश्ता है। इस सिद्धांत ने दर्शन, साहित्य और कला पर भी अपना प्रभाव छोड़ा और साथ ही ईश्वर के अस्तित्व पर भी प्रश्न -चिन्ह खड़ा किया। यदि देखा जाए तो कार्लमार्क्स के दर्शन के पूर्व भी कई ऐसे विचारक थे जिन्होंने

दर्शन को औलकिकता और कल्पनात्मकता के आकाश से यथार्थ के धरातल पर उतारने कोशिश की। इन विचारकों ने साहित्य और कला में यथार्थवाद के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई जिसकी चर्चा करना आवश्यक है। मार्क्सवाद के साहित्य में आने के पहले हीगेलियन भाववाद का प्रभाव साहित्य और कला जगत पर प्रमुख रूप से था। जिन रचनाकारों ने यथार्थवादी विचारधारा की पृष्ठभूमि तैयार की वो प्रमुख रूप से मानवीय कल्याण और लोकमंगल की भावना को अपने साहित्य के माध्यम से प्रस्तुत कर रहे थे। इन प्रमुख विचारकों का विवरण निम्नलिखित है-

2.3.क. विस्सारियन ग्रिगोरियेविच बेलिंस्की(1811-48) :

बेलिंस्की ने जारशाही के युग में रूसी समाज के यथार्थवादी चरित्र को ना सिर्फ उभारने की कोशिश की वरन् उसे आंदोलित भी किया। यह वो समय था जब रूसी समाज जार के निरंकुश शासन का शिकार था। इन विपरित परिस्थितियों में भी बेलिंस्की ने किसी की परवाह ना करते हुए जार के शासन की आलोचना अपनी रचनाओं के माध्यम से प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा कि- कलाकार का चिरंतर मॉडल है प्रकृति और प्रकृति की सबसे श्रेष्ठ और शुभ्र मॉडल है मानव।[8]

इसतरह इस रचनाकार ने मनुष्य को प्रकृति की सबसे श्रेष्ठ कृति के रूप में उभारा है। समाज भी प्रकृति का एक हिस्सा है और रचनाकार उसी समाज का आलोचक। दर्शन और काव्य नामक आपने लेख में कवि और कविता के संदर्भ में अपने विचारों को रखते हुए वह कहते हैं कि -कला ने भी अपनी ओर से इस दिशा में डग बढ़ाया है। वह अब किसी निष्क्रिय भूमिका तक ही अपने आप को सीमित नहीं रखती -प्रकृति का यथार्थ और निस्संग प्रतिबिंबन करके ही नहीं रह जाती बल्कि उसकी तर्क व्यवस्था में निजत्व की सजीव भावना का समावेश करती है, उसे एक सार्थकता और संगति प्रदान करती है। आज का हमारा कवि निरा कवि ही नहीं विचारक भी है।[9]

इसतरह देखा जाए तो बेलिंस्की ने कला और साहित्य को समाज के परिवर्तन के क्रम में एक सक्रिय तत्व के रूप में देखा है। साथ ही वह कवि से यह अपेक्षा करता है कि वह भी एक विचारधारा अथवा दर्शन के साथ साहित्य और कविता के क्षेत्र में आये। इस संबंध में डॉ. शिव कुमार मिश्र जी कहते हैं कि- बेलिंस्की का उदय मार्क्स के पूर्व हुआ था। प्रारंभ में हीगेलियन भाववाद से प्रेरित होते हुए भी इनकी क्रांतिकारी चेतना नयी दिशाओं की खोज के लिए आकुल थी। मार्च 1841 में बोटकिन को लिखे गये अपने एक पत्र में इन्होंने हीगेलियन भाववाद से अपनी चिंतना के मुक्त होने का स्पष्ट उल्लेख किया है, और उल्लेख ही नही किया, हीगेलियन भाववाद की कठोर आलोचना भी की है। अपने क्रांतिकारी विचारों के कारण बेलिंस्की को जार

के निरंकुश दमन चक्र का भी शिकार बनना पड़ा, किंतु इससे उनके विचारों में कोई अंतर नही आया।[10] बेलिंस्की ने अपने समय की विसंगतियों को समझते हुए भाववाद के वर्चस्व के युग में भी यथार्थवाद के दर्शन को अपनाया। जबकि उस समय इस विचार की कोई पृष्ठभूमि तैयार नहीं थी, फिर भी दुनिया को समझने और देखने की एक शैली के रूप में बेलिंस्की ने इसे अपने साहित्य में प्रस्तुत किया। इन्होंने प्रकृति की रचनात्मक शक्ति को कला में प्रतिबिंबित करने के लिए प्रेरित किया।

2.3.ख. अलेक्सान्द्र इवानोविच हर्जन (1812-70):

मास्को के एक भद्र परिवार में जन्म लेने वाले हर्जन को अनके खतरनाक विचारों के कारण गिरफ्तार होना पड़ा था। जार के शासनकाल तक हर्जन के विचारों का प्रवेश रूस में नहीं हो पाया था लेकिन जार की मृत्यु के बाद हर्जन के विचारों की लोकप्रियता में काफी वृद्धि हुयी। हर्जन के विचार शुद्ध रूप से भौतिकवादी हैं। इन्होंने विचारों के उद्भव के साथ-साथ उसके क्रियान्वयन पर भी बल दिया। उन्होंने कहा कि- मानव केवल चिंतनशील ही नहीं क्रियाशील प्राणी भी है। कला वस्तुओं का चित्रण करती है, विज्ञान उसका ज्ञान प्रदान करता है। आज के युग की मांग है कि जो ज्ञान प्राप्त किया है, उसे वास्तविक जीवन में मूर्त किया जाए।[11] इसप्रकार हर्जन विचारों की क्रियात्मकता पर जोर देते हैं। विचारों के चिंतन के साथ मनुष्य को क्रियाशीलता भी बनाए रखने की जरूरत है और इस जरूरी तत्व को वह प्रकृति से प्राप्त करते हैं। इसके अतिरिक्त समय की आवश्यकता को समझते हुए सिद्धांतों को व्यवहारिक जीवन में उतारने की शिक्षा देते हैं। इसतरह हर्जन के विचार जार के क्रूर शासन के काल में भी उसके पक्ष में ना होते हुए उसके शासन की विसंगतियों की वास्तविकता का परिचय देते हैं। ऐसा माना जाता है कि सच्चा साहित्य अपने समय की विसंगतियों को प्रदर्शित करने के क्रम में उभरकर समाज के सामने आता है। इस संदर्भ में यदि हर्जन के विचारों की समीक्षा की जाए तो वह द्वंद्वात्मकता को एक ऐसे यंत्र के रूप में मानते हैं जिससे समाज की विसंगतियों को उभारने में सहायता मिलती है। वह कहते हैं कि द्वंद्वात्मकता मानव जाति के एक इतिहास की विशिष्टता है, मानव के नब्ज की धड़कन की भांति केवल इस अंतर के साथ कि इसकी प्रत्येक धड़कन मानव जाति के लिए आगे बढ़ा हुआ कदम होती है।[12] हर्जन ने ऐसा माना कि द्वंद्वात्मकता मानव सभ्यता का सबसे आवश्यक तत्व है। विकास के कदम को आगे बढ़ाने के लिए समाज की विसंगतियों को सच्चाई के साथ उभारना आवश्यक है। इसतरह हर्जन ने पदार्थ के महत्व को समझते हुए उसी को मनुष्य का संचालक तत्व माना और द्वंद्वात्मकाता को उसके विकास का यंत्र।

2.3.ग.गाब्रिलोविच चर्नीशेव्स्की (1828-89) :

इनका जन्म वोल्गा नदी के तट पर स्थित नगर सारातोव में हुआ था। दक्षिणी रूस का यह एक प्रमुख शहर

है। इन्होंने रूस में विज्ञान के विकास के लिए जार के शोषक तंत्र और दास प्रथा को प्रमुख कारक मानते हुए और उसे दूर करने को ही अपने जीवन का प्रमुख लक्ष्य बनाया। मूलतः दर्शन के क्षेत्र में इनका महत्वपूर्ण योगदान है। ये मानते थे कि जीवन की वास्तविकता से हमें सत्य का ज्ञान होता है। यह कहने का सीधा अर्थ यह है कि केवल ग्रंथ पढ़ के सत्य की जानकारी नहीं हो सकती है बल्कि सत्य को जानने के लिए वास्तविक दुनिया के साथ साक्षात्कार होना आवश्यक है। इनका कथन है- केवल वे आकांक्षाएं ही वास्तव में महत्वपूर्ण हैं जो वास्तविकता पर आधारित होती हैं केवल वे आकाक्षांए ही फलवती होती हैं जिन्हें वास्तविकता जन्म देती है और केवल तभी जब उनकी पूर्ति के लिए उन शक्तियों और परिस्थितियों का सहारा लिया जाता है जिन्हें वास्तविकता प्रस्तुत करती है।[13]

इसतरह से चेर्निशेव्स्की ने वास्तविक संसार को ही सत्य माना तथा इसी सत्य पर आधारित आकांक्षा को ही वास्तविकता में बदलने के योग्य माना। यह तथ्य तभी संभव है समाज की द्वंद्वात्मक प्रक्रिया चलती रहे। वे लगातार वास्तविक संसार को परिवर्तन के एक प्रमुख कारक के रूप में स्थापित करते हैं। इस क्रम में वह कला और साहित्य को एक उत्प्रेरक तत्व के रूप में स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि कला का मूल उद्देश्य जीवन में मानव की दिलचस्पी की हर चीज़ को पुनः मूर्त करना है। अर्थात समाज या कह सकते हैं कि हमें सामने दिखने वाली हर मूर्त वस्तु को देखकर हम जो दिखाई नहीं दे रही हैं उसकी अमूर्तता का एहसास कर सकतें हैं और अमूर्तता को मूर्तता में परिवर्तित करने में कला और साहित्य प्रमुख भूमिका निभाती है।

2.3.घ. लियो तॉल्सतॉय : (1828-1910)

रूस में जन्मे तॉल्स्तॉय के कला संबंधी विचारों को उनके निबंध **वॉट इज आर्ट** के माध्यम से समझा जा सकता है। इस लेख में उन्होंने अपने कला और साहित्य संबंधी विचार को प्रस्तुत किया है। इनके विचारों में प्रमुख रूप से संक्रमकता का सिद्धांत प्रमुख है। इनका मानना है कि वह कला सच्ची है जो भावों को अभिव्यक्ति मात्र देकर अपनी इति कर्तव्यता ना समझ ले, वरन् भावों को इस रूप में, इस प्रभाव के साथ व्यक्त करे कि दूसरे के मन में संक्रमित हो सके। संक्रमण कि इस प्रक्रिया में पाठक समाज के यथार्थ से परिचित होता है। वास्तव में कला के माध्यम से समाज को उसके स्वयं के यथार्थ से परिचित कराना एक जटिल प्रक्रिया होती है। यह तभी संभव होती है जब रचनाकार यथार्थ को सरलता के साथ व्यक्त करे। इसलिए कलाकार यथार्थ और समाज के बीच में एक महत्वपूर्ण कड़ी के समान है। तोल्सतोय ने कहा है कि - जिस कला में मनुष्यता की आकांक्षाए मूर्त नहीं, जिसमें जन सामान्य के सुख- दुख प्रतिबिंबित ना हों, जो सुविधाभोगी उच्चवर्गों के मानसिक विलास, सस्ते मन बहलाव का साधन हो, ऐसी कला में और एक वेश्या

में कोई अंतर नहीं है।[14]

इसप्रकार तोल्स्तोय ने कला के सामाजिक सरोकारों को स्वीकार किया है और उसके बिना साहित्य की उद्देश्यहीनता को व्याख्यित करने का प्रयास किया है। इन्होंने अपने साहित्य के माध्यम से लगातार समाज को उसके जटिल यथार्थ से परिचित कराने का प्रयास किया है। इनका साहित्य यथार्थवाद के विकास में एक महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में है जो रूसी समाज के गहरे यथार्थ को व्यक्त करता है। तोलस्तोय ने अपने जीवन काल में लघु कथाओं और कहानियों को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। इसके अलावा बाद में उन्होंने नाटक और निबंध के माध्यम से सामाजिक यथार्थ को व्यक्त करने का प्रयास किया। इन्होंने माना की नैतिक और सार्थक वही रचना है जो मनुष्य जाति के लिए महत्वपूर्ण विचारों का निर्माण करने में सहायक हो।

2.4. यथार्थवाद :

यथार्थवादी विचारधारा का विकास साहित्य और कला जगत में 19वीं शताब्दी में माना जाता है। दर्शन में मार्क्सवाद का सहारा लेकर यह विचारधारा कला और साहित्य में विकसित होती है। इसका आधार कलाकार की चेतना और उसके द्वारा पदार्थ के चित्रण से संबंधित है। इसके चित्रण और प्रस्तुतीकरण की भिन्नता के परिणामस्वरूप इसकी व्याख्या और नाम में परिवर्तन लाया गया। साहित्य और कला जगत में आदर्शवाद और स्वच्छंदतावाद के विरोध में यथार्थवाद का विकास माना जाता है। यह विचार मार्क्स के दार्शनिक विचार से प्रेरणा प्राप्त करता है जिसके अंतर्गत यह माना जाता है कि पदार्थ हमारी चेतना को प्रभावित करता है। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद वह दर्शन है जिसके अनुसार सृष्टि का मूल सत्य पदार्थ है, किन्तु जो निरंतर परिवर्तनशील अवस्था में होने के कारण द्वंद्वात्मक प्रणाली के कारण ही जाना जाता है।

इसप्रकार मार्क्सवाद एक भौतिकवादी दर्शन है जिसके फलस्वरूप यह माना जाता है कि संसार की प्रत्येक वस्तु का नियंता पदार्थ है, चेतना नहीं। कार्लमार्क्स ने हीगल के सिद्धांत के विपरित पदार्थ को प्रमुखता दी और साथ ही राजनैतिक, वैधानिक, दार्शनिक, धार्मिक, साहित्यिक और कलात्मक विकास के लिए आर्थिक परिस्थितियों को जिम्मेदार ठहराया।

यथार्थवाद की उपरोक्त व्याख्या से यह स्पष्ट है कि मार्क्सवादी दर्शन का सहारा लेकर ही साहित्य में यथार्थवाद का विकास हुआ है। कालांतर में यह विचारधारा अपने स्वरूप को लगातार विकसित करने का प्रयास करती रही है। यदि हम इस कलात्मक सिद्धांत की गहराई में जाएं तो कुछ प्रमुख तत्व उभरकर सामने आते हैं। ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धांत के अंतर्गत द्वंद्वात्मकता के आधार पर विकास का सिद्धांत प्रतिपादित किया जाता है। अर्थात कलाकृति और कलाकार दोनों ही अपने बाहरी वातावरण से प्रभावित होते हैं और उसको प्रभावित करते भी हैं। बाहरी वातावरण में सबसे प्रमुख भूमिका आर्थिक

परिस्थितियों की होती हैं। इस संदर्भ में एंगेल्स ने कहा है कि- राजनैतिक, वैधानिक, दार्शनिक, धार्मिक, साहित्यिक और कलात्मक विकास आर्थिक विकास पर निर्भर करता है। किंन्तु वे आपस में एक-दूसरे को और आर्थिक आधार को भी प्रभावित करते हैं। ऐसा नहीं है कि आर्थिक तत्व ही अकेला सक्रिय तत्व है और अन्य सबकुछ उसका निष्क्रिय परिणाम बल्कि आर्थिक आधार के साथ ही उसकी यह अंतःक्रिया ही है जो अंतिम विश्लेषण में हमेशा निर्णायक साबित होती है।[15]

अर्थात आर्थिक कारक विकास में एक प्रमुख भूमिका निभाते हैं, किंतु यह अकेले ही कार्य नहीं करती है। इसके साथ बहुत से कारक जुड़े हैं जिनका विकास एक दूसरे से जुड़ा हुआ है। इसप्रकार हीगल के दर्शन की भाववादी प्रवृति के विरोध में और उसे अत्यधिक विकसित करते हुए कार्ल मार्क्स ने भौतिकवादी पद्धति का विकास किया और इसके साथ ही कला संबंधी अपने विचार देते हुए यथार्थवाद को कला और साहित्य की प्रमुख वैज्ञानिक पद्धति के रूप में विकसित करने का प्रयास किया।

2.5. साहित्य और कला में यथार्थवाद :

साहित्य और कला में यथार्थ ने लगातार अपने स्वरूप में परिवर्तन किया है। दर्शन के माध्यम से इस पद्धति को समझने के बाद जब इसे कलाकृतियों पर लागू किया जाता है तो यह अधिक स्पष्ट रूप में हमारे सामने आता है। अनेक विद्वानों के अनुसार साहित्य और कला में यथार्थवाद एक निश्चित सैद्धांतिकी के रूप में 19वीं शताब्दी में प्रवेश करता है। इस संदर्भ में कोई निश्चित तिथि देना कठिन है।

ऐसा माना जाता है कि साहित्य और कला के स्वच्छंदतावादी और आदर्शवादी विचारधारा के विरोध में यथार्थवाद का उदय हुआ है और कुछ विद्वान यह मानते हैं कि यह सारी विचारधाराएं एक साथ चल रही थीं। इस संदर्भ में पश्चिम में यथार्थवाद, स्वच्छंदतावाद के विरोध में पैदा हो सकता है लेकिन भारतीय साहित्य का स्वरूप ऐसा है कि यहाँ पर विभिन्न प्रकार के साहित्य, कला, भाषा आदि होने के कारण कई प्रकार की विचारधाराएं एक साथ चल रही थीं। हिंदी साहित्य के संदर्भ में इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए नामवर सिंह जी कहते हैं कि- कुछ लोगों का अनुमान है कि छायावाद - यथार्थवाद में कोई शाश्वत शत्रुता है। छायावादी कवि यथार्थवाद से दूर हुआ करता है। यह भारतीय साहित्य की विशेषता है कि यूरोप में भले ही यथार्थवाद -स्वच्छंदतावाद के बाद आया हो लेकिन भारत में यथार्थवाद और स्वच्छंदतावाद की धारा साथ-साथ प्रभावित हुया। इसलिए प्रेमचंद और निराला दोनों साथ-साथ पैदा हुए।[16]

यदि इस तथ्य की गहराई में जाएं तो यह पता चलता है कि साहित्य के छायावादी युग में बहुत से ऐसे रचनाकार उभरकर सामने आते हैं जिन्होंने शुरूआत तो रोमैंटिक प्रवृत्ति के साथ की लेकिन कालांतर में

उनकी रचनाओं का स्वरूप परिवर्तित दिखाई देता है। उनकी रचनाओं में यथार्थ के तत्व उभरकर सामने आते हैं।

यदि वैश्विक परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो अठारहवीं शताब्दी में फ्रांस की क्रांति सम्पन्न हुयी और स्वत्रंता, समानता और बंधुत्व के नारे के साथ समाज का एक बदला हुआ स्वरूप सामने आया। उसका प्रभाव साहित्य और कला पर पड़ना लाज़िमी था। इस संदर्भ में शिव कुमार मिश्र जी कहते हैं कि- जहां तक 18 वीं शताब्दी के यथार्थवादी साहित्य का प्रश्न है उसके अंतर्गत लेखकों ने बुर्जुआ साम्राज्य व्यवस्था की क्रमशः उभरने वाली असंगतियों को अपने ढंग से पहचानते और विश्लेषित करते हुए तत्कालीन सामाजिक जीवनों में मनुष्य के स्वरूप और क्रियाकलापों का मार्मिक चित्रण किया।[17] इसप्रकार देख जाए तो समाजवादी विचारधारा के प्रसार के फलस्वरूप साहित्य में भी समाज के चित्रण और उसके प्रदर्शन पर प्रभाव पड़ा। जिसकी परिणति यथार्थवाद के रूप में हुयी यह पद्धति एक तरह का माध्यम बनकर सामने आती है। एक लंबे समय से इतिहास में कई प्रकार के वैज्ञानिक अविष्कारों के परिणामस्वरूप दर्शन पर भी इसका प्रभाव पड़ा। साहित्य में यथार्थवाद का जन्म एक लंबे ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम है।

लंबे समय से अनेक साहित्यकार बाह्य जगत के अस्तित्व और उसके महत्व को अस्वीकार कर के भाववादी पद्धति अपनाते हुए अपने मानस से ही साहित्य सृजन करने का दावा करते आये। इस क्रम में कई प्रकार के ऐसे विचारों का जन्म हुआ जो व्यक्तिवादी पद्धति का विकास करता है। अस्तित्ववाद इसका एक रूप है जिसको प्रभावित करने वाले किर्कगार्ड का मानना है कि 'सत्य केवल आत्मगत होता है।' इसतरह इन्होंने वस्तुगत यथार्थ को अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार के विचारों वाले अनेक दार्शनिक थे जिसमें सार्त्र, नीत्शे आदि प्रमुख हैं। इस संदर्भ में रामविलास शर्मा जी ने कहा है कि- सार्त्र ने अपनी विचारधारा को सभी तरह के भौतिकवाद से भिन्न ठीक ही बताया है। अस्तित्ववाद पुराने भाववाद-चेतना को सत्य और संसार को मिथ्या समझने वाली विचारधारा का ही एक रूप है। भाववाद के अनेक रूप अपना सबसे बड़ा शत्रु समझते है वैज्ञानिक भौतिकवाद को। भाववादियों के अनुसार वैज्ञानिक भौतिकवाद में आस्था रखने वाले लोग मनुष्य में आस्था खो देते हैं। आस्था का प्रश्न हल करना है तो समाज निरपेक्ष अहम में विश्वास करो। कला और साहित्य को उसी का विस्फोट मानो।[18]

इसप्रकार भाववादी विचारक साहित्य और कला को भी मनुष्य मात्र की कृति मानते हैं जिसका अपने बाहर की दुनिया से कोई संबंध नहीं होता है। इसके अतिरिक्त वैज्ञानिक भौतिकवादी विचारधारा को कुछ चिंतक चेतना का अपमान समझते हैं। वह मानते हैं कि ज्ञान की अनुभूति और विकास केवल चेतना के द्वारा संभव होती है जिसका बाहरी दुनिया के साथ कोई संबंध नहीं होता है। इसके विपरित भौतिकवादी

विचारक बाह्य जगत (पदार्थ) और मानव मस्तिष्क (चेतना) के द्वंद्व को विचार की उपज का कारण मानते हैं। इस संदर्भ में कला को वह सामाजिक निर्मिति समझते हैं जो लगातार मनुष्य के दिमाग को प्रभावित करती है।

इसप्रकार दर्शन के क्षेत्र में जो गैर यथार्थवादी धार प्रवाहित हो रही थी उसने यथार्थवाद के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इन सब के अतिरिक्त आधुनिक युग मूल रूप से भाववादी विचारधारा के बरक्स या उसके प्रकाश में भौतिकवादी विचारधारा के जन्म का युग है। यह किसी प्रकार के युद्ध का परिणाम नहीं है बल्कि एक लंबी चिंतन-प्रक्रिया द्वारा संभव हो सका है। अनेक ऐसे दार्शनिक हुए जिन्हें शुद्ध भौतिकवादी ना मानते हुए भी हम यह कह सकते हैं कि इन्होंने वैज्ञानिक भौतिकवादी विचारधारा के प्रसार में पहला कदम उठाया। यही कारण था कि मार्क्स ने द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की विचारधारा को हीगल की सहायता से विकसित किया। यह तथ्य इस बात का प्रमाण है कि द्वंद्वात्मकता के सिद्धांत ने अपने इतिहास से सीख लेते हुए तत्कालीन सामाजिक और आर्थिक परिस्थितयों के अनुसार दर्शन का विकास किया। इस संदर्भ में राम विलास शर्मा जी ने लिखा हैं कि- इंग्लैंड के बेकन और लॉक जैसे चिंतकों ने अनुभव और व्यवहार को ज्ञान का आधार और उसकी कसौटी माना था। फ्रांस के भौतिकवादियों ने इस विचार को विकसित किया था। वैज्ञानिक भौतिकवाद ने हेगल की द्वंदात्मक पद्धति और फ्रांस के भौतिकवाद से बहुत कुछ लिया। किंतु उसने ज्ञान और व्यवहार का संबंध नये ढंग से जोड़ा। मार्क्स ने कहा कि दार्शनिकों ने अभी तक तरह -तरह से संसार की व्याख्या की लेकिन मुख्य बात है, उसको बदलने की।"[19]

इसप्रकार मार्क्स ने सिद्धांत की व्यवहारिकता पर अधिक बल दिया। दर्शन केवल चिंतन के लिए नहीं है वरन वह परिवर्तन के माध्यम के रूप में उपयोग में लाया जाना चाहिए। एक लंबे समय तक इस विषय पर काफी विमर्श हुआ और साहित्य में इस विचारधारा से प्रभावित यथार्थवादी पद्धति का विकास हुआ।

उन्नीसवीं शताब्दी में फ्रांस के आधुनिक कला की चर्चा करने पर पता चलता है कि यहाँ प्रमुख रूप से वस्तुहीन चित्र उकेरे गये जहाँ रंग है, रेखाएं हैं, कोण भी उपस्थित है लेकिन वस्तु नही हैं, वस्तुहीनता इसका प्रमुख गुण बनकर सामने आती है। इसतरह के अनेक कला आंदोलन चले जो समाज को निष्क्रियता की तरफ लेकर जा रहे थे। अनेक आधुनिक उपन्यासों में भी इसी तरह के नायकों की रचना की गयी जो कल्पना जगत के अपने चिंतन को अपना मुख्य काम समझते हैं। वास्तविकता यह है कि साहित्य और कला को समय के अनुसार समाज के लिए अपनी जिम्मेदारी का निर्वाह करना चाहिए। यह सच है कि वह सब कुछ नहीं कर सकता है लेकिन अपने क्षेत्र विशेष में रह कर भी वह अपना कर्तव्य निभा सकता है। यह कलाकार की योग्यता पर निर्भर करता है कि वह अपनी रचना में कितनी मौलिकता और शाश्वतता लेकर

आये कि वह कालजयी बन सके।

इस क्रम में यथार्थवाद साहित्य और कला को समाज सापेक्ष बनाने में एक यंत्र की तरह कार्य करता है। इस साहित्यिक आंदोलन के द्वारा किये गये कार्यों और संभावित कार्यों पर विचार करने की आवश्यकता है। इसके अंतर्गत यथार्थ और आदर्श के आपसी संबंध, कलात्मक और वस्तुगत यथार्थ तथा रूप और अंतर्वस्तु पर चर्चा करने की आवश्यकता है और साथ ही यथार्थवाद के विशेष संदर्भ में हिंदी साहित्य के इतिहास पर विचार करने की जरूरत है।

यथार्थ और आदर्श के संदर्भ में चर्चा करने पर यह तथ्य सामने आता है कि साहित्य एक सामाजिक निर्मिति है। साहित्य और समाज का द्वंद्वात्मक रिश्ता है। समय के बदलने पर साहित्य में परिवर्तन आता रहता है। आदर्श की स्थापना से लेकर यथार्थ तक का सफर साहित्य लगातार सामाजिक परिवर्तन के परिणामस्वरूप प्राप्त करता है। इस विमर्श के आरंभिक दौर में अनेक विद्वान आदर्श और यथार्थ के सामंजस्य की बात करते हैं और इस संदर्भ में अपने-अपने मत रखते हैं। रामविलास शर्मा जी इस संदर्भ में कहते हैं कि- आदर्श और यथार्थ - इनमें कोई अनिवार्य विरोध नहीं है। यथार्थ चित्रण वास्तविक जगत के हमारे ज्ञान पर निर्भर होता है। यदि यह जगत गतिशील है और हमें उस गति की दिशा का ज्ञान है, तो हम उस दिशा के महत्व को समझते हैं जिसकी ओर हम उसे अग्रसर करना चाहते हैं, तो यह आदर्श हमारे यथार्थवाद में निहित होगा।[20]

इसप्रकार यथार्थ का जन्म आदर्श बनाने के क्रम में होता है यह दोनों ही एक दूसरे की पूरक बनकर उभरती हैं। कालांन्तर में लगातार पूंजीवाद के विकास के फलस्वरूप सामाजिक यथार्थ में परिवर्तन आता है जिसके कारण साहित्य में आदर्श की जगह यथार्थ ने ले ली। यथार्थवाद का विकास एक खास प्रकार की सामाजिक विकास की प्रक्रिया का परिणाम है। एक समय था जब प्रेमचंद के साहित्य में यथार्थ का परिचय होता है। इनके अनेक शुरुआती उपन्यासों और कहानियों के चरित्र कथा के अंत तक आते-आते आदर्श का निर्माण करते थे। लेकिन उनके बाद के कथा साहित्य में यथार्थवादी चरित्रों का परिचय होता है अर्थात एक समय के बाद प्रेमचंद भी यह कहने लगे थे कि सामाजिक विसंगतियो का दबाव इतना बढ़ गया हैं कि चाह कर थी कोई नायक आदर्श की स्थापना नहीं कर सकता है।

इसलिए वह होरी, गोबर, घीसू और माधव आदि जैसे कालजयी चरित्रों का निर्माण कर पाये हैं जो सामाजिक विसंगतियों के शिकार हैं। प्रेमचंद ही नहीं बल्कि सन् 1930 के बाद के बहुत से रचनाकार साहित्य में यथार्थवादी धारा की रचना कर रहे थे। इन विषम सामाजिक परिस्थितियों के बीच जो

रचनाकार आदर्श निर्माण की प्रक्रिया में लगे रहे आगे चलकर उनका साहित्य अप्रासंगिक हो गया। अतः किसी भी कलाकार के लिए यह आवश्यक है कि वह समय की जरूरत और मांग के अनुकूल रचना करे तथा वह जिस वर्ग के पक्ष में है उसपर अपनी कलम चलाए। इसतरह आदर्श की स्थापना एक समय की जरूरत हो सकती है लेकिन यथार्थवादी चित्रण की तकनीक एक खास प्रकार की सामाजिक प्रक्रिया का परिणाम है। इसी के द्वारा रचनाकार संवेदनहीन समाज के बीच विषम सामाजिक परिस्थितियों के लिए विडंबनाबोध करा सकता है। इस संदर्भ में प्रेमचंद जी ने कहा है कि- यथार्थवाद यदि हमारी आंखे खोल देता है तो आदर्शवाद उसे उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है। लेकिन जहाँ आदर्शवाद का यह गुण है वहाँ इस बात की ओर भी शंका है कि हम ऐसे चित्रों को चित्रित ना कर बैठें जो सिद्धांतों की मूर्तिमात्र हो- जिनमें जीवन न हो। किसी देवता की कामना करना मुश्किल नहीं है, लेकिन इस देवता में प्राण प्रतिष्ठा करना मुश्किल है।[21]

यहाँ प्रेमचंद ने यह सिद्ध किया है कि रचनाकार समाज के प्रति अपना उत्तरदायित्व निभाते हुए आदर्श और यथार्थ का सहारा लेता है। एक सच्चा मनुष्य बनाने के क्रम में रचनाकार एक आदर्श का निर्माण करता है और फिर उसे माहौल और परिस्थितियों के बरक्स विकसित करता है। इस क्रम में वह अनेक मौलिक और शाश्वत तत्व का उपयोग करता है । इस बीच में जो यथार्थवादी और आदर्शवादी चरित्र विकसित होते हैं वह सामाजिक परिस्थितियों की परिणति होते हैं। कला और साहित्य में यथार्थवाद के आने के बाद कलात्मक यथार्थ और वस्तुगत यथार्थ के संदर्भ में कुछ महत्वपूर्ण प्रश्नों से टकराने की आवश्यकता पड़ती है। प्रारंभ से लेकर अब तक अनेक विमर्शों के द्वारा इन दोनों के विषय में चर्चा की गयी है।

इस दृष्टिपात से पता चलता है कि कलाकार के लिए यह जरूरी होता है कि वह अपने अनुभव को स्मृतियों के जरिये अभिव्यक्त करे। इस तरह वह वस्तु को रूप में बदलने की कोशिश करता है। इन सब के बीच लेखक की संवेदना, विचारधारा और उसकी पक्षधरता काफी महत्वपूर्ण हो जाती है। इसका कारण यह है कि यही वो तत्व होते हैं जिनके जरिये वह सामाजिक और वस्तुगत सत्य को अपनी कृति के माध्यम से प्रस्तुत करता है। यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है कि कलात्मक यथार्थ और वस्तुगत यथार्थ में से कौन अधिक महत्वपूर्ण है। इस संदर्भ में रविन्द्रनाथ श्रीवास्तव ने कहा है कि- व्यक्ति की जातीय संस्कृति उसका सामाजिक वातावरण, जीवन के क्रम में आयी उसकी अपनी मानस ग्रंथियाँ (कॉम्प्लेक्सेज) सभी मिलकर उसे एक दृष्टि विशेष अपनाने के लिए विवश करती हैं। व्यक्ति का यह विशिष्ट दृष्टिकोण (एंगल ऑफ विजन), वस्तुगत यथार्थ को एक कोण-विशेष (एंगल) से देखने के लिए प्रेरित करता है।[22]

इसतरह देखा जाए तो अपने विमर्श के आरंभिक दौर में कलाकार के विशिष्ट कोण को महत्वपूर्ण माना

जाता है जिसके बरक्स कथाकार अपने साहित्य की रचना करता है और वस्तुगत यथार्थ को कलात्मक यथार्थ में परिवर्तित करता है। वह सत्य को एक कोण विशेष से देखता है और उसका चित्रण अपनी रचना में करता है। लेकिन यह केवल सत्य की अनुकृति मात्र नहीं होती है वरन् उसमें कुछ ऐसा भी होता है जो उसे आकर्षक बनाता है। इस क्रम में रचनाकार अपने दृष्टिकोण का सहारा लेकर सामाजिक सत्य को परिवर्तित करता है। इस क्रम में वहाँ केवल दृष्टिकोण ही महत्वपूर्ण नहीं होता है बल्कि रचना को इतिहास और विचारधारा तथा अपने तत्कालीन समय के संदर्भ में देखने और रचने की जरूरत पड़ती है। इस संदर्भ में रैल्फ फॉक्स ने कहा है कि- जो सचमुच महान लेखक है- उसके राजनैतिक विचार चाहे कुछ भी क्यों ना हों- वह वास्तविकता के साथ भयानक क्रांतिकारी युद्ध से जूझे बिना कभी नही रह सकता है। हॉ, क्रांतिकारी युद्ध में क्योंकि वह वास्तविकता को बदलना चाहता है।[23]

इसप्रकार रैल्फ फॉक्स के यहाँ सच्चे कलाकार को अपने राजनैतिक विचारधारा से परे हटकर कृति की रचना करना आवश्यक है ताकि वह वास्तविक सामाजिक सत्य को उसके इतिहास और भविष्य के आइने में देख सके। यहां कला और साहित्य एक साधन के रूप में सामने आती हैं जिसकी सहायता से कलाकार वास्तविकता के साथ लगातार संघर्ष करता है।

इसतरह यह कह सकते हैं कि वास्तविक सत्य और कलात्मक सत्य के बीच लगातार द्वंद्व चलता रहता है। और कलाकार इसी द्वंद को दिखाने के क्रम में उसे लगातार परिवर्तित करता रहता है। इसतरह यह भी कहा जा सकता है कि एक ख़ास समय में एक तरह का कलात्मक सत्य तत्कालीन समाज के लिए परिवर्तन का माध्यम बन सकता है लेकिन समय के बदलने के साथ उसमे परिवर्तन लाने की आवश्यकता होती है। यहाँ रचनाकार की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है जिससे यह अपेक्षा की जाती है कि वह सत्य को उसके ऐतिहासिक संदर्भों में देखे और अपनी रचना में भी उसे दिखाए। यहाँ रचनाकार का दृष्टिकोण, विचारधारा और रचनात्मकता सब ऐसे बिंदु हैं जिसकी सहायता से वह यथार्थ के रूप में परिवर्तन लाता है।

यथार्थ और विचारधारा के अंतर्संबंधों पर विचार करने की जरूरत है क्योंकि दृष्टिकोण के विचारधारा में परिवर्तित होने की प्रक्रिया में यथार्थवादी साहित्य में आए परिवर्तन को समझना आवश्यक है। इसका कारण यह है कि यही वह तत्व है जो वास्तविक यथार्थ को कलात्मक यथार्थ में परिवर्तित करने में सहायक है। विचारधारा 20वीं शताब्दी का शब्द है जो साहित्य और कला के क्षेत्र में मार्क्सवाद के आने के साथ आता है। उसके पहले इसे दृष्टि शब्द से परिभाषित करने की कोशिश की जाती रही है।

विचारधारा के संदर्भ में अनेक विद्वॉनों के अपने-अपने मत हैं। लूकॉच के अनुसार- साहित्य अथवा कला चिंतन की कोई दृष्टि नहीं है जिसमें यथार्थ के सत्य चित्रण को इतनी एंद्रियता प्राप्त हो जितनी कि

मार्क्सवाद के अंतर्गत उसे प्राप्त है। मार्क्सवादी रचनाकार के लिए जीवन, समाज अथवा मनुष्य का यथार्थ कोई टुकड़ों में बँटी वस्तु ना होकर, अपने में एक ऐसी समग्र इयत्ता है जिसमें जीवन, समाज तथा मनुष्य अपनी सम्पूर्णता में अभिव्यक्त हो सके।[24]

इस प्रकार यथार्थवादी कला चिंतन को जीवन की समग्र वास्तविकता को प्रस्तुत करने वाली पद्धति के रूप में प्रस्तुत किया जाता रहा है। यह ध्यान देने वाला विषय है कि सामाजिक यथार्थ की प्रस्तुति इतनी सपाट न हो कि उसमें से कलात्मकता कहीं खो जाए। इस संदर्भ में रूप और अंतर्वस्तु का रचना और रचनाकार के ऊपर पड़ने वाले प्रभाव की चर्चा करने की भी आवश्यकता पड़ती है। इसका कारण यह है कि यह दोनों ही तत्व किसी भी रचना के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण साबित होते हैं।इस संदर्भ में शिव कुमार मिश्र ने कहा है कि- वस्तु और रूप, दोनों का ही संबंध इस वस्तु जगत से है और दोनों की संपन्नता का स्त्रोत भी यह वस्तुजगत है। रचनाकार इसी से जुड़कर और इसी की अधिकाधिक पहचान के द्वारा अपनी सर्जना को दोनों भूमिकाओं पर सक्षम बना सकते हैं। जिसे कोरा रूपवाद या कलावाद कहते हैं, वह तभी पनपता है जब साहित्य का कला सर्जन का संबंध इस वस्तु जगत से लगभग कट जाता है और संवेदनाओं, अनुभवों और विचारों की भूमिका में दरिद्र होकर वह महज बाहरी प्रसाधनों के द्वारा रचना को खड़ा करने की कोशिश करता है।[25]

इसप्रकार यथार्थवादी विचार पद्धति की यह स्पष्ट मान्यता है कि रूप और वस्तु दोनों का द्वंद्वात्मकता का रिश्ता होता है जिसके कारण समय के बदलने के साथ उसमें लगातार परिवर्तन आता रहता है। जैसे की हिंदी साहित्य में लगातार विभिन्न कालों में काव्य और गद्य का स्वरूप लगातार परिवर्तित होता रहा है और उसकी अंतर्वस्तु भी बदलती रही है और आने वाले समय में इसमें लगातार परिवर्तन होता रहेगा। इन दोनों में से किसी एक को भी अनदेखा करने पर रचना के कमजोर होने की संभावना लगातार बनी रहती है।

हिंदी साहित्य में समय के बदलने के साथ-साथ रचनाकारों के लेखन की शैली में लगातार परिवर्तन आया है। आदिकाल और भक्तिकालीन साहित्य की प्रवृत्ति अलग प्रकार की थी। उस समय का सामाजिक यथार्थ अलग तरह की संवेदना को जन्म देता है। उसके पश्चात जैसे-जैसे समय में परिवर्तन आता गया यथार्थ का परवर्तित होना लाजिमी था। जहाँ एक तरफ आदिकाल रासो साहित्य एक खास तरह का चमत्कार उत्पन्न करने की कोशिश का परिणाम दिखाई देता है तो दूसरी तरफ भक्तिकालीन काव्य में हिंदू और मुस्लिम कला परंपरा को मिला-जुला रूप दिखाई देता है। इसका कारण यह है कि यह एक ऐसा समय था जिसमें दो संमृद्धशाली परंपरा को संपर्क का अवसर प्राप्त हुआ। इसका प्रभाव साहित्य पर बहुत ही गहराई के साथ

पड़ा। इस संक्रमण काल ने साहित्य के रूप और अंतर्वस्तु दोनों को प्रभावित किया। इसके अलावा आने वाले समय के लिए पृष्ठभूमि भी तैयार की।

हिंदी साहित्य में गद्य के विकास पर ध्यान केंद्रीत करें तो पता चलता है कि यह एक खास तरह की सामाजिक प्रक्रिया का परिणाम थी। औद्योगिकरण ने साहित्य के रूप को परिवर्तित किया। जैसे-जैसे विकास की प्रक्रिया के फलस्वरूप समाज की संवेदना में परिवर्तन आया वैसे ही कलाकारों और रचनाकारों में उसे प्रस्तुत करने वाले रूप में परिवर्तन हुआ। इसके अलावा समाज में आने वाले परिवर्तनों ने लगातार कला और साहित्य के क्षेत्र में एक आंदोलन की शुरूआत की है। इस दृष्टि से प्रत्येक आंदोलन ने अपने स्वयं के रूप और अंतर्वस्तु को विकसित किया जो ऐतिहासिक रूप से एक खास तरह की सामाजिक प्रक्रिया का परिणाम दिखाई देती हैं। इस संदर्भ में मैनेजर पांडेय जी ने कहा है कि- प्रत्येक साहित्यिक कृति एक अभिप्रायपरक रचना होती है। उसमें रचनाकार की जीवन दृष्टि व्यक्त होती है। इस जीवन दृष्टि से कृति की अंतर्वस्तु और रूप का निर्माण होता है। रचना की शैली का निर्माण होता है। रचना की शैली का निर्माण और साहित्य के इतिहास में शैली का विकास रचनाकार के रूपात्मक आग्रहों से नहीं होता। कला के इतिहास में नयी शैली का अविर्भाव भी नवीनता के आग्रह या रूपात्मक प्रयोगों से ही नहीं होता बल्कि नयी जीवन दृष्टि और नये यथार्थबोध के कारण होता है।[26]

इसप्रकार यह देखा जाता है कि साहित्य में होने वाले अनेक आंदोलनों का साहित्य के रूप और अंतर्वस्तु पर गहराई के साथ प्रभाव पड़ा है। जब भी कोई रचनाकार किसी नयी संवेदना और जीवन दृष्टि के साथ साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश करता है तो उसके रूप में परिवर्तन होना लाजिमी है। अतः हम यह कह सकते हैं कि यह एक परस्पर आत्मनिर्भर प्रक्रिया है जो एक के बदलने पर दूसरे को बदल देती है। साहित्य में विभिन्न काव्यांदोलन जैसे छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नयी कविता, अकविता आदि बदलती हुयी सामाजिक संवेदना को एक नये रूप में प्रस्तुत करते हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न गद्य आंदोलनों का भी इसके ऊपर प्रभाव पड़ता है। साहित्य का रूप सदैव बदलते हुए सामाजिक यथार्थ के परिवर्तित होने पर बदलता है। इसके विपरित आधुनिक शैली वैज्ञानिक हैं जो साहित्य में रूप और अंतर्वस्तु के द्वैत का विरोध करते हैं और केवल रूप की सत्ता को स्वीकार करते हैं। इस क्रम में रोलां बार्थ एक प्रमुख संरचनावादी आलोचक हैं। इसप्रकार के रूपवादी विचारों के कारण साहित्य को केवल भाषा का खेल बनाने की प्रक्रिया आरंभ होती नज़र आती है जो साहित्य का समाज के प्रति जो उत्तरदायित्व है उसे कम करती है। इसके बारे में प्रेमचंद ने बहुत पहले ही कहा था कि साहित्य समाज का दर्पण है। यदि हम यह मानते हैं तो हमें यह भी मानना होगा कि भाषा सिर्फ सामाजिक और व्यक्तिगत यथार्थ को प्रकट करने का माध्यमे है पूरा

कथ्य नहीं।

2.5.क. आलोचनात्मक यथार्थवाद :

यथार्थवादी कला आंदोलन के आरंभिक दौर में प्रकृतवाद को यथार्थवाद की श्रेणी में ही माना जाता था। कुछ समय के बाद तत्कालीन विचारकों ने इसकी सीमाओं का ध्यान रखते हुए एक कदम आगे बढ़ाते हुए प्रकृतवाद के नये रूप को विकसित किया, जिसे आलेचनात्मक यथार्थवाद के नाम से जाना जाता है। यथार्थवाद की यह धारा एक खास तरह की सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियों में पैदा होती है जिसके कारण इसे प्रकृतवाद से अलगाया गया। इस विषय में शिवकुमार मिश्र जी ने लिखा है कि- सोवियत लेखकों ने सन् 1934 में हुयी पहली कांग्रेस में मैक्सिम गोर्की ने समाजवादी यथार्थवाद के नाम से यथार्थवादी कला आंदोलन में जिस नये यथार्थवाद के सिद्धांत का उद्घोष किया, जरूरी समझा गया कि उसे समाजवादी दृष्टिकोण से रहित प्रचलित यथार्थवाद (प्रकृतवाद से भिन्न) से अलगाने के लिए उसकी अपनी विशिष्ट पहचान के लिए कोई आधार ढूंढते हुए उस प्रचलित यथार्थवाद को नये आयाम से पहचाना जाए, और उसे आलोचनात्मक यथार्थवाद का नाम दे दिया गया।[27]

इसतरह से आलोचनात्मक यथार्थवाद का जन्म एक खास तरह की ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम बनकर सामने आती है। साहित्य और समाज को इस आलोचना और रचना पद्धति के विकास के इतिहास की गहन जांच करने की आवश्यकता है ताकि यह समझा जा सके कि इसकी क्या जरूरत है और इस पद्धति का सामाजिक विकास में क्या योगदान होता है?

पूंजीवाद के विकास के परिणाम स्वरूप जिसप्रकार समाज में नये तरह की संवेदना का विकास हुआ तो साहित्यकारों को भी यथार्थ के चित्रण में परिवर्तन लाने की आवश्यकता महसूस हुयी। इस क्रम में प्रकृतवाद में प्रकृति को सबसे ऊपर माना जाता है और मनुष्य को यहाँ एक ऐसी इकाई के रूप में स्वीकार किया जाता है जो प्रकृति के सामने नतमस्तक है और उसमें किसी तरह का परिवर्तन नहीं लाया जा सकता है। यहाँ 'मानवीय व्यवहार को भी प्रकृति के नियमों के आधार पर ही समझा जाता है (यथार्थवाद)।' यहाँ ऐसा माना जाता है कि मनुष्य प्रकृति के विरूद्ध खड़े होने में असमर्थ है। इस क्रम में आलोचनात्मक यथार्थवाद का जन्म यथार्थवाद की इसी प्रचलित अवधारणा (प्रकृतवाद) के विरोध में प्रकाश में आता है। इसके अंतर्गत रचनाकार जीवन और समाज के प्रति एक तरह की आलोचनात्मक दृष्टि के साथ रचना कर सकता है। इस संदर्भ में कुंदनलाल उप्रैति जी ने लिखा है कि- यथार्थवाद इस सत्य को स्वीकार करता है कि साहित्य की कोई भी कृति न तो जीवनहीन औसत का चित्रण है (जैसा कि प्रकृतवादी समझते हैं) और न किसी व्यक्तिवादी सिद्धांत पर आधारित है जो अंत में शून्यता की ओर लेकर जाता है।[28]

अतः जीवन को शून्यता की तरफ लेकर जाने वाले सिद्धांत के विपरित आलोचनात्मक यथार्थवाद प्रकृति के विरूद्ध मनुष्य की सत्ता को स्वीकार करने वाला दर्शन बनकर सामने आता है। जहाँ समाज के ऐसे तत्वों को सामने ले आया जाता है जो मनुष्य की नियति का कारण है। वह सारी विपरीत परिस्थितियां जो मनुष्य को एक अंधकारमय भविष्य की तरफ लेकर जाती हैं उसका विश्लेषण इस सिद्धांत के अंतर्गत किया जाता है। सर्वप्रथम इस सिद्धांत के अंतर्गत यह स्वीकार किया गया कि सामाजिक सत्ता का भी अस्तित्व है जो मनुष्य की क्रियाओं को संचालित करता है। आलोचनात्मक यथार्थवादी साहित्य में इसी समाज की आलोचना को प्रस्तुत किया जाता है। प्रकृतवाद की प्रचलित अवधारणा के विरूद्ध यह दर्शन समाजवादी यथार्थवाद तक की यात्रा में एक कड़ी के रूप में सामने आती है। यह कोई अंतिम सत्य नहीं वरन् विकास की प्रक्रिया में समय के अनुसार आये परिवर्तन के वैचारिक स्वरूप है।

2.5.ख. समाजवादी यथार्थवाद :

सामाजिक विकास की प्रक्रिया में नयी समाजिक व्यवस्था की विसंगतियों को दूर करने के लिए नये तरह के साहित्य और उसको व्यक्त करने वाली नयी पद्धति की आवश्यकता है। इसक्रम में यथार्थवादी पद्धति लगातार समय के अनुसार अपने आप को विकसित और समयानुकूल बनाती गयी। प्रकृतवाद से होकर आलोचनात्मक यथार्थवाद से गुजरती हुयी समाजवादी यथार्थवाद की यात्रा तय करने वाली इस पद्धति में समाजवादी यथार्थवाद अपने भीतर द्वंद्वात्मकता के सिद्धांत को समाहित किये हुए है। कोई भी कलाकार अपने साहित्य के माध्यम से एक उद्देश्य को लेकर चलता है। यह उद्देश्य ही उसकी कालजयीता को निर्धारित करती है। इस संदर्भ में रैल्फ फॉक्स ने कहा है कि- आज मानव हमारी समाज व्यवस्था के भरभराकर ढह जाने के साथ उत्पन्न होने वाली बाह्य वस्तुगत विभीषिकाओं के खिलाफ, फासिज्म के खिलाफ, युद्ध के खिलाफ, बेगारी और कृषि के ह्रास के खिलाफ, मशीन के प्रभुत्व के खिलाफ लड़ने पर बाध्य है। साथ ही उसे अपने मस्तिष्क के इनसब के मनोगत प्रतिबिंब के खिलाफ भी लड़ना है उसे लड़ना है दुनिया को बदलने के लिए सभ्यता को बचाने के लिए।[29]

इसप्रकार यदि देखा जाए तो साहित्य लगातार समाज के प्रति अपनी प्रतिबद्धता को स्वीकार करता रहा है। समाजवादी यथार्थवादी पद्धति प्रकृतवाद से किस प्रकार भिन्न है यह ध्यान देने योग्य है। कारण यह है कि प्रकृतवाद में प्रकृति ही सर्वश्रेष्ठ बनकर उभरती है उसमें मनुष्य इससे संचालित बनाकर प्रस्तुत किया जाता है। दूसरी तरफ आलोचनात्मक यथार्थवादी पद्धति में सिर्फ समाज की आलोचना प्रस्तुत की जाती है जो प्रकृतवाद से तो आगे की सीढ़ी है लेकिन समय के अनुसार अप्रासंगिक दिखाई देती है। इस लिए इस क्रम में समाजवादी यथार्थवादी पद्धति का विकास किया गया।

इतिहास इस बात का साक्षी रहा है कि जब भी विपरीत सामाजिक परिस्थितियॉ उत्पन्न हुयी हैं तो साहित्य ने उससे बाहर निकलने में एक सहायक यंत्र की भांति कार्य करना शुरू किया है। खास तौर पर यथार्थवादी मार्क्सवादी रचनाकार यह बात नही कह सकता है कि वह मनुष्य को निष्क्रिय बनाने के लिए साहित्य की रचना कर रहा है। इसलिए मनुष्य को सशक्त बनाने के लिए और जीवन की मूलभूत आवश्यकता को पूरा करने में लगे आंदोलनों में इस तरह का साहित्य सक्रिय भूमिका निभा सकता है।

समाजवादी यथार्थवादी पद्धति की यह विशेषता है कि यह लगातार समाज के द्वंद्वात्मक प्रक्रिया पर विश्वास करती है। यहॉ दो विपरित शक्तियॉ (बाह्य और आंतरिक) लगातार परस्पर संघर्षरत रहती हैं और इनके बीच के अंतर को कम करने की कोशिश करती हैं। इस संदर्भ में शिव कुमार मिश्र जी ने कहा है कि- समाजवादी यथार्थवादी लेखक समाज विकास के प्रति इसी दृष्टिकोण को लेकर वस्तुगत यथार्थवाद को उसकी द्वंद्वात्मक भूमिका में देखता है, यही कारण है कि वह उस प्रकार की एकांगिकता से बच जाता है जो बुर्जुआ या आलोचनात्मक यथार्थवादियों की एक प्रमुख सीमा थी।[30]

इसतरह से देखा जाए तो समाजवादी यथार्थवाद, यथार्थवादी पद्धति का विकसित या कह सकते है कि संशोधित रूप है जो तत्कालीन समाज के अनुसार एक प्रमुख आवश्यता थी। यहॉ एक ऐसे नायक (हीरो) की आवश्यकता है जो लगातार संघर्षरत है और परिवर्तन का आकांक्षी है। यदि रचनाकार केवल नायक के ऊपर पड़ने वाले विपरित सामाजिक परिस्थितियों का वर्णन करता है और उसे निराशा में डूबा हुआ दिखाता है तो वह यथार्थ के एक पक्ष को ही चित्रित करता है। रचनाकार के लिए यह आवश्यक है कि वह इन विपरित परिस्थितियों में नायक के संघर्ष को उसकी द्वंद्वात्मकता में देखे और चित्रित करे। यदि वह केवल निराशा को चित्रित करता है तो वह कला और साहित्य की आवश्यकता पर प्रश्न चिन्ह खड़ा करता है। जार्ज लूकाच की मान्यता है कि- कलाकार के व्यक्तित्व के विकास की प्रेरणा (कलाकार का इतिहास) कलाकारों की कृतियों का वास्तविक नैतिक तथा बौद्धिक वस्तुतत्व क्या है? और इन की अभिव्यक्ति के लिए किन काव्य रूपों का किस प्रकार विकास होता है और उसमें लेखक को कहॉ तक सफलता मिलती है? इस पद्धति से लेखक के दृष्टिकोण उसके सौंदर्यबोध और उसके ऊपर पड़े प्रभाव को हम सहज ही समझ सकते हैं।[31] इसतरह साहित्य के यथार्थवादी चित्रण में कलाकार की विचारधारा का कलाकृति पर क्या प्रभाव पड़ता है इसकी व्याख्या आवश्यक है। इसका कारण यह है कि कलाकृति का प्रभाव एक समय के पश्चात समाज पर पड़ता ही है और विचारधारा समाज के संचालन में सहायक होती है।

2.5.ग. जादुई यथार्थवाद :

यथार्थवाद का यह रूप अलग सामाजिक और राजनैतिक परिस्थतियों में पैदा और विकसित होता है। जादुई यथार्थवाद मिथक और फैंटेसी तथा यथार्थ और भ्रम को रचना के एक महत्वपूर्ण पक्ष के रूप में स्वीकार करता है। यदि देखा जाए तो हिंदी कथा साहित्य के लिए यह पद्धति नयी है लेकिन कविता में इसका प्रयोग यदा- कदा दिखाई देता है। इसतरह की यथार्थ दृष्टि एक खास तरह की सामाजिक परिवेश में जन्म लेती है। कोलम्बिया के उपन्यासकार ग्रेबियल गार्सिया मार्क्वेस के जब अपने उपन्यास सौ साल का एकांत की रचना की तो इसके नवीन शिल्प और तकनीक को देख कर यूरोप एवं दुनिया भर के आलोचकों के बीच इसके शिल्प को लेकर विभिन्न प्रकार के मत आये। यथार्थवाद के एक अलग रूप के विकास का यह आरंभ था जिसको संज्ञा देने का कार्य उस दौर के आलोचक कर रहे थे। इस संदर्भ में प्रो. मैनेजर पांडेय ने लिखा है कि- 1960 से 1970 के बीच मार्क्वेस, अर्गुदस, वास्तोस और मारियो वगिस लोसा आदि के उपन्यास छपे जिनके आधार पर यूरोप और बाकी दुनिया में दक्षिण अमेरिकी उपन्यासों की धूम मची। पुराने उपन्यासों से अलगाने और इसके नये रूप की पहचान बताने के लिए नये-नये नामों की खोज होने लगी। किसी ने इन्हें समग्र उपन्यास कहा तो किसी ने परा उपन्यास। इन उपन्यासों में अतीत और वर्तमान का, समकालीन अनुभव और इतिहास का, यथार्थ और भ्रम का, वास्तविकता और फैंटेसी का, ऐतिहासिक चेतना और मिथकीय चेतना का, अभिजात संस्कृति और जन संस्कृति का ऐसा कलात्मक संयोजन है कि इन्हें यथार्थवाद की किसी प्रचलित कोटि में रख पाना संभव नहीं है। यही कारण है कि इनके संदर्भ में जादुई यथार्थवाद, बर्रोक और नव बर्रोक आदि धारणाओं का प्रयोग किया गया।[32]

इसप्रकार यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि जब सामाजिक यथार्थ भ्रामक हो जाए और भ्रम को यथार्थ माना जाने लगे तो इतिहास और मिथक के आपसी संबंधों को बदलने की जरूरत होती है। जादुई यथार्थवादी पद्धति इसलिए दक्षिण अमेरिका के उपन्यासों में दिखाई देती है जहाँ वास्तविक सामाजिक विसंगतियाँ इतनी जटिल हो गयी हैं कि वास्तविकता को दिखाने के लिए कलाकार को यथार्थवाद की नई पद्धति का उपयोग करना पड़ता है। ऐसा नहीं है कि हिंदी साहित्य के लिए यह पद्धति एकदम नयी हो बल्कि इस तरह के प्रयोग मुक्तिबोध की कविताओं में देखे जा सकते हैं। उनकी कविताओं में सामाजिक यथार्थ को दिखाने के लिए जिसप्रकार मिथक का सहारा लेकर एक तरह का संसार रचा जाता है उसमें कहीं ना कहीं जादुई यथार्थवाद की झलक दिखाई देती है।

साहित्य, कला और समाज का आपसी संबंध बहुत जटिल है और यदि कोई रचनाकार यह कहता है कि

उसकी कलाकृति पूर्ण रूप से यथार्थ को दर्शाने वाली है तो वह सच नहीं कहता है। वह कहीं ना कहीं अपनी कलाकृति पर प्रश्न चिन्ह लगाता है। समाज और मनुष्य के आपसी संबंधों की प्रक्रिया बहुत ही जटिल है इसक्रम में यदि कलाकार इतिहास और मिथक के आपसी संबंधों को परिवर्तित करके अपनी कलाकृति में दर्शाता है तो वह कहीं ना कहीं सामाजिक आवश्यकता है जिसकी पूर्ति कलाकार करता है।

इसक्रम में साहित्य में कलात्मकता की आवश्यकता पर भी विचार करना जरूरी है। रचनाकार के लिए कलात्मकता एक आवश्यक तत्व है जिसकी सहायता से वह सामाजिक यथार्थ को दिखाने की कोशिश करता है। उसे किसी भी कलाकृति में अनदेखा नहीं किया जा सकता है। इसतरह यदि रचनाकार पत्रकार की भांति अपनी कृति की रचना करता है तो कहीं ना कहीं वह कला के मूल उद्देश्य को अनदेखा करता है। इसलिए कल्पना और कलात्मकता साहित्य के आवश्यक तत्व हैं। यह रचनाकार पर निर्भर करता है कि वह इनका इस्तेमाल किस अनुपात में करे। जादुई यथार्थवाद के संदर्भ में साहित्य के इन तत्वों पर विचार करना इसलिए आवश्यक है क्योंकि यथार्थवाद के इस रूप में रचनाकार साहित्य के तत्वों के साथ कई तरह के प्रयोग करता है जिसका रूप इसके पारंपरिक स्वरूप से बिल्कुल अलग होता है।

2.5.घ. भोगा हुआ यथार्थ :

मनुष्य और समाज के आपसी संबंधों का चित्रण जब साहित्य में किया जाता है तो वहां पर यथार्थ एक महत्वपूर्ण कारक होता है। रचना के अंग के रूप में कलात्मक यथार्थ और वास्तविक यथार्थ का विकास होता है। आजादी के बाद जब भारतीय समाज के सामने सामाजिक विसंगतियों का यथार्थ उजागिर होता है तो कलाकार को यथार्थ को दिखाने की पद्धति में परिवर्तन करने की आवश्यकता महसूस होती है। इसी क्रम में भोगे हुये यथार्थ की पद्धति विकसित होती दिखाई देती है।

यदि देखा जाए तो कहानी के क्षेत्र में जितने भी आंदोलन शुरू हुए उन सब में यथार्थ के किसी एक पक्ष को ध्यान में रखकर ही विकसित करने की परंपरा दिखाई देती है। यथार्थ को अनदेखा करके कभी भी कथा साहित्य ने अपने आप को विकसित करने की कोशिश नहीं की। भोगे हुए यथार्थ को दिखाने की परंपरा कोई नयी तकनीक नहीं थी वरन् साहित्यकार जो लिखता है उसे बहुत गहराई से महसूस कर ही लिखता है। लेकिन अनुभव की प्रामाणिकता की बात जब आती है तो लेखक जिस विषय पर लिख रहा है उसके बारे में प्रामाणिक अनुभूति को आवश्यक बना दिया गया।

इसके माध्यम से यथार्थवाद के विकास में एक ऐसा चरण आता है जब इसे चित्रित करने के लिए प्रामाणिकता की आवश्यकता रचनाकारों के एक वर्ग ने महसूस की। समय बीतने के साथ यह प्रवृत्ति लगातार विकास करती गयी लेकिन इस परंपरा से साहित्य का कितना भला हुआ यह शोध का विषय है।

भोगे हुए यथार्थ की अवधारणा के परिणामस्वरूप स्वानुभूति और सहजानुभूति के प्रश्न भी उठने लगे। इसी दौरान कई महिला रचनाकारों ने स्त्री मन के अनछूए पहलूओं पर दृष्टिपात किया और इसे अपने साहित्य का हिस्सा बनाया। दूसरी तरफ कई दलित रचनाकार भी उभरकर सामने आये जिन्होंने समाज में फैली जातिगत असमानता को अपने साहित्य का हिस्सा बनाया। इस संदर्भ में शिवकुमार मिश्र जी ने लिखा है कि- बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में कहानी की यथार्थवादी परंपरा को नया आयाम दिया उन दलित कहानीकारों ने, जो पहली बार भोगे हुए जीवन के संदर्भ में यथार्थ के कुछ अछूते पहलूओं को लेकर कहानी के क्षेत्र में आये। ऐसे कहानीकारों में ओम प्रकाश वाल्मिकी, मोहनदास नैमिषराय, सूरजपाल चौहान, जैसे कहानीकारों की कहानियाँ विशेष चर्चित हुई।[33]

अर्थात भोगे हुए यथार्थ के चित्रण के फलस्वरूप समाज के दलित और स्त्री लेखन को सबलता मिली और एक लंबे समय से साहित्य और कला के क्षेत्र से बाहर रहे इस वर्ग ने अपनी एक अलग साहित्यिक पहचान बनायी। लेकिन जब प्रश्न सहानुभूति और सहजानुभूति का उठता है तो यही यथार्थवादी पद्धति (भोगे हुए यथार्थ) बहुत कठोर हो जाती है तथा लगातार गैर दलितों के दलित लेखन पर प्रश्न चिह्न उठाती है। यहीं से साहित्य और साहित्यकारों को अलग- अलग करके देखने वाला विचार विकसित होता दिखाई देता है। यदि साहित्य में संवेदना को प्रमुख माना जाए तो हिंदी साहित्य के इतिहास में बहुते से प्रमाण मिल जाएगें जहां पर गैर दलितों ने दलितों पर उत्कृष्ट रचनाए दी हैं। स्त्री जीवन की विडंबना को पुरूष रचनाकार भी बेहतर ढंग से उभारते हुए नज़र आते हैं।

खैर भोगे हुए यथार्थ को दिखाने की वकालत करने वाले अपने निजी जीवन के अनुभवों को साहित्य के दायरे में देखते हैं। इस तरह के साहित्य के अपने फायदे और नुकसान दोनों ही हैं, जिसपर विस्तार से दृष्टिपात करने की आवश्यकता है।

2.6. हिंदी साहित्य में यथार्थवादी साहित्य चिंतन :

हिंदी साहित्य और समाज में यथार्थवाद के विकास के इतिहास पर नज़र डालें तो कोई निश्चित काल बता पाना कठिन है। यथार्थवादी साहित्य धारा के विकास के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि हर युग का साहित्य यथार्थ से प्रभावित होता है। वह अपने भीतर तत्कालीन समाज की सच्चाई को दिखाने का कार्य करता है। कलाकार उसे दिखाने की पद्धति को अपनी विचारधारा के अनुसार परिवर्तत करता है। भारतीय साहित्य में भक्तिकाल के समय में कवि, भक्ति के आवरण में यथार्थ को प्रदर्शित करते थे। मुगलकाल ने भारतीय कला और साहित्य को अत्यधिक समृद्ध किया। इसका प्रमाण उस समय के साहित्य में दिखाई देता

है। कालांतर में रीतिकालीन साहित्य जिसकी आलोचना साहित्य का इतिहास लिखने वाले प्रत्येक इतिहासकार करते हैं उस समय के काव्य में व्यक्त श्रृंगारिकता भी उस समय के समाज में औरतों की स्थिति को व्यक्त करती है। इसप्रकार हर युग का काव्य उस समय के समाज को अपने साहित्य में व्यक्त करता है उसकी तीव्रता में अंतर हो सकता है लेकिन वह यथार्थ से परे विकसित नहीं हो सकता है।

साहित्य में यथार्थवादी विचारधारा के अत्यधिक प्रचलन के दौर तक पहुँचने के लिए साहित्य को कई पड़ावों से होकर गुजरना पड़ा। भारत में नवजागरण के आगमन का काल इतिहासकारों के अनुसार अलग-अलग निर्धारित किया गया लेकिन उसकी पृष्ठभूमि एक लंबे समय से तैयार हो रही थी। 1857 का सिपाही विद्रोह इस बात का साक्षी है कि भारतीय जनता औपनिवेशिक सत्ता की गुलामी से मुक्त होना चाहती थी। आने वाले समय में यही चेतना उभरकर समाज और साहित्य में दिखाई देती है। इस संदर्भ में शिवकुमार मिश्र जी ने कहा है कि- यद्यपि नवजागरण की इस भूमिक की सक्रियता भारत के सामाजिक धार्मिक जीवन में भी रही, किंतु धार्मिक-सामाजिक जीवन में यह नया उत्थान नयी वैज्ञानिक विचारधारा तथा चिंतन का परिणाम था और इसने साहित्य एवं कला के क्षेत्रों में भी रचना तथा चिंतन दोनों आयामों पर नयी जमीन जोड़ी। एक नयी राष्ट्रीय चेतना का उदय हुआ जिसके संदर्भ में समूचे देश के राजनैतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक पुनर्निर्माण का प्रयास किया गया।[34]

इस तरह नवजागरण काल साहित्य और समाज को अत्यंत ही स्पष्ट रूप से जोड़ता है। बहुत से विचारक यह मानते हैं कि अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से भारतीय समाज ने काफी उन्नति की है और यह एक प्रमुख कारक है जिससे नवजागरण की पृष्ठभूमि तैयार हो सकी। इस तथ्य में कितनी सच्चाई है यह तो शोध का विषय है लेकिन निस्संदेह रूप से यह एक कारक तो है ही जिसके बरक्स भारतीय समाज को अपनी चेतना को विस्तृत करने का मार्ग प्राप्त हुआ।

यथार्थवादी विमर्श के प्रारंभिक दौर में आदर्श को यथार्थ की अंतिम अवस्था माना जाता था। एक विचारधारा के रूप में विकसित होने के पहले यथार्थवाद के स्पष्ट स्वरूप पर चर्चा की गयी जिसके विषय में डॉ. राम विलास शर्मा ने समालोचक का एक अंक यथार्थवाद पर आधारित करके संपादित किया। इस पत्रिका में अनेक आलोचकों ने यथार्थ और आदर्श के बीच में अंतर को स्पष्ट करते हुए इसे एक -दूसरे का पूरक घोषिक किया। इस विषय में द्वारिका प्रसाद सक्सेना ने लिखा है कि- आदर्शवादी कलाकार की दृष्टि में जीवन का कोई महान आदर्श रहता है, जबकि यथार्थवादी दृष्टि सदैव जीवन की तुच्छता एवं हीनता की ओर लेकर जाती है। फिर भी आदर्शवादी को अपने आदर्श की स्थापना के लिए जीवन के कटु सत्य एवं

उसकी वास्तविकताओं को भी प्रत्यक्ष ना सही किंतु परोक्ष रूप में अवश्य अपनाकर चलना पड़ता है और वह भी मानव की दुर्बलता दिखाकर फिर कहीं जाकर उसके आदर्शों की स्थापना करता है। इससे सिद्ध है कि आदर्शवाद को भी यथार्थवाद का सहारा लेना पड़ता है और वह भी यथार्थवाद की दृढ़ नींव पर अपने आदर्शवाद के भवन का निर्माण करता है।[35]

उपरोक्त वाक्यांशो से यह स्पष्ट है कि प्रारंभ में रचनाकारों के सामने यथार्थ और आदर्श के बीच स्पष्ट रेखा खींच पाना कठिन मालूम पड़ रहा था। यह समय संक्रमण काल का था जहाँ एक तरफ रचनाकारों के आदर्श को स्थापित करती रचनाएं थी और दूसरे तरफ वास्तविक यथार्थ को दिखाती रचनाएं। यदि देखा जाए तो यह आलोचकों तथा रचनाकारों के बीच भाववादी और भौतिकवादी दर्शनिक विचारधाराओं के संक्रमण का काल माना जा सकता है। एक लंबे समय से ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन होने के बावजूद अंग्रेजो के द्वारा प्रचारित अंग्रेजी शिक्षा जो कि उनके स्वयं के विस्तार के लिए आवश्यक थी उसके परिणामस्वरूप भारत के लिए ज्ञान के अनेक मार्ग खुल गये। इस प्रसारित ज्ञान ने भारतीय जनमानस को दर्शन के क्षेत्र में पश्चिम में हो रहे विकास से अवगत कराया जिसके परिणाम स्वरूप यथार्थवाद के विकास एक दर्शन के रूप में हिंदी साहित्य में होता दिखाई देता है।

प्रमुख रूप से देखा जाए तो इसका प्रारंभ राष्ट्रवादी विचारधारा के विकास के रूप साहित्य में दिखाई देता है। सबसे पहले भारतीय जनता अंग्रेजों की गुलामी से मुक्त होने का बिगुल बजाती है। इसकी प्रतिध्वनि इस समय के साहित्य में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने इस दौर में न केवल हिंदी साहित्य की विधाओं का विकास किया वरन् उसे अधिक से अधिक समाज सापेक्ष भी बनाने का कार्य किया। गद्य के विकास के प्रमुख कारणों में एक- पत्र-पत्रिकाओं के संपादन का कार्य जोरों पर था जिसका प्रभाव खड़ी बोली के विकास पर भी पड़ रहा था। निबंध, नाटक, कहानी, उपन्यास और इन विधाओं के अतिरिक्त एक लंबे समय से चली आ रही विधा कविता की भाषा और स्वरूप में परिवर्तन इस बात का सूचक है कि हिंदी साहित्य में परिवर्तन की लहर दौड़ रही थी और यह परिवर्तन समाज सापेक्ष था। इस समय का प्रत्येक साहित्य किसी भी तरह अपने- आप को समाज के साथ जोड़ने के लिए तत्पर दिखाई देता है।

राष्ट्रवाद के उदय के बाद साहित्य ने इस क्षेत्र में अलग तरह का दबाव बनाया और अपने उद्देश्य को पूरा करने में लगातार लगी रही। इसके परिणाम स्वरूप अंधेर नगरी से लेकर गोदान और कफ़न तक का सफर साहित्य ने तय किया जो यह दिखाता है कि साहित्य लगातार वैचारिक रूप से समृद्ध होता गया है। इस संदर्भ में शिवकुमार मिश्र जी लिखते हैं कि- मार्क्स तथा एगेंल्स के विचारों ने संसार, समाज तथा मानव

जीवन का जो रूप भारतीय मानस के समक्ष उद्घाटित किया, उसके फलस्वरूप राष्ट्रीय आंदोलन के विकास में तो एक क्रांतिकारी मोड़ आया ही, साहित्य तथा कला के क्षेत्र में भी क्रांतिकारी प्रस्थान बिंदु उभरे। हिंदी साहित्य के क्षेत्र में ही नहीं, समूचे भारतीय साहित्य में, हिंदी भाषी जन समाज के दृष्टिकोण के ही नहीं, समूचे देश के दृष्टिकोण में यथार्थवादी चेतना के विकास के उत्कर्ष का बहुत बड़ा श्रेय मार्क्सवादी समाजवादी विचारधारा को है। इस तथ्य को नज़रअंदाज करना इतिहास की एक निर्णायक घटना को नजरअंदाज करना होगा।[36] इसतरह से हिंदी साहित्य में यथार्थवाद के विकास में राष्ट्रवादी आंदोलन एक निर्णायक भूमिका निभाती है। यही वह समय था जब भारतीय जनता साम्राज्यवादी शक्तियों के विरूद्ध लगातार प्रतिरोध को तेज कर रही थी और जिसका प्रमाण इस समय के साहित्य में स्पष्ट रूप से दिखाई दे रहा था।

इस राष्ट्रवादी युग के कुछ समय बाद या कह सकते हैं कि इसके समकालीन ही प्रगतिशील साहित्य की प्रवृत्तियाँ साहित्य में दिखाई देने लगी थीं। वह रचनाकार जो प्रारंभ में राष्ट्रवाद से प्रेरित नज़र आते थे वह बाद में प्रगतिशील रचनाएं करने लगे। इस संदर्थ में प्रेमचंद, निराला, पंत आदि प्रमुख हैं। सन् 1930 तक आते-आते यह प्रवृत्ति साहित्य में स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगी। इसी प्रवृत्ति को और अधिक विकसित करने के लिए 1936 में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुयी और उसका पहला अधिवेशन प्रेमचंद जी की अध्यक्षता में संपन्न हुआ। इस सम्मेलन में साहित्य को समाज के आगे चलने वाली इकाई के रूप में स्थापित किया गया। यह अधिवेशन इस बात का प्रमाण है कि साहित्य और समाज में वह समय आ गया था जब इन दोनों के आपसी संबंधों पर गहराई से चर्चा की जा रही थी। भारत के इतिहास में 1936 का समय एक संक्रमण का काल था जब साम्राज्यवादी शक्तियों के खिलाफ चौतरफा आक्रमण किया जा रहा था। भारत छोड़ों आंदोललन अपने चरम पर था। स्वतंत्रता आंदोलन से जुड़े हुए प्रमुख नेताओं को जेल में डाला जा रहा था। इन सब गतिविधियों का प्रभाव साहित्य और समाज पर लगातार पड़ता रहा। यह वो सामाजिक यथार्थ था जिससे उस समय की कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि अछूते नहीं रहे थे।

1947 में आजादी मिल जाने के बाद अंग्रेजी सरकार तो देश के बाहर चली गयी लेकिन भारतीय समाज को विभाजन का दंश एक लंबे समय तक झेलना पड़ा। हिंदी साहित्य में तो इसका प्रभाव कम दिखाई देता है लेकिन उर्दू साहित्य में इसका बहुत गहरा असर दिखाई देता है। यदि यथार्थवाद की दृष्टि से इस समय के साहित्य पर विचार करें तो कई महत्वपूर्ण तथ्य उभरकर सामने आते हैं। यशपाल, जैनेंद्र, फणीश्वरनाथ रेणु, राही मासूम रज़ा आदि ऐसे बहुत से लेखक हिंदी साहित्य में उभरकर आते हैं जिन्होंने उस समय के सामाजिक यथार्थ को अपनी वैचारिक समझदारी के साथ साहित्य में प्रस्तुत किया।

इस प्रकार कालांतर में जहाँ एक तरफ कविता में प्रगतिशील आंदोलन के पश्चात प्रयोगवाद, नयी कविता, अकविता, सहज कविता, समकालीन कविता आदि का दौर शुरू होता है वहीं दूसरी तरफ गद्य के क्षेत्र में नयी कहानी, अकहानी, साठोत्तरी कहानी, समकालीन कहानी आदि का दौर आरंभ होता दिखाई देता है। आजादी के बाद साहित्य में हुए विभिन्न आंदोलनों ने साहित्य और समाज के आपस के द्वंद्वात्मक संबंध को और गहरा किया।

आजादी के बाद समाज में लोकतंत्र की स्थापना तो हो गयी लेकिन उसको सही दिशा नहीं मिल पायी। इसका प्रभाव साहित्यकारों की संवेदना पर भी पड़ता हुआ दिखाई देता है। वहीं दूसरी तरफ मध्यवर्ग के उदय के साथ सामाजिक समस्याओं का स्वरूप बदलता हुआ दिखाई देता है। अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं से परिपूर्ण इस वर्ग का एक नया स्वरूप सामने आता है जिसकी संवेदना और समस्याएं दोनों ही अलग तरह की हैं। जिसका उल्लेख इस समय के साहित्य पर और खासतौर पर कहानी और उपन्यास पर दिखाई देता है।

सन् 1990 के बाद आर्थिक क्षेत्र में उदारीकरण की नीतियाँ लागू होने पर भारतीय समाज का स्वरूप तेजी से बदलता हुआ दिखाई देता है। जहाँ एक तरफ भारत व्यापार के क्षेत्र में खुले हुए बाजार का समर्थक बना वहीं दूसरी तरफ विश्व बाजार भारतीय मध्यवर्ग की क्रय शक्ति को देखकर आकर्षित हुआ। आर्थिक क्षेत्र में इसतरह के बदलाव का अर्थ था एक ही नाप की शर्ट सबके लिए लायी गयी हो। जिसका लाभ सिर्फ विकसित देशों को होने वाला था क्योंकि वस्तुतः शर्ट उन्हीं के नाप की थी। कारण यह है कि भारत जैसे विकासशील देश के बाजार पर उदारीकरण की नीतियों को लागू करना उचित नहीं था। आवश्यकता थी कि हम अपनी आर्थिक संरचना की स्वायत्ता को बनाए रखते और एक मजबूत आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त करते लेकिन ऐसा नहीं हो सका। बाजार में आये इस परिवर्तन ने समाज पर प्रभाव डाला और समाज की सांस्कृतिक संरचना में परिवर्तन आया। जिसका प्रभाव साहित्य पर पड़ता दिखाई देता है।

यह वो समय था जब साहित्य में भोगे हुए यथार्थ की अवधारणा का विकास हुआ और दलित, स्त्री और आदिवासी साहित्य के केंद्र में आये। इस दौर में आये विभिन्न प्रकार के परिवर्तनों को साहित्य में प्रस्तुत करने के लिए आवश्यक तकनीक में परिवर्तन की आवश्यकता महसूस की गयी। यथार्थ को प्रस्तुत करने का तरीका भी बदलता है और इसक्रम में साहित्य में सहजानुभूति और सहानुभूति का प्रश्न खड़ा हो जाता है। अर्थात भोगा हुआ यथार्थ किसका? जिसने यथार्थ को महसूस किया है या वो जिसने स्वयं यथार्थ को भोगा है? साहित्य में आये इसप्रकार के परिवर्तन को यदि कलात्मक दृष्टि से देखा जाए तो इसने कलात्मक यथार्थ को नुकसान पहुँचाया है क्योंकि रचनाकारों ने जैसा भोगा वैसा ही चित्रित किया। लेकिन अनेक

अस्मितावादी विमर्शों का साहित्य के केंद्र में आना एक खास प्रकार की सामाजिक प्रक्रिया की तरफ इशारा करती है। कहीं ना कहीं यह वर्ग समाज और साहित्य दोनों में अनदेखा था जिसके कारण समकालीन साहित्य में इसे अभिव्यक्ति का मौका मिलता है जो साहित्य के विकास की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण है। दलित, स्त्री और आदिवासी लेखन को भोगे हुए यथार्थ के विशेष संदर्भ में यदि देखा जाए तो इतिहासबोध और अतीतग्रस्तता का प्रश्न महत्वपूर्ण हो जाता है। एक तरह से भोगे हुए यथार्थ के चित्रण ने अतीतग्रस्तता को बढ़ावा दिया है और इतिहासबोध तथा भविष्य की कल्पना को अनदेखा किया है।

यदि साहित्य सच्चे अर्थों में समाज के आगे चलने वाली मशाल है तो उसे अपने समाज के अतीत की जानकारी भी होनी चाहिए और उसके पास एक सुखद भविष्य की कल्पना का यथार्थवादी धरातल भी होना चाहिए। इनदोनों के माध्यम से ही सपनों का संसार निर्मित किया जा सकता है। साहित्य में भोगे हुए यथार्थ और अनुभव की प्रामाणिकता पर जोर देने के साथ -साथ इतिहास और भविष्य पर भी ध्यान देने की जरूरत है। वर्तमान समय के रचनाकारों के साहित्य में इसे कहीं न कहीं अनदेखा किया गया है।

2.7. साहित्य के इतिहास लेखन में यथार्थवादी विचारधारा :

किसी समाज के विकास में उसके इतिहास-लेखकों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इतिहास में यथार्थवादी और गैर यथार्थवादी परंपरा का विकास एक ही समय में होता रहता है। यह इतिहासकार पर निर्भर करता है कि वह किस परंपरा से अधिक प्रभावित होता है और उसे अपने इतिहास में स्थान देता है। वास्तविकता तो यह है कि इतिहासकार और समय के बीच विचारधारा एक कड़ी का कार्य करती है। यह कड़ी ही इतिहासकार को दृष्टि प्रदान करती है। इसके महत्व की तरफ इशारा करते हुए प्रो. मैनेजर पांडेय ने लिखा है कि- साहित्य के इतिहास के संदर्भ में साहित्य को विचारधारात्मक रूपों में गिनने का अर्थ है साहित्य की ऐतिहासिकता और सापेक्ष स्वायत्ता को स्वीकार करना, साहित्य और समाज के द्वंद्वात्मक संबंध को महत्व देना और सामाजिक विकास तथा परिवर्तन के संबंध में साहित्य की अहम् भूमिका को रेखांकित करना। साहित्य के इतिहास के संदर्भ में साहित्य की विकास प्रक्रिया की ऐतिहासिकता और सापेक्षिक स्वायत्ता के साथ-साथ उसकी परंपरा की निरंतरता पर भी ध्यान देना चाहिए जो सदैव सामाजिक विकास की अवस्था के अनुकूल ही नहीं होती।[37]

इतिहास लेखन सदैव ही विचारधारा से प्रभावित होता है। इसक्रम में यदि हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन पर दृष्टिपात करें तो कई महत्वपूर्ण इतिहासकार और उनकी इतिहास दृष्टियां मौजूद हैं। किसतरह से इतिहासकार के चिंतन से तत्कालीन समाज और आने वाली पीढ़ियों की सोच प्रभावित होती है इसके पर्याप्त उदाहरण मौजूद हैं। एक लंबे समय तक भारत साम्राज्यवादी शक्ति का गुलाम रहा है जिसका प्रभाव

यहाँ कि सभ्यता, संस्कृति और साहित्य पर पड़ा है। इन विषम परिस्थितियों के बीच साहित्य का एक ऐसा इतिहास लिख पाना कठिन था जो वस्तुनिष्ठ हो। इसक्रम में आचार्य शुक्त का इतिहास एक महत्वपूर्ण पड़ाव था जिसमें एक इतिहास दृष्टि के दर्शन होते हैं। इन्होंने अपने इतिहास में आधुनिक काल का इतिहास लिखते समय भारतेंदु को एक महत्वपूर्ण लेखक और नवजागरण के अग्रदूत के रूप में स्थापित किया है। किन्तु शुक्लजी का इतिहास मात्र छायावाद तक सीमित है इसलिए परवर्ती गद्य साहित्य के विश्लेषण का अवकाश ही इसमें नहीं था।

साहित्य का इतिहास लिखते समय यह आवश्यक है कि इतिहासकार साहित्य और समाज के द्वंद्वात्मक संबंध को दर्शाए, इन दोनों के परस्पर सह संबंध को दर्शाए और एक भविष्य का निर्माण भी करे। साहित्य के इतिहास लेखन के साथ साथ भाषा के इतिहास पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है। इसका कारण यह है कि भाषा का समाज के साथ गहरा संबंध है।

साहित्य के इतिहास लेखन के संदर्भ में यदि कथा साहित्य के इतिहास पर दृष्टिपात किया जाए तो कई महत्वपूर्ण बिंदू हैं जिसपर ध्यान देने की आवश्यकता पड़ती है। प्रारंभिक हिंदी कहानियों पर विवाद कोई नयी बात नहीं है लेकिन ऐसे कई प्रश्न हैं जो इससे भी महत्वपूर्ण हैं जिसपर वर्तमान समय में इतिहासकार को ध्यान देने की आवश्यकता है। वैसे भी गद्य साहित्य के इतिहास पर इतिहासकारों का ध्यान कम ही गया है। यदि इतिहास लिखा भी गया तो कहानियों के विश्लेषण तक सीमित करके ही लिखा गया जिसका कोई वृहद सामाजिक संदर्भ उल्लेखित नहीं किया गया है।

वर्तमान समय में जब कहानी में भोगे हुए यथार्थ की प्रधानता स्थापित की गयी है तो ना सिर्फ कथा साहित्य बल्कि गद्य एवं काव्य के ऐसे इतिहास को रचने की आवश्यकता है जो मनुष्य और समाज के द्वंद्वात्मक संबंध को लिपिबद्ध करे। इस संदर्भ में प्रो. मैनेजर पांडेय ने लिखा है कि- साहित्य का ऐसा इतिहास जरूरी है जिसमें व्यापक सामाजिक संदर्भ में लेखक, रचना और पाठक का विकासशील संबंध प्रकट हो, साहित्य रूप और सामाजिक विकास का संबंध सामने आये और सामाजिक विकास के साथ साहित्य के विकास का संबंध भी स्पष्ट हो सके। कहने का तात्पर्य यह है कि साहित्य की सामाजिकता, साहित्यिकता और विकासशीलता का उद्घाटन करना ही साहित्य के इतिहास लेखन का प्रमुख प्रयोजन है।[38] इसप्रकार कथा साहित्य का इतिहास लिखते समय इस बात पर ध्यान देने की जरूरत है कि केवल कहानियों का विश्लेषण प्रस्तुत ना किया जाए बल्कि कहानियों की विशेषताओं को सामाजिक विकास के साथ विकसित होता हुआ मानकर इतिहास लेखन किया जाए।

संदर्भ सूची :

1. सांकृत्यायन, राहुल. दर्शन दिग्दर्शन. किताब महल प्रकाशन. इलाहाबादः पृ. 256.
2. फॉक्स, रैल्फ. उपन्यास और लोक जीवन. पीपहा. प्रा. लि. दिल्लीः पृ. 26.
3. हिंदी उपन्यास और यथार्थवाद. पृ. 79
4. आलोचना पत्रिका 1952
5. सिंह, नामवर. साहित्य और विचारधारा. राजकमल प्रकाशन. दिल्लीः पृ.18.
6. मिश्र, शिवकुमार.यथार्थवाद. वाणी प्रकाशन. दिल्लीः पृ. 85.
7. फिशर, अंर्स्ट. कला की जरूरत. राजकमल प्रकाशन. दिल्लीः पृ. 85
8. नागर, नरोत्तम (अनु.). दर्शन, साहित्य और आलोचना. परिकल्पना प्रकाशन. लखनऊः पृ13.
9. वही. पृ. 16
10. मिश्र, शिवकुमार.यथार्थवाद. वही. पृ. 104
11. नागर, नरोत्तम (अनु.). वही. पृ.91.
12. वही. पृ.91
13. वही. पृ.153
14. मिश्र, शिवकुमार. वही. पृ.101
15. वही. पृ. 32
16. सिंह, नामवर. साहित्य की पहचान. राजकमल प्रकाशन. दिल्लीः पृ.52
17. मिश्र, शिवकुमार. वही. पृ 39
18. शर्मा, रामविलास (सं). समालोचक.(फरवरी-जून 1959). अनामिक पब्लिशर्स. दिल्लीः पृ. 80
19. वही. पृ.81
20. वही. पृ.85
21. वही. पृ.158
22. वही. पृ 53
23. फॉक्स, रैल्फ. वही. पृ.27.
24. मिश्र शिवकुमार. वही. पृ.148.
25. वही. पृ. 157
26. पांडेय, मैनेजर. साहित्य और इतिहास दृष्टि. हरियाणा ग्रंथ अकादमी. पंचकूलाः पृ 67

27. मिश्र शिवकुमार. वही. पृ 52
28. (सं) शर्मा, रामविलास. समालोचक. वही. पृ 94
29. फॉक्स, रैल्फ. वही. पृ 92
30. मिश्र, शिवकुमार. वही. पृ. 67
31. (सं) शर्मा, रामविलास. समालोचक. वही. पृ. 96
32. पांडेय, मैनेजर. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका. वही. पृ. 265
33. मिश्र शिवकुमार. वही. पृ. 214
34. वही. पृ 170
35. (सं) शर्मा, रामविलास. समालोचक. वही. पृ. 104
36. मिश्र, शिवकुमार. वही. पृ.174
37. पांडेय, मैनेजर. साहित्य और इतिहास दृष्टि. वही. पृ. 206
38. वही. पृ. 208

तृतीय अध्याय

साठोत्तरी हिंदी कहानी की वैचारिक पृष्ठभूमि

साठोत्तरी हिंदी कहानी की वैचारिक पृष्ठभूमि

हर काल का साहित्य अपने समय की प्रवृत्तियों को लेकर चलता है इसलिए उसका राजनीति और विचारधारा के साथ गहरा संबंध होता है। हिंदी कहानी के संदर्भ में यदि बात की जाए तो प्रत्येक कहानी आंदोलन का एक मजबूत वैचारिक आधार दिखाई देता है जिसपर कि वह विकसित होती है। आजादी से पहले नवजागरण और राष्ट्रवादी आंदोलन की प्रवृत्तियों को कहानी अपने में समेटती है, साथ ही सामाजिक परिवर्तन को कथ्य और शिल्प के माध्यम से प्रदर्शित भी करती है। इसलिए कहानी के इतिहास को उसके सामाजिक संदर्भों तथा व्यक्त विचारधारा से काटकर नहीं समझा जा सकता है। हर युग में साहित्य की इस विधा में होने वाला परिवर्तन तत्कालीन सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों के प्रभाव में विकसित होता है।

आजादी के बाद बदलते हुए राजनैतिक माहौल के अनुकूल हो पाना आम जन के लिए एक कठिन कार्य था। बहुत जल्दी ही देश की जनता के सामने स्वतंत्र राष्ट्र की सच्चाई उजागिर हो गयी थी। बहुत जल्दी ही यह पता लग गया कि देश की सत्ता एक अंग्रेज साम्राज्यवादी शक्ति के बाद भारत के पूंजीपति वर्ग के हाथ में आ गयी है। इसके अंतर्गत यदि कहानी के साठ के दशक और उसके बाद के 15 वर्षों के इतिहास पर दृष्टिपात किया जाए तो कई महत्वपूर्ण बिंदु सामने आते हैं। इस समय कथा साहित्य में समाज की वैचारिक अस्थिरता को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इसके विषय में केवल गोस्वामी जी ने लिखा है कि- यह मोहभंग का काल था। स्वतंत्रता संघर्ष के समय देखे गये सपने टूट गये थे। जीवन यापन कठिन होता जा रहा था। स्वार्थ की आंधी ने पारंपरिक नैतिक मूल्यों को जड़ से उखाड़ दिया था। ...जटिल जीवन के साथ नये संबंधों का निर्माण हुआ। किंतु गंतव्य स्पष्ट न होने के कारण जिसके जहां सींघ समाये वह उधर को मुड़ गया। इस जीवन को भोगने और देखने वाले कहानीकारों की कहानियों में अधिकांशतः अनास्था और संत्रास के स्वर मुखरित होने लगे किंतु साथ ही सामंती मूल्यों के क्षरण के कारण नये जीवन के प्रति लालसा की कहानियां भी देखने में आयी।[1] अर्थात स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद का समय साहित्य में घोर निराशा के युग के रूप में दिखाई देता है जिसके कई आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक कारण हैं। इस विषय में विस्तार से चर्चा करने की आवश्यकता है ताकि इसके प्रमुख कारणों की जांच की जा सके।

शुरूआत से लेकर अंत तक राष्ट्रवादी आंदोलन कई तरह के पड़ावों से गुजरता है। इसक्रम में इसका स्वरूप लगातार बदलता हुआ दिखाई देता है और अंततः आजादी का वह रूप हमारे सामने नहीं आ पाता जिसका भारतीय समाज ने सपना देखा था। इस संदर्भ में आंदोलन के दौरन की गयी गलतियों पर दृष्टिपात करने की जरूरत है ताकि इस इसकी विफलता के कारकों का पता लगाया जा सके। आखिर क्या कारण है कि

एक शक्तिशाली आंदोलन की परिणति से विभाजन की त्रासदी जुड़ी हुयी है।

विभाजन का काला इतिहास लिये हुए हम एक आजाद देश को तो हासिल कर गये लेकिन इसके साथ ही एक गुलाम मानसिकता को ढोने के आदी हो गये थे। जिसके कारण आजादी के बाद का साहित्य लगातार पश्चिमी चिंतन और विचारधारा के प्रभाव में रहा है। साहित्य और समाज के विकास के लिए आवश्यक था कि हम दुनिया भर के ज्ञान को हासिल करें लेकिन इस क्रम में हम भारतीय समाज के आर्थिक और राजनैतिक यथार्थ को अनदेखा करके विकसित राष्ट्रों की पूँजीपरस्त विचारधाराओं को भी अपने समाज पर लागू करने लगे।

इसी का परिणाम था की कालांतर में समाज में जो वैचारिक अस्थिरता का दौर शुरू हुआ उसी के प्रकाश में नयी कहानी आंदोलन के बाद साठोत्तरी दौर में अकहानी, सचेतन कहानी, सहज कहानी और समानांतर कहानी जैसे आंदोलन उभरकर सामने आये। बहुत कम समय तक चलने वाले इन आंदोलनों का साहित्यिक महत्व हो सकता है लेकिन इसका सामाजिक महत्व बहुत कम है। इस प्रकार प्रेमचंद की कहानियों के रूप में जो इतिहास हमारे सामने था उस इतिहास को हम ना तो ठीक ढंग से समझ सके और ना ही उसे आगे लेकर जा सके। जिस साहित्य को हम समाज के आगे चलने वाली इकाई के रूप में संबोधित करते थे वही साहित्य आजादी के बाद एक ऐसे मोड़ पर आ गया जहाँ से आगे का रास्ता तय कर पाना मुश्किल था।

साहित्य और राजनीति का जो रिश्ता है वह विषम सामाजिक परिस्थितियों में उभरकर सामने आता है। यह प्रक्रिया जितनी द्वंद्वात्मक होती है उतना ही बेहतर साहित्य सामने आता है। वैचारिक अस्थिरता के दौर से गुजरने वाले साठोत्तरी कथा साहित्य की संवेदना अपने समाज के साथ जुड़ती हुयी नज़र आती है। आदर्शोन्मुख यथार्थवाद तो प्रेमचंद के कथा साहित्य के बाद ही साहित्य से समाप्त हो चुका था, इसक्रम में आजादी के बाद का कथा साहित्य यथार्थ को व्यक्त करने की तकनीक में परिवर्तन लाता दिखाई देता है। इस दौर में प्रमुख रूप से भोगे हुए यथार्थ को व्यक्त करने की प्रवृत्ति साहित्य में दिखाई देती है। इसके अलावा हिंदी कहानी में कई तरह के प्रयोग किये गये जिसके कारण कई तरह की नवीन विचारधाराओं का विकास साहित्य में होता हे।

इस तरह इन नयी सामाजिक परिस्थितियों और उनमें विकसित विडंबनाओं के लिए रचनाकार नये तरह के टूल्स अपनाता है। यह इसलिए जरूरी होता है ताकि साहित्य समाज सापेक्ष रहे उससे निरपेक्ष होकर नहीं। इसतरह जैसे - जैसे समय बदलता गया साहित्य में नयी धाराएं बनती गयीं, सामाजिक यथार्थ को दिखाने का ढंग बदलता गया। आदर्शवादी यथार्थवाद से आलोचनात्मक और उसके बाद समाजवादी यथार्थवाद की पद्धति विकसित की गयी। ऐसा माना गया की वर्तमान सामाजिक परिस्थितियों में

समाजवादी यथार्थवाद साहित्य को समाज सापेक्ष रखने में सहायक होगा। किन्तु वर्तमान समय में हम एक ऐसे दौर में जी रहे हैं जहां पूंजीवादी सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियां मजबूती के साथ स्थापित हैं। इन सब के बीच साहित्य की प्रासंगिकता लगातार घटती जा रही है। हमारे पास समाज को देखने और समझने के लिए कई प्रकार के साधन (इलेक्ट्रानिक मिडिया, प्रिंट मीडिया आदि) उपलब्ध हैं, जिनका महत्व साहित्य से अधिक हो गया है। इस क्रम में साहित्य का महत्व बरकरार रह सके इसके लिए साहित्य को और भी समाज सापेक्ष होना पड़ेगा। अर्थात हर समय में कला और साहित्य का महत्व इस बात पर निर्भर करता है कि वह अपने समाज के यथार्थ को किस प्रकार प्रतिबिंबित करता है।

समकालीन कथा परिदृश्य में अस्मितावादी प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण हो गये हैं और साथ ही भोगे हुए यथार्थ को दिखाने का प्रचलन अधिक बढ़ गया है जिसके कारण साहित्य के कल्पना तत्व के साथ लगातार खिलवाड़ किया गया। इसप्रकार बदलती हुई सामाजिक राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियों ने ना सिर्फ रचनाओं की अंतर्वस्तु को बदला वरन् यथार्थ के चित्रण के ढंग को भी बदलने का कार्य किया। वर्तमान भूमंडलीकृत समाज की विडंबनाओं से लड़ने के लिए भोगे हुए यथार्थ का चित्रण काफी नहीं है बल्कि संभावित यथार्थ का चित्रण भी जरूरी है। इन भूमंडलीकृत सामाजिक परिस्थितियों में लिखे जाने वाले यथार्थवादी साहित्य के संदर्भ में रमेश उपाधायाय जी ने लिखा है कि- भूमंडलीय यथार्थवाद का मतलब यह नहीं है कि हम अपने देश अपने, अपने समाज या अपने निजी जीवन की कहानी कहना बंद कर देंगे। कहानी तो हम अपने देश और अपने समाज और अपने जीवन की ही कहेंगे लेकिन अपने यथार्थ को देखने का हमारा परिप्रेक्ष्य भूमंडलीय होगा। कारण यह कि अब इस परिप्रेक्ष्य के बिना अपने यथार्थ को समझ ही नहीं सकते।[2]

इसतरह लगातार आलोचकों ने साहित्य रचना के पीछे कलाकार की वैश्विक दृष्टि की हिमायत की है ताकि कलाकार समाज की विडंबनाओं को समझने और उसे कम करने में भी सक्रिय भूमिका निभा सके। इसतरह की रचना दृष्टि और आलोचना दृष्टि विकसित करने के लिए यह आवश्यक है कि रचनाकार साहित्य पर राजनीति, अर्थनीति, सत्ता और सामाजिक परिवर्तनों के प्रभाव का अध्ययन गहनता से करे। साथ ही उसके सांस्कृतिक, सामाजिक और साहित्यिक प्रभाव को दिखाने की कोशिश करे, तभी सही अर्थों में यथार्थवादी पद्धति का विकास किया जा सके।

3.1.राजनैतिक विचारधारा का विकास :

साठोत्तरी हिंदी कहानियों के दौर में देश की राजनैतिक परिस्थितियाँ अत्यधिक विषमता के दौर से गुजर रही थीं। देश को आजाद हुए लगभग 15 वर्ष हो चुके थे लेकिन वह सारे सपने जो एक आधुनिक भारत को बनाने के क्रम में देखे गये थे वह पूरे नहीं हो पाए। देश की सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियाँ संकट के दौर से गुजर रही थीं। 1962 में भारत-चीन युद्ध के होने के कारण और साथ ही इस युद्ध में भारत की पराजय ने देश के प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू के राजनीतिक व्यक्तित्व को बेहद नुकसान पहुँचाया। नेहरू का जादू लगातार मद्धिम पड़ता गया और वह एक ऐसे नेता साबित हुए जो जमाने की वास्तविकता से अनभिज्ञ था।

एक तरफ देश की राजनीति का स्वरूप बदल रहा था और दूसरी तरफ मध्यवर्ग की संवेदना का दबाव भारतीय समाज पर बढ़ रहा था। वैसे भी एक लंबे समय से मध्यवर्ग ने देश भर की राजनैतिक और सामाजिक चेतना पर अपना गहरा प्रभाव छोड़ा था जिसके कारण जैसे - जैसे इसने अपने चरित्र को बदला देश की राजनीति का चरित्र भी बदलने लगा। आजादी के बाद मध्यवर्ग एक निर्णायक वर्ग के रूप में उभरकर सामने आया जो उस समय सामाजिक परिवर्तन में सबसे सक्रिय भूमिका निभा रहा था।

राजनैतिक परिदृश्य में परिवर्तन तब शुरू हुआ जब 1964 में नेहरू की मृत्यु हुयी। इसके बाद देश की राजनीतिक विचारधारा ने करवट बदली। देश की जनता ने नेहरू की जगह पर किसी दूसरे राजनेता की कल्पना भी नहीं की थी। एक लंबे समय से भारतीय राजनीति में बड़े लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कांग्रेस आपस के छोटे- छोटे मतभेदों को अनदेखा करती आ रही थी लेकिन नेहरू के बाद पार्टी के भीतर के व्यक्तिगत संघर्ष खुलकर सामने आने लगे। एक सुखद भविष्य का सपना धरा का धरा रह गया और कांग्रेस अपने व्यक्तिगत झगड़ों के बीच फंसकर दो धड़ों में बंटकर रह गयी।

1966 में लालबहादुर शास्त्री के बाद इंदिरा गांधी प्रधानमंत्री बनीं। देश की जनता को इनसे बहुत उम्मीदें थीं सत्ता में आने से पहले इंदिरा की छवि एक संयमित और गरिमामय राजनेता की थी लेकिन जल्दी ही इस भ्रम का आवरण उतर गया। सत्ता में वर्चस्व की लड़ाई में विचारधारा हार गयी।

इस दौर में लगातार राजनैतिक विचारधार के प्रति उदासीनता और जीवन मूल्यों के प्रति अनास्थाओं को बढ़ावा मिला। व्यवहार और सिद्धांत की लड़ाई तेजी से बढ़ने लगी। भारतीय राजनीति में सत्ता का लोभ राजनेताओं में अब खुलकर सामने आने लगा। कांग्रेस का एकाधिकार बहुत लंबे समय तक चल नहीं सका और 1967 के आम चुनाव के बाद यह राजनीति में प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देने लगा। 1969 में कांग्रेस के

दोनों धड़ों ने अलग- अलग बैठकें कीं जिसका भारतीय जनता के ऊपर नकारात्मक प्रभाव पड़ना आरंभ हुआ। असल में भारतीय राजनीति को आकार देने में कांग्रेस की सरकार की प्रमुख भूमिका थी। राष्ट्रवादी आंदोलन के समय से इस राजनीतिक पार्टी का भारतीय समाज पर गहरा प्रभाव पड़ा था। इसक्रम में आजादी के बाद के दशक में इसके चरित्र में लगातार परिवर्तन आता दिखाई देता है।

वास्तविकता तो यह है कि किसी देश की राजनीतिक विचारधारा उस देश की सत्ता को लगातार प्रभावित करती रहती है। इसक्रम में भारतीय राजनीति में जनता की भागीदारी का स्वर्णिम इतिहास रहा है। लेकिन आजादी के बाद लगातार इस प्रक्रिया का ह्रास होता गया है। हम उस राजनैतिक परंपरा को समाज और साहित्य से खोते चले गये जिसमें समाज की सक्रिय भागीदारी होती थी। लोकतांत्रिक प्रक्रिया के भीतर लगातार भारतीय जनता के अधिकारों का हनन किया गया। कहने को तो हम आजाद थे लेकिन हम एक गुलामी का जीवन जीने की आदत को पाल चुके थे। इन सब के बीच साठोत्तरी कथा साहित्य की पृष्ठभूमि तैयार हो रही थी।

यह दौर संक्रमण काल के रूप में दिखाई देता है जहाँ आम जनता और देश की सत्ता के बीच संघर्ष लगातार बढ़ा। साथ ही देश की राजनीति के प्रति मध्यवर्ग की भूमिका लगातार बदलती हुयी दिखाई देती है। ऐसा लगता है कि इस वर्ग ने अपने सभी लोकतांत्रिक अधिकारों का दारोमदार देश की सत्ता को सौंप दिया। देश की सत्ता ने उनके लिए जो भी नियम निर्धारित किये यह वर्ग उसे सहर्ष स्वीकार करता गया। इस संदर्भ में पवन कुमार वर्मा ने लिखा है कि- राजनीति के नये प्रतिमानों के इस तात्पर्य ने आचरण और नैतिकता के वैकल्पिक विन्यास को जन्म दिया जिसने देखते ही देखते गाँधी - नेहरू की उपेक्षित होती जा रही विरासत को कुछ इस भांति दागदार बना दिया जिसतरह तेजाब इस्पात को बना देती है। ...शास्त्री जी के निधन के बाद जो राजनैतिक हंगामा हुआ और गर्द उड़ी, उससे यह निष्कर्ष साफ तौर पर निकला कि अब कोई भी हथकंडा अपनाया जा सकता है, बशर्ते उससे मतलब सिद्ध होता हो।[3]

इसप्रकार कांग्रेस के बदलते चरित्र ने भारतीय मध्यवर्ग को बहुत ही गहराई से प्रभावित किया। इसके बाद समाज में मध्यवर्ग की एक खास तरह की प्रवृत्ति विकसित होती दिखाई देती है। जिसका प्रभाव समाज के अन्य वर्गों, सहित्य तथा राजनीति आदि पर गहराई से पड़ता है। मध्यवर्गीय संवेदना इस समय की प्रभुत्वशाली विचारधारा के रूप में विकसित होती दिखाई देती है।

इस दौर में विकसित एक खास प्रवृत्ति यह थी कि अब किसी विचारधारा के प्रति कोई प्रतिबद्धता प्रत्यक्ष रूप से नहीं दिखाई देती है। राजनीति और विचारधार के संबंध इतने जटिल हो गये थे कि लोगों को लगने लगा कि विचारधारा केवल सत्ता को प्राप्त करने का एक यंत्र है। हमारी किसी भी विचारधारा के प्रति

प्रतिबद्धता तभी तक रहती है जब तक हम सत्ता हासिल नहीं कर लेते। एक बार सत्ता में आने के बाद विचारधारा का अंत हो जाता है। इसदौर में केवल कांग्रेस पार्टी में ही विभाजन नहीं हुआ वरन् वामपंथ समर्थक संगठनों में भी देश में चल रही गतिविधियों के प्रति विविध मत थे। जिसके परिणाम स्वरूप इनमें भी विभाजन होने का क्रम चला। अर्थात सत्तासीन और सत्ताहीन दोनों ही संगठन संक्रमण के दौर से गुजर रहे थे।

1966 में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का विभाजन एक प्रमुख घटना थी। भारत की आजादी के बाद देश में एक लंबे समय तक सीपीआई एक प्रमुख वामपंथी पार्टी के रूप में कार्यरत थी लेकिन कालांतर में तेलंगाना संघर्ष के संदर्भ में पार्टी में मतभेद हो गया। जिसके कारण संगठन के कुछ सदस्य इस विद्रोह का समर्थन कर रहे थे और कुछ विरोध। इस संदर्भ में प्रो. वीर भारत तलवार ने लिखा है कि- 1951 के दस्तावेज के अनुसार संघर्ष के वापस होने तक सीपीआई में फूट था। मगर सीपीआई के 1962-63 की फूट का उद्गम तेलंगाना संघर्ष के आखिरी दो सालों में है। सुंदरैया के अनुसार उस समय के मतभेद से दो परस्पर विरोधी धाराएं पैदा हो गयीं। जो उस समय तेलंगाना के संघर्ष का विरोध कर रहे थे वे आज सी पी आई में हैं और जो संघर्ष का समर्थन कर रहे थे वे आज सीपीएम में हैं। हांलाकि सीपीआई की फूट कम्युनिस्ट आंदोलन की अंतर्राष्ट्रीय फूट के साथ और उसकी भी वजह से हुयी।4

इसप्रकार यह वो समय था जबकि सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में कई तरह की धाराएं समाज में चल रही थीं। इस क्रम में सीपीएम और सीपीआई का विभाजन तो हुआ ही, साथ ही नक्सलबाड़ी आंदोलन के दौर में यह विभाजन और भी प्रखर और स्पष्ट हो गया। जब 1967 में चारू मजूमदार ने सीपीआई (एमएल) पार्टी का गठन किया तो चीन की सरकार की तरफ से इन्हें सहयोग भी प्राप्त हुआ। इस दौर में वामपंथ का विभाजन एक प्रमुख घटना थी और इसके बाद कभी भी देश की वाम शक्तियां इकट्ठी नहीं हो सकीं।

विभाजित विचारधार की शिकार केवल देश के वामपंथी संगठन ही नहीं थे वरन् कांग्रेस के भीतर भी नेतृत्व को लेकर खींचा तानी चल रही थी। पार्टी प्रमुख रूप से वामपंथी और दक्षिणपंथी विचारधारा में विभाजित हो गयी थी। 1967 में जब चौथे लोकसभा चुनावों का समय नजदीक आ रहा था उस समय लोहिया ने स्पष्ट शब्दों में कांग्रेस हटाओ का नारा दिया था। इसक्रम में सन् 1970 में जब सुप्रीम कोर्ट ने इंदिरा गांधी के प्रीवी पर्स को समाप्त करने के निर्णय को अस्वीकार कर दिया तो परिणाम स्वरूप इंदिरा गांधी जी ने देश में इमरजेंसी लागू कर दी। इसप्रकार यदि देखा जाए तो कांग्रेस की सरकार ने इस दशक में ऐसे बहुत से कार्य किये जिसके कारण आम जनता के बीच इसका अच्छा प्रभाव नहीं पड़ रहा था। इसी

असंतोष का प्रतिबिंब था बंगाल में नक्सलवाद का उभार जिसके कारण तत्कालीन सरकार के विरोध में सशस्त्र संघर्ष शुरू हो गया।

इन सब सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों का गहरा प्रभाव साहित्य पर पड़ रहा था। इस संदर्भ में स्वयं प्रकाश ने लिखा है कि- इस दशक की प्रमुख राजनैतिक घटनाएं हैं बांग्लादेश का उदय, नक्सलवाद का उभार, देश में आंतरिक आपातकाल की घोषणा और केंद्र में पहली बार गैर कांग्रेसी सरकार की स्थापना। इन घटनाओं का और खासकर नक्सलवादी उभार तथा आपातकाल का हिंदी साहित्य पर और हिंदी कहानी पर यदि कोई प्रभाव नहीं दिखाई देता तो यह आश्चर्य की बात होती।[5]

निःसंदेह समाज में घटने वाली घटनाओं का प्रभाव साहित्य पर पड़ता है और उस समय जब राजनैतिक और आर्थिक रूप से संक्रमण का काल हो यह और प्रभावशाली हो जाता है। भारतीय इतिहास में 1960-75 के बीच का समय आर्थिक रूप से उदारवादी नीतियों की पृष्ठभूमि को तैयार कर रही थी। यह एक संक्रमण काल था और इन सब के बीच इमरजेंसी का लागू होना देश की जनता के लोकतांत्रिक अधिकारों का हनन था। जिसकी प्रतिक्रिया जनता के बीच से हुयी और एक गैर कांग्रेसी सरकार को समर्थन प्राप्त हुआ।

नये तरह की आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियों के बीच समाज की संवेदना में लगातार परिवर्तन आता है जो इन्हीं परिस्थितियों से संचालित होता है। इस समय में समाज की संवेदना लगातार परिवर्तित हो रही थी जिसको साहित्य में अभिव्यक्ति मिल रही थी। वैचारिक मतभेदों की परिणति यह हुई कि अनेक राजनैतिक पार्टियों का निर्माण हुआ। इस प्रकार के मतभेद इस बात की तरफ इशारा करते हैं कि समाज में कई तरह की विचारधाराएं एक साथ सक्रिय थीं।

3.2.आर्थिक विचारधारा का विकास :

किसी देश के विकास में उसकी अर्थ नीति की निर्णायक भूमिका होती है। यही वो कारक है जो देश की सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी होता है। इसलिए यह जानना आवश्यक हो जाता है कि इस दौर में देश की सरकार ने अपनी आर्थिक नीतियों में किस तरह का परिवर्तन किया और इसके परिणाम क्या हुए।

ऐसा माना जाता था कि भारत की अर्थनीति अपनी प्रारंभिक अवस्था में प्रमुख रूप से समाजवादी रूझान लिए थी जिसका उद्देश्य गरीबी उन्मूलन, समता और सामाजिक न्याय आदि है। कालान्तर में इस तरह की योजनाओं का यथार्थ जनता के सामने आ गया। किसी भी योजना के सिद्धांत और उसे लागू करने के दौरान

आने वाली व्यावहारिक कठिनाईयों के बरक्स इसे समझा जा सकता है। इस संदर्भ में बहुत से विद्वानों ने मध्यवर्ग की संवेदना पर लगातार शक किया है, जैसा कि पवन वर्मा लिखते हैं कि- असलियत यह थी कि नेहरू के समाजवादी सपने को धरती पर ना उतार पाने की जिम्मेदारी में मध्यवर्ग भी काफी भागीदार था। हांलाकि वह गरीबों के पक्ष में राज्य की नीतियों को न्यायोचित मानता था, फिरभी वह अपने वर्ग हितों का त्याग करने के लिए कभी तैयार नहीं हुआ। नेहरू की नीतियां इस वर्ग के हित के द्वारा उलट दी गयीं और वे इसे रोक नहीं पाये।[6]

इसप्रकार यह देखा जा सकता है कि आजादी के बाद देश में लगातार शक्तिशाली होते गये मध्यवर्ग की संवेदना कितनी महत्वपूर्ण हो गयी थी, जिसके कारण सिद्धांत और व्यवहार का अंतर हमारे देश की आर्थिक नीति पर भी पड़ता हुआ दिखाई देता है। इसका खामियाजा देश की गरीब जनता को भुगतना पड़ा।

भारतीय इतिहास में साठोत्तरी दौर बेहद ही निर्णायक रहा है। जब देश की आर्थिक हालत कई तरह की कठिनाईयों से गुजर रही थी। सन् 1965-66 में बारिश कम होने के कारण खाद्यानों की भारी कमी हो गयी। एक कृषि प्रधान देश होने के कारण देश के बड़े हिस्से अकाल के शिकार हो गये। इसी बीच बांग्लादेश का उदय होना और वहां से आये शरणार्थियों का दबाव यहाँ की अर्थव्यवस्था पर पड़ना एक महत्वपूर्ण घटना थी। इस दबाव को कम करने के लिए लगातार भारतीय व्यापारियों की तरफ से आर्थिक सहायता का प्रस्ताव दिया जा रहा था। इस क्रम में यदि भारतीय उद्योगपतियों और व्यापारियों के चरित्र पर चर्चा की जाए तो कुछ तथ्य सामने आते हैं। वैसे भी एक लंबे समय से देश की राजनीति का व्यापारियों के साथ गहरा संबंध जुड़ गया था। व्यापारिक वर्ग के क्रमिक विकास के फलस्वरूप देश की सत्ता में इनकी भूमिका लगातार महत्वपूर्ण होती गयी। बांग्लादेश के बनने से सबसे अधिक फायदा इन्हीं जूट के व्यापारियों को हुआ जिनको सस्ती कीमतों पर जूट मिलने लगी और उसके निर्यात के अधिकतम अधिकार इन्हीं के हाथों में आ गये।

यह सिर्फ एक उदाहरण है। इसके अलावा इस दौर में ऐसे बहुत सारे निर्णय सरकार की तरफ से लिए गये जिनका फायदा सीधे तौर पर व्यापारियों को हो रहा था। इस क्रम में बैंकों का राष्ट्रीयकरण एक प्रमुख घटना थी, जिसका फायदा देश का पूंजीपति वर्ग लगातार उठाता गया। इस संदर्भ में जी. डी. सिंह ने लिखा है कि- श्रीमति इंदिरा गांधी ने बैंकों का राष्ट्रीयकरण करके एक तीर से दो निशाने मारे। एक ओर तो उन्होंने अपने आप को पूंजीवादी विरोधी होनो का दावा करके जनता की सहानुभूति कुछ देर के लिए जीती और इस तरह विरोधी कांग्रेस के ऊपर हावी हो गयी और दूसरी तरफ पूंजीवाद को और भी मजबूत कर

दिया और इसके साथ कम्युनिस्ट पार्टियों और तथाकथित प्रगतिशील पार्टियों को पंगु बना दिया।[7] इसका कारण यह भी था कि देश का पूंजीपति वर्ग पहले से ही समृद्धशाली हो चुका था और सरकार के द्वारा चलाई गयी वह सभी नीतियाँ जिसपर सबका हक था उसपर अकेले कब्जा करके बैठ जाता था।

इसतरह लगातार कांग्रेस की सरकार ने ऐसी आर्थिक नीतियों को बढ़ावा दिया जिसके कारण सामाजिक सरोकारों का लगातार क्षय होता गया। इसके खिलाफ कई शक्तिशाली आंदोलन सिर उठाने लगे। विरोध के यह स्वर प्रमुख रूप से समाज के हाशिये पर रहने वाले वर्ग की तरफ से उठ रहे थे। नक्सलबाड़ी आंदोलन इनमें से एक प्रमुख आंदोलन के रूप में भरकर सामने आता है।

इस समय भारत की सरकार ने किसानों के लिए भी कई ऐसी नीतियों का निर्माण किया जो उनके सामंतवाद विरोधी चरित्र का निर्माण करने में सहायक बने। लेकिन वास्तविकता कुछ और ही थी। 1952-54 में जमींदारी उन्मूलन जैसे भूमि सुधार के उपायों ने गाँवों की यथास्थिति को एक हद तक ही बदलने का कार्य किया। निःसंदेह इस तरह के अधिनियमों से बहुत सारी जमीनों का समान वितरण करने में सहायता प्राप्त हुयी लेकिन यह उपाय कारगर नहीं था। इसके बाद हरित क्रांति करने का निर्णय भी लिया गया ताकि खेती योग्य भूमि में पैदावार को बढ़ाया जा सके। इसके लिए सरकार की तरफ से सस्ती कीमतों में अधिक अन्न उपजाने वाली बीजों का वितरण किया गया। इस संदर्भ में पवन वर्मा ने लिखा है कि- मझोले कद के किसानों की आमदनी बढ़ाने में कई सरकारी नीतियों ने मदद की जिनमें पैदावार के समर्थन -मूल्यों की घोषणा, सिचांई, बिजली, खाद और डीजल की रियायती दरों के साथ - साथ संस्थागत ऋण और खेती से आमदनी पर नहीं के बराबर कर लगाना शामिल था। दूसरे इन नीतियों से लाभान्वित होने वाले किसान व्यवस्था का अपने पक्ष में दोहन करने के हथकंडे से भी लैस थे।[8]

इसप्रकार सरकार की तरफ से जिन नीतियों का भी निर्माण किया गया जब वह लागू की गयीं तो उसका स्वरूप परिवर्तित हो गया। कांग्रेस की सरकार के द्वारा किया गये दावों और उसके क्रियान्वयन के बीच एक बड़ी खाई दिखाई देती है। इनसब का एक प्रमुख कारण भ्रष्टाचार भी था जो एक खास तरह की आर्थिक व्यवस्था के बीच अपने पैर फैला रहा था। इस व्यवस्था के बीच मध्यवर्ग की स्थिति सबसे अधिक संदेहास्पद हो गयी। एक तरफ वह धीरे- धीरे अपने पैर फैला रहे रिश्वतखोरी और कालाबाजारी का विरोध करता था और कुछ समय के बाद उसका लाभ उठाने के लिए उसमे भागीदार हो जाता था जिससे इस दौर में मध्यवर्ग की अवसरवादी प्रवृत्ति उभरकर सामने आती है। सरकार के द्वारा चलाए जा रहे आर्थिक योजनाओं का लाभ उठाने के लिए एक अवसरवादी वर्ग बैठा हुआ था। जो हर नियम कानून का स्थानापन्न ढूंढ कर उसका उपयोग अपने निजी स्वार्थ के लिए कर रहा था। इसतरह समाज के गरीब और

जरूरतमंद लोगों तक किसी भी योजना का लाभ नहीं पहुँच पा रहा था।

इन विवरणों से स्पष्ट है कि जहां एक तरफ देश की सरकार बिना किसी उत्तरदायित्व के देश के व्यापारियों के पक्ष में नियम कानून बना रही थी वहीं दूसरी तरफ मध्यवर्ग भी अपने निजी स्वार्थ के लिए इसका दोहन भी कर रहा था। इसी कारण जो भी आर्थिक योजनाएं बनीं वह सफल नहीं हो पायीं। यह योजनाएं सरकार और आम जनता और विशेष रूप से मध्यवर्ग के निजी स्वार्थों की शिकार हो गयीं।

इन असफल आर्थिक योजनाओं का सीधा प्रभाव समाज के सांस्कृतिक चेतना पर पड़ता है। जिसके कारण इस दौर के समाज के बदलती चेतना का प्रभाव साहित्य में भी निराशा, उदासी और विचारधारा से विचलन के रूप में मिलता है। इन विपरित सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियों के बीच बहुत कम ऐसे साहित्यकार थे जिन्होंने वास्तविक सामाजिक यथार्थ के बीच परिवर्तन की चाह में रचनाएं लिखीं। मध्यवर्ग की दोहरी और स्वार्थ भरी सामाजिक संवेदना साहित्य के मूल भाव के रूप में उभरकर सामने आयी। शायद इसीलिए इस दौर की कहानियों में मध्यवर्ग ही छाया हुआ है जो उस समय में बहुत कम प्रतिशत में समाज में उपस्थित था। इस दौर के रचनाकार किसानों, मजदूरों और कामकाजी निम्नवर्ग की महिलाओं की समस्या को अनदेखा करते दिखाई देते हैं। इसतरह देश की अर्थव्यवस्था ने इस समय के साहित्य और समाजे को गहरे अर्थों में अवसरवादी बनाने का कार्य किया।

3.3. सामाजिक विचारधारा का विकास :

समाज में उत्पन्न राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियों में परिवर्तन का प्रभाव सामाजिक संबंधों पर पड़ता है। साठ के दशक में देश की आर्थिक स्थिति में तेजी से परिवर्तन हो रहा था। जिसके कारण धीरे - धीरे भारत के सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन आता है। मध्यवर्गीय संवेदना का विकास इस समय प्रमुख रूप से दिखाई देता है। पारंपरिक जीवन मूल्यों में परिवर्तन होता दिखाई देता है, जिसका प्रभाव परिवार की संरचना और आपसी संबंधों पर भी पड़ता है।

इस बदली हुयी पारिवारिक संरचना ने लोगों के जीवन को बहुत गहराई से प्रभावित किया है। कहने को लगातार आधुनिक होने वाले समाज में कई तरह की विसंगतियां पैदा होती दिखाई देती हैं। आधुनिकता के नाम पर लगातार आधुनिक जीवन शैली का वरण करने वाली पीढ़ी के सामने सामाजिक प्रश्न बहुत कम थे। यह पीढ़ी भी आपने व्यक्तिगत सुख से बाहर आकर कुछ सोचने की स्थिति में दिखाई नहीं देती है। इसलिए इस दौर में आयी आधुनिकता की विचारधारा के मूल तत्वों के स्वरूप को समझने की जरूरत महसूस होती है। साथ ही उन कारणों को देखने की आवश्यकता पड़ती है जिसने आधुनिकता के मायने बदल दिये और

अपनी परंपरा के शाश्वत जीवन मूल्यों को भी त्यागने के लिए मजबूर किया।

मध्यवर्गीय संवेदना का स्वरूप आजादी से पहले के साहित्य में स्पष्ट नहीं था। आजादी के बाद साहित्य में इस वर्ग ने स्थान प्राप्त करने के साथ- साथ अपनी संवेदना को भी अत्यंत प्रभावशाली ढंग से स्थापित किया। इस दौर में साहित्य में विकसित भोगे हुए यथार्थ और अनुभव की प्रामाणिकता जैसे विचार इस मध्यवर्गीय संवेदना के प्रभाव में ही विकसित होते हैं।

धर्म सदैव से ही भारतीय समाज का एक महत्वपूर्ण अंग रहा है। इसलिए जब भी कोई बड़ा राजनैतिक और सामाजिक परिवर्तन आता है तो समाज की धार्मिक प्रवृत्तियों में परिवर्तन आता है। आजादी के बाद विभाजन की घटना इस बात की तरफ संकेत करती है कि देश में अलगाववादी शक्तियां मजबूत हो गयी थीं। अलगाव की यह प्रवृत्ति लगातार कम होने के बजाए बढ़ती गयी खासतौर पर हिंदू और मुसलमानों के बीच। अपने-अपने धर्म को लेकर इससे संलग्न जनता अत्यधिक संवेदनशील होती गयी जिसके कारण आजादी के बाद के समाज में साम्प्रदायिकता की भावना का लगातार विकास दिखाई देता है। इन सब के साथ समाज में विस्तार पा रही इस आधुनिकता ने परिवार की संरचना तो बदली ही, साथ ही स्त्री-पुरूष के संबंधों को भी परिवर्तित किया। बदलते हुये इन संबंधों की अभिव्यक्ति कहानियों में दिखाई देती है।

3.3.क. परंपरा और आधुनिकता की विचारधारा :

समय परिवर्तन का प्रभाव समाज और साहित्य के आपसी संबंधों पर पड़ता है। यह परिवर्तन किसी खास सामाजिक परिस्थिति में सकारात्मक होती है और कभी -कभी नकारात्मक। इस संदर्भ में आधुनिकता की संकल्पना पर विचार करने पर कुछ मौलिक प्रश्नों के साथ जूझना पड़ता है। जैसे आधुनिकता क्या है? आधुनिकता और मनुष्य का आपसी संबंध क्या है? आधुनिकता और परंपरा, सभ्यता और संस्कृति का आपसी द्वंद, आधुनिकता और सामाजिक परिवर्तन आदि ऐसे तत्व हैं जिनके आपसी संबंधों को समझना आवश्यक है।

इसप्रकार के मौलिक प्रश्नों से टकराकर आधुनिकता के सही अर्थ और जीवन मूल्यों के साथ उसके आपसी संबंधों को समझा जा सकता है। समाज में पैदा होने वाला कोई नया विचार अपने पहले आने वाले विचारों से स्वयं को आधुनिक घोषित करता है या यह बताता है कि तत्कालीन समाज में इस विचार की क्या आवश्यकता है। इसतरह कोई आधुनिक विचार समय और स्थान के अनुसार अपनी प्रासंगिकता को तय करता है।

इस तरह आधुनिकता की अवधारणा के विशेष संदर्भ में यदि हिंदी साहित्य के इतिहास को देखा जाए तो

कई महत्वपूर्ण तत्व सामने आते हैं। आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक लगातार समाज और साहित्य का आपसी संबंध बदलता रहा है। कभी कुलीन वर्ग साहित्य के केंद्र में रहे हैं और कभी आम जनता, कभी मध्यवर्ग तो कभी सबअल्टर्न या हाशिये का समाज। महत्वपूर्ण यह है कि इन तमाम वर्गों नें साहित्य और समाज के आपसी संबंध को कितना मजबूत किया, कितनी शक्ति प्रदान की।

एक समय था जब आदिकालीन साहित्य के केंद्र में कवियों का अधिकतर समय राजाओं के गुणगान में बीतता था। समय बीतने के साथ कुछ विशेष सामाजिक परिस्थितियों के बरक्स साहित्य में भक्तिकाल का उदय होता है। इस समय ऐसा माना जाता है कि तमाम सामाजिक वर्जनाओं के विरोध में आवाज खास साहित्यिक अंदाज में उठाई गयी। भक्ति के आवरण में जात-पात का विरोध, धार्मिक पाखंडों का विरोध, आपसी सामाजिक समन्वय के सिद्धातों की स्थापना की गयी। हिंदी साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल एक ऐसा समय था जब ना केवल सैद्धांतिक स्तर पर आधुनिकता के तत्व दिखाई दिये वरन् व्यवहार के स्तर पर भी आधुनिकता दिखाई दी।

इसके बाद के समय में आने वाले साहित्यिक आंदोलन के अंतर्गत कई महत्वपूर्ण परिवर्तन देखने को मिलते हैं। यह युग ना केवल भाषा के स्तर पर परिवर्तित होता है वरन् यहाँ कई तरह की साहित्यिक विधाओं का विकास होता दिखाई देता है। ऐसा माना जा सकता है कि हिंदी साहित्य में जो बीज भक्तिकाल में बोये गये थे वह आधुनिक काल में आकर पुष्पित पल्लवित होते हैं। इस संदर्भ में हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा कहा गया कथन सत्य होता प्रतीत होता है जिसके अंतर्गत वह कहते हैं कि- कोई भी आधुनिक विचार आसमान में नहीं पैदा होता है। सबकी जड़ परंपरा में गहराई तक गयी हुयी है। सुंदर से सुंदर फूल यह दावा नहीं कर सकता है कि वह पेड़ से भिन्न होने के कारण उससे एकदम अलग है।...इसीप्रकार कोई भी आधुनिक विचार यह दावा नही कर सकता है कि वह परंपरा से कटा हुआ है। सभ्यता, संस्कृति और साहित्य के विकास में नयी आर्थिक और राजनैतिक परिवर्तन के परिणामस्वरूप आने वाली आधुनिकता के तत्वों में कुछ नये तत्व होते हैं तथा कुछ के बीज इतिहास में मौजूद होते हैं।[9]

इसप्रकार गद्य विधाओं का जन्म आधुनिक सामाजिक परिस्थितियों की देन मानी जाती है। जिसके बीज हमारे इतिहास में मौजूद थे तत्कालीन रचनाकारों ने अपने समाज की आवश्यकता के अनुसार इसके स्वरूप को निर्मित किया। कहानी का स्वरूप ऐसा है कि उसमें संवेदनात्मक तीव्रता अत्यधिक होती है। खासतौर पर भारतीय भाषाओं की कहानियों में कई तरह के रंग देखने को मिलते हैं। उर्दू, बंगाली, मराठी भाषाओं की कहानियों की एक संमृद्धशाली परंपरा देखने को मिलती है।

हिंदी साहित्य में कहानी के प्रारंभिक 50 वर्षों तक कई तरह के संवेदनात्मक और स्वरूपात्मक परिवर्तन

देखने को मिलते हैं। राष्ट्रवादी आंदोलन के दौर में हिंदी कहानी को प्रेमचंद जैसे कहानीकार ने अत्यधिक समाज सापेक्ष बनाया। इन्होंने कहानी के केंद्र में उन तत्वों को स्थान दिया जिनको एक लंबे समय से अनदेखा किया गया था। इनकी कहानियां इतिहास और भविष्य की गहरी समझ रखती हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद का समय भारतीय समाज के लिए एक प्रकार के मोह भंग का काल था। इस दौर में नयी कहानी आंदोलन की शुरूआत एक नये तरह की संवेदना को लेकर साहित्य में आती है। यह दौर एक गहरे अवसाद से भरा था जिसका प्रभाव कहानियों पर भी देखने को मिलता है। आजादी के बाद जिस मध्यवर्ग का उभार भारतीय समाज के बीच में पारिवारिक और सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन लाता है। उसके बरक्स इस दौर की कहानियों में आधुनिक समाज के चित्र को उभारने की कोशिश की जाती रही। यह संवेदना लगातार एक अंधकारमय भविष्य की तरफ इशारा करती रही। साठ के दशक के बाद की कहानियों में जिसप्रकार के आधुनिकता के दर्शन होते हैं उसकी जानकारी के लिए इस समय की कहानियों पर दृष्टिपात करने की आवश्यकता है।

नयी कहानी आंदोलन के दौर में निर्मल वर्मा, कमलेश्वर और मोहन राकेश के नेतृत्व में जो आंदोलन चला वह कथा संवेदना साहित्य को नयेपन का एहसास तो कराती है लेकिन आधुनिकता के नाम पर इस साहित्य में अधिकांशतः पुरातन जीवन मूल्यों की आलोचना दिखाई देती है। 1960 के दशक के बाद नयी कहानी की यही परंपरा विकसित होती रही। लेकिन कहानी के इस दौर में कई तरह के आंदोलनों का विकास दिखाई देता है। इस संदर्भ में केवल गोस्वामी ने लिखा है कि- कहानी की पारंपरिक भाषा शैली को आधुनिकता के सजीव चित्रण के लिए अनुपयुक्त मानकर नवीन शिल्प का आख्यान किया गया। निःसंदेह इस युग के कहानीकारों ने अपनी प्रतिभा और सशक्त शिल्प से कहानी विधा को अमुल्य निधियाँ प्रदान की हैं।[10]

यह देखने को मिलता है कि साठोत्तरी कहानियां अपने नये तरह के शिल्प के कारण सदैव केंद्र में रही हैं। लेकिन केवल शिल्प की नवीनता पर कोई आंदोलन अधिक समय तक नहीं चलाया जा सकता है। साठोत्तरी कहानियों में जिस तरह का भी नयापन है वह शिल्प पर केंद्रीत है जबकि अंतर्वस्तु में कोई विस्तार नहीं दिखाई देता है। साहित्य में रूप तथा अंतर्वस्तु का संबंध एक दूसरे के साथ द्वंद्वात्मक होता है जिसके परिणाम स्वरूप यह दोनों ही एक दूसरे को लगातार प्रभावित करते रहते हैं।

हिंदी कहानी के इतिहास में साठोत्तरी कहानियां का काल एक तरह के मोह भंग के दौर के नाम से प्रचलित है। नये तरह की आर्थिक परिस्थितियों के बीच जो सामाजिक संवेदना विकसित हो रही थी उसने समाज के सामंती स्वरूप को नष्ट करने का कार्य किया। इसके अलावा नगरीकरण की जो प्रक्रिया आरंभ हुयी उसके

कारण एक पढ़ा लिखा बड़ा वर्ग नगर का हिस्सा बना जिसके कारण इनके बीच के सामाजिक संबंधों में परिवर्तन आया। इसके अतिरिक्त शहर में रहने वाली आत्मनिर्भर औरत के जीवन में भी कई तरह के परिवर्तनों को देखा जा सकता है। इस प्रकार की जीवन शैली ने स्त्री और पुरूष के पारंपरिक संबंधों को बदलने का कार्य किया।

इस समय के रचनाकारों ने अपने साहित्य में बदलते हुए औरत-मर्द के रिश्ते को बखूबी दिखाने की कोशिश की है। इस संदर्भ में मन्नू भंडारी, कमलेश्वर, मोहन राकेश, ज्ञानरंजन आदि प्रमुख हैं। मिस पॉल, यही सच है, वापसी, राजा निरबंसिया, नीली झील, मेरी प्रेमिका, पांचवे माले का फ्लैट, रानी माँ का चबूतरा, लंदन की एक रात, परस्त्रीगमन, दोजखी आदि अनेक ऐसी कहानियां हैं जिनमें इस युग के लेखकों ने बदलते समाज में स्त्री और पुरूष के संबंधों को चित्रित किया है। इसके अंतर्गत कई स्थानों पर मध्यवर्गीय औरत है और कहीं निम्न वर्गीय। किस प्रकार सामाज के अलग-अलग वर्गों में पति-पत्नी, प्रेमी-प्रेमिक के अलावा एक सहकर्मी के रूप में औरत और मर्द के रिश्ते बदलते हैं, इसपर इस युग के रचनाकार संजीदा लेखन प्रस्तुत करते हैं।

इन कहानियों में सबसे प्रमुख कहानियों पर दृष्टिपात करने की आवश्यकता है। मिस पाल एक महत्वपूर्ण कहानी बनकर उभरती है। अपने समय में यह कहानी एक पढ़ी- लिखी और बाहर काम करने वाली औरत के जीवन के दर्द को बखूबी दिखाती है। इसके अलावा मोहन राकेश ने विभाजन पर भी मार्मिक कहानी लिखी है जिसका नाम है मलबे का मालिक। इस कहानी में मलबा जो तैयार है वह साम्प्रदायिक सौहार्द का है जिसके समाप्त हो जाने पर विभाजन जैसी घटना घटित होती है। इस समय के लेखको ने इतिहास के बरक्स भविष्य की जैसी कल्पना की थी, वर्तमान समय में हम उसी समाज में जी रहे हैं। इस संदर्भ में बच्चन सिंह जी ने कहा है कि- मोहन राकेश की कहानी मलबे का मालिक की ओर पहले पहल लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ। यह 47 में भारत वर्ष में राजनैतिक विभाजन के फलस्वरूप पैदा हुयी मनःस्थिति पर आधारित है। देश के विभाजन की परिणति व्यापक रक्तपात में ही नहीं हुयी बल्कि दो संम्प्रदायों के बीच दुराव, संदेह, त्रास, घृणा आदि मानसिक अवधारणाओं से हुयी।[11]

इसप्रकार विभाजन के दौर में दो विभिन्न धर्मों के बीच पैदा की गयी इस सामाजिक वैमनस्य का इलाज आज तक नहीं किया जा सका। हमारा समाज लगातार अपने सामाजिक इतिहास से सीख लिये बगैर अतीतग्रस्तता के युग में जीता रहा और समाज का एक खास वर्ग इस वैमनस्य का लाभ उठाता गया।

साम्प्रदायिकता के संदर्भ में कृष्णा सोबती ने भी कई महत्वपूर्ण कहानियां लिखी हैं। सिक्का बदल गया, डरो मत मै तुम्हारी रक्षा करूँगा जैसी प्रमुख कहानियाँ इनके द्वारा लिखी गयीं जिनमें दंगों के बीच में एक औरत

के जीवन की विडंबना को दर्शाया गया है।

वहीं दूसरी तरफ मध्यवर्गीय समाज में पारंपरिक जीवन मूल्यों के क्षरण को लेखकों ने बहुत ही बेहतर ढंग से दिखाया है। इस संदर्भ में ज्ञानरंजन एक महत्वपूर्ण लेखक बनकर उभरते हैं। इनकी कहानी पिता और फैंस के इधर- उधर कालजयी कहानियाँ हैं। इन कहानियों में परंपरा और आधुनिकता के बीच के द्वंद को दिखाया गया है। इस संदर्भ में बच्चन सिंह ने माना है कि बदले बुए रिश्ते को लेकर जो कहानियां लिखी गयीं उनमें ज्ञानरंजन की उक्त कहानियाँ महत्वपूर्ण हैं।[12]

यह सत्य है कि इस दौर की कहानियों में एक खास प्रकार की परंपरा विरोधी प्रवृत्ति देखने को मिलती है। लेकिन यह कहीं पर भी आधुनिकता के अंधाधुंध वरण पर भी जोर नहीं देती हैं। वास्तविकता तो यह है कि यहाँ आधुनिकता और परंपरा के वह तत्व जो एक आधुनिक समाज की प्रगति में बाधक बनते हैं उसकी तरफ इशारा किया गया है। एक प्रकार की अतिवादिता जो आगे बढ़ने से रोकती है। ज्ञानरंजन की पिता और फैंस के इधर- उधर कहानी में इन दोनों तरह की सामाजिक संरचना की अतिवादी प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाला गया है। जहाँ पिता कहानी में पिता का चरित्र परंपरागत मूल्यों को स्थापित करता है वहीं दूसरी तरफ बेटे का चरित्र ऐसा है जो उसे लगातार आधुनिकता के फ्रेम में फिट करने की कोशिश करता है। साठ के बाद की नयी आर्थिक व्यवस्था ने सामंती सामाजिक संरचना को नष्ट करने की प्रक्रिया आरंभ की लेकिन इसी के साथ-साथ इस व्यवस्था ने कुछ शाश्वत जीवन मूल्यों को भी नष्ट करने का कार्य किया। जिसका परिणाम आने वाली पीढी के सामने मौजूद था। टूटती हुयी पारिवारिक संरचना ने अकेलेपन की विडंबना को और अधिक बढ़ाने का कार्य किया। इसके अलावा नगरीकरण के फलस्वरूप जो नये तरह की पारिवारिक संरचना विकसित हो रही थी उसके अंतर्गत आधुनिकता और परंपरा का द्वंद्व लगातार चलता रहा, जिसका चित्र लेखकों ने इस दौर की कहानियों में उकेरा है।

इस नयी पारिवारिक संरचना में अकेलापन एक प्रमुख कारक है जिसने मानवीय जीवन को बदलने का कार्य किया। इस क्रम में निर्मल वर्मा मोहन राकेश और कमलेश्वर आदि सामाजिक जीवन से लगातार अलग होते जाने वाले मानवीय जीवन की विडंबना को अपनी कहानियों में दिखाते हैं। निर्मल वर्मा की कहानियों में खास तौर पर अकेलापन एक केंद्रीय कथ्य की भांति आता है। परिंदे कहानी इस संवेदना के विकसित होने के दौर की कहानी है जहां कहानी के अंत में आशा की एक किरण दिखाई देती है वहीं दूसरी तरफ लंदन की एक रात कहानी इस विडंबना का निराशावादी अंत प्रस्तुत करती है।

दूसरी तरफ कुछ ऐसे रचनाकार थे जिनकी कहानियों में व्यक्ति की संवेदना से अधिक महत्व समाज को दिया गया। वहाँ इस अकेलेपन को विकसित करने वाले सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक तंत्र पर अधिक जोर दिया गया। जिसके अंतर्गत भीष्म साहनी, अमरकांत, मन्नू भंडारी, ज्ञानरंजन आदि प्रमुख रचनाकार आतें हैं। इनकी कहानियों में हमारे सामाजिक तंत्र की भूमिका स्पष्ट रूप से दिखाई देती है।

इसप्रकार साठ के बाद के दशक में आधुनिकता की जो अवधारणा साहित्य में विकसित होती दिखाई देती है उसके परिणामस्वरूप समाज में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन दिखाई देतें हैं। इनमें से एक संयुक्त परिवार के विघटन की अवधारणा थी जिसके अंतर्गत व्यावहारिक रूप से अकेलापन की विसंगति से समाज जूझता हुआ नज़र आता है। यही अकेलापन इस समय की कहानियों में प्रमुख रूप से दिखाई देता है।

3.3. ख.मध्यवर्ग का स्वरूप :

भारतीय समाज में उच्च पढ़े लिखे वर्ग और निम्न वर्ग को छोड़कर एक तीसरे वर्ग ने समाज में अपना स्थान बना लिया था। इस वर्ग को मध्यवर्ग की संज्ञा दी गयी। स्वतंत्रता आंदोलन के दौर में उभरने वाले इस वर्ग ने राष्ट्रवादी आंदोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। आजादी के बाद यह वर्ग भारतीय समाज पर अपनी संवेदनात्मक विसंगतियों के साथ प्रभाव जमाने लगा था। इस समय के साहित्य और समाज पर उसका प्रभाव स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आने लगा था।

साठ के दशक के बाद की राजनैतिक परिस्थितियां कुछ इस प्रकार की बनीं जिसने मध्य वर्ग के सपनों और आकांक्षाओं को लेकर अनिश्चितताओं को बढ़ाने का कार्य किया। अतीत की बनी बनाई सामाजिक संरचना उन्हें नाकाफी लगने लगीं। साठोत्तरी कहानियों में इसी मध्यवर्ग की संवेदना को मुख्य रूप से चित्रित किया गया है। भारत-चीन युद्ध में भारत की पराजय ने भारत के मध्यवर्ग को मोहभंग की स्थिति में ला दिया। इस संदर्भ में पवन वर्मा जी ने कहा है कि- 1962 की घटनाओं से भारतवासी हक्के बक्के रह गये। विभ्रम की दुनिया में आराम से वक्त गुजार रहे शिक्षित भारतवासियों को असलियत की झलक पहली बार दिखी। उन्हें पहली बार लगा की भविष्य की अनिश्चितताओं से निपटने के लिए अतीत की आस्थाएं और संस्थाएं नाकाफी हैं। उन्हें अपनी उम्मीदों के पूरा होने पर शक होने लगा और दिये गये आश्वासनों पर भरोसा घट गया। मध्यवर्ग के चिंतन में यह एक नये तरह की शुरूआत थी।[13]

मध्यवर्ग के टूटते सपनों को तत्कालीन साहित्य में शरण मिलती है। इस क्रम से इस युग के रचनाकार मध्यवर्ग के चकनाचूर होते सपनों पर साहित्य रचना करना आरंभ करते हैं। खोई हुयी दिशाएं, परिंदे, चीफ की दावत, यही सच है, एक और जिन्दगी, एक नाव के यात्री, भोलाराम की जीव आदि कहानियां मोहभंग की परिस्थिति को बयान करती हैं।

यह तो आरंभिक वर्ष था लेकिन मध्यवर्ग की यह प्रवृत्ति क्रमशः बढ़ती गयी। 1964 में नेहरू की मृत्यु के बाद यह प्रवृत्ति लगातार बढ़ती गयी। इसका कारण यह था कि नेहरू के बाद कांग्रेस की सरकार ने सत्ता में बने रहने के लिए तमाम तरह के हथकंडे अपनाए जिसके कारण आम आदमी लगातार इस लोकतांत्रिक प्रक्रिया से बाहर होता गया। सरकार की साम-दाम-दंड-भेद की इस नीति ने मध्यवर्ग की सोच पर बहुत बुरा असर डाला। इसका परिणाम यह हुआ कि वैचारिक रूप से यह वर्ग लगातार कमजोर होता गया। उसके लिए राजनीति का पर्याय केवल सत्ता में बने रहना बन गया।

इसप्रकार मध्यवर्ग का सार्वजनिक जीवन से लगातार अलगाव होता गया और वह अपने में ही संकुचित होता गया। इस घटिया राजनैतिक प्रक्रिया का सबसे बुरा प्रभाव यह पड़ा कि मध्यवर्ग के जीवन से विचारधारा लगातार गायब होती गयी और यदि वह बची भी तो सिद्धांत और व्यवहार के अंतर के साथ। इस समयावधि में ऐसी अनेक राजनैतिक घटनाएं हुयीं जिसके कारण मध्यवर्ग का चरित्र लगातार बदलता हुआ दिखाई देता है। राष्ट्रवादी आंदोलन के दौर में जिस पढ़े-लिखे मध्यवर्ग ने आंदोलन का नेतृत्व किया था, आजादी के बाद उस चेतना का वे विकास नहीं कर पाये। साम्राज्यवादी शक्ति के विरोध में जो लड़ाई लोकतंत्र के समर्थन में लड़ी गयी थी उसकी खामियॉ आजादी के बाद स्पष्ट रूप से सामने आने लगी थीं। सैद्धांतिक रूप से इस लोकतांत्रिक सरकार की जो कमियां जनता के सामने थीं वह सन् साठ के बाद कई व्यावहारिक गलतियों के साथ सामने आती हैं। इसके अंतर्गत इमरजेंसी का लागू होना एक प्रमुख घटना थी जिसने कांग्रेस की सरकार का असली चेहरा समाज के सामने लाने का कार्य किया। इसतरह की विषम सामाजिक परिस्थितियों में साहित्य की भूमिका बहुत ही महत्वपूर्ण हो जाती है लेकिन हिंदी कथा साहित्य का रूख लगातार परिवर्तित होता दिखाई देता है।

हिंदी कहानी ने इन विषम परिस्थितियों में अपने रूख को नहीं बदला। वह मध्यवर्गीय संवेदना को प्रदर्शित करने वाली विधा के रूप में ही अपना विकास करती रही। इस दौर में बहुत ही कम रचनाकार थे जिन्होंने अपनी पक्षधरता को स्पष्ट करते हुए रचना में सार्थक अभिव्यक्ति प्रदान की। लेकिन अधिकांश कहानियॉ मध्यवर्ग को केंद्र में रखकर लिखी गयीं। अनुभव की प्रामाणिकता और भोगा हुआ यथार्थ इस युग की कहानियों में कलात्मक यथार्थ को दिखाने का माध्यम बनीं। इस संदर्भ में केवल गोस्वामी ने लिखा है कि- इस जीवन को भोगने और देखने वाले कहानीकारों की कहानियों में अधिकांशतः अनास्था एवं संत्रास के स्वर मुखरित होने लगे किंतु साथ ही सामंती मूल्यों के क्षरण के कारण नये जीवन के प्रति लालसा की कहानियां देखने में आयीं।[14]

इसतरह इस युग की कहानियों में एक लंबी लिस्ट प्राप्त होती है जहॉ पर इन परिवर्तित सामाजिक

परिस्थितियों में मध्यवर्ग की परिवर्तित होती संवेदना को प्रदर्शित किया गया है। आवश्यकता इस बात को जानने की है कि इस वर्ग की संवेदना के परिवर्तन के वो कौन से बिंदु हैं जिसके कारण हिंदी कहानी की दिशा बदलती है।

आजादी के बाद के साहित्य में नयी कहानी के प्रणेता के रूप में राजेन्द्र यादव ने अपने कहानी संग्रह एक दुनिया समानांतर प्रकाशित की और साथ ही इसमें प्रकाशित कहानियों की नयी संवेदना के विषय पर एक लंबी भूमिका भी लिखी। जहाँ उन्होंने अनुभव की प्रामाणिकता और भोगे हुए यथार्थ को कथा रचना के लिए अत्यंत ही महत्वपूर्ण घोषित किया है। रचना प्रकिया पर एक लंबा लेख लिखने के क्रम में वह साहित्य लेखन में वर्तमान की प्रासंगिकता पर जोर देते हैं। इस क्रम में उन्होंने लिखा है कि- हर जगह से जला और हताश लेखक यह सोचता है- नहीं, वह किसी भविष्य और अतीत के प्रति प्रतिबद्ध नहीं है- वह प्रतिबद्ध है केवल अपने वर्तमान के प्रति, अपने उस सीमित यथार्थ के प्रति जो उसकी चेतना परिधि में आ गया है। वह किसी समाज या व्यक्ति की जिम्मेदारी नहीं ओढ़ेगा, वह जिम्मेदार है केवल अपने इस जीवित परिवेश के प्रति जो हमको बनाता है और जिसे हम मिलकर बनाते हैं, स्वंय जिसके अंग हैं।[15]

इसतरह से राजेंद्र यादव ने कलाकार की प्रतिबद्धता को रेखांकित करते हुए उसे सिर्फ अपने वर्तमान के प्रति प्रतिबद्ध घोषित किया है। इस प्रकार की प्रतिबद्धता कहाँ तक सफल हो सकती है इसपर ध्यान देने की आवश्यकता है। एक ऐसा देश जिसका इतिहास एक साम्राज्यवादी शक्ति से दो सौ वर्षों तक गुलाम होने का रहा हो। जिसके कारण गुलामी की एक लंबी परंपरा को ढोया गया हो उस देश के लिए इस प्रकार की संवेदना का विकास कितना सार्थक सिद्ध होगा।

जहाँ साहित्य सिर्फ भोगे हुए यथार्थ को प्रदर्शित करने का माध्यम बन जाए और उसका अपने इतिहास और भविष्य के साथ कोई भी संबंध ना रह जाए- साहित्य के प्रति इस प्रकार की सोच भारतीय समाज को सबसे अधिक नुकसान पहुँचा सकती है। जिसका साम्राज्यवादी शक्ति के साथ लड़ने का एक गौरवशाली इतिहास रहा हो वहाँ वो सिर्फ अपने वर्तमान के प्रति उत्तरदायी कैसे हो सकता है? उसे निश्चित रूप से अपने इतिहास और भविष्य का सामना करना पड़ेगा।

जहां तक हिंदी कहानी की बात है, इसी प्रकार की मानसिकता और संवेदना का विकास लगातार होता गया, जहाँ कहानी में वर्तमान के यथार्थ पर सबसे अधिक जोर था। इस समय की कहानियों में मध्यवर्ग का एक-सा चरित्र उभरकर सामने आता है जो अपने जीवन की विसंगतियों से लगातार जूझता है और एक अंधकारमय भविष्य उनके सामने खड़ा है। जिसका कोई भी हल रचनाकार प्रस्तुत नहीं कर पाते हैं। ऐसे अनेक रचनाकार हैं जिन्होंने इस रूप में मध्यवर्ग की विसंगतियों को उभारा है। मोहन राकेश, मन्नू भंडारी,

कृष्णा सोबती, ज्ञानरंजन, गुलशेर खाँ शानी, निर्मल वर्मा और कमलेश्वर आदि इस परंपरा के महत्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं।

3.3.ग. सांम्प्रदायिकता की विचारधारा :

वर्तमान सामाजिक परिस्थितियों में साम्प्रदायिकता एक विचारधारा के रूप में कार्य कर रही है। यह एक महत्वपूर्ण कारक बन जाता है जिससे हम अपने जीवन जगत को देखते हैं। सांप्रदायिकता का रूप कितना वीभत्स हो सकता है इसके प्रमाण हमारे इतिहास में मौजूद हैं। चाहे वह भारत-पाकिस्तान का विभाजन हो या हिंदू-सिख दंगों का समय या बाबरी-मस्जिद कांड इन सब ने हमें समय-समय पर साम्प्रदायिकता के कुरूप चेहरे को दिखाया है। फिर भी क्या कारण है कि हमारा भारतीय समाज इतिहास से सीख लिये बगैर लगातार साम्प्रदायिक बनता ही जा रहा है। क्यों एक लंबे समय से लगातार इसे भारत सरकार की तरफ से अनदेखा किया गया है। इस संदर्भ में प्रो. विपिन चंद्रा ने लिखा है कि- साम्प्रदायिकता अपने आप नहीं चली जाएगी, औद्योगीकरण और शिक्षा के प्रचार-प्रसार के सभी संभव कदम हमें उठाने ही पड़ेगे। खासतौर पर लोकतंत्र की यह अनिवार्यता ही है। समाज को विचारधाराओं के जरिए सांप्रदायिक बनाया जाता है। कोई थानेदार या तहसीलदार इसके लिए सरकारी आदेश लेकर नहीं आते। लोकतंत्र में संविधान की सहमति के बावजूद सांप्रदायिक दलों और संगठनों पर प्रतिबंध लगाना आसान नहीं है क्योंकि वे ऐलानिया तौर पर अपने आप को सांप्रदायिक नहीं कहते लेकिन अंदर से उनका आचरण वही होता है।[16]

इसप्रकार सांप्रदायिकता जैसे खतरनाक विचारधारा को रोकने के लिए एक सेक्युलर बैरिकेटर की आवश्यकता है। जिसको समाज में फैलाना बुद्धिजीवियों और सरकार का कार्य है। लेकिन यह तंत्र इस नफरत पर आधारित विचार की अनदेखी तो करती जा रही है और साथ ही लोगों को आपस में बांटकर उसपर राजनीति करके उसका लाभ उठाने में लगी है।

आखिर क्या कारण है कि धर्म और जाति की जड़ें हमारे समाज में इतनी गहरायी से जुड़ी हुयी हैं कि इन्हें खत्म कर पाना और इसका विकल्प ढूंढ पाना अत्यधिक कठिन कार्य है। यह सत्य है कि हम चाह कर भी अधर्मी नहीं बन पाते है क्योकि लगातार धार्मिक शक्तियों का हमपर दबाव होता है। धर्म के स्वरूप पर चर्चा करना इसलिए आवश्यक हो जाता है क्योंकि सांप्रदायिकता का धर्म के साथ बहुत गहरा संबंध है। धार्मिक कट्टरता सांप्रदायिकता के साथ जुड़ी हुयी विचारधारा है। जब कोई भी जाति या समूह अपने धार्मिक विश्वास के प्रति अति सचेत हो जाए तो अन्य धर्म के लोगों को सहन न कर पाने के क्रम में वह सांप्रदायिक हो जाता है।

भारत के इतिहास में विभाजन एक काले अध्याय के रूप में दर्ज है, जब इस समाज ने मनुष्यता को खोकर

धर्म के आधार पर दो देशों के निर्माण कार्य को सहमति दी। इस दौर में होने वाले सांप्रदायिक दंगों को ना तो हिंदू भूल पाये और ना ही मुसलमान।

इन तथ्यों को हिंदी साहित्य और खासकर कहानी और उपन्यास में महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। यशपाल का उपन्यास झूठा-सच, मन्नू भड़ारी का उपन्यास महाभोज, कमलेश्वर की कितने पाकिस्तान, आदि उस दौर की धार्मिक विडंबना को यथार्थवादी तरीके से साहित्य में उतारती हैं। इस संवेदना से साठोत्तरी कहानी भी अछूती नहीं रही। मोहन राकेश, कमलेश्वर, शानी आदि ने कहानियों में समाज में फैले सांप्रदायिकता के तत्व को बखूबी उभरा है।

यह वो समय था जब धार्मिक उन्माद की पृष्ठभूमि तैयार हो रही थी। जिसका प्रतिफल हमें चौरासी के दंगों, बानबे के बाबरी मस्जिद कांड, 2002 के गुजरात दंगों के साथ-साथ कई छोटे मोटे विवादों के रूप में देखा जा सकता है। कहीं ना कहीं इन तत्वों को इतिहास में अनदेखा किया जाता है जिसके कारण यह बार -बार दोहराई जाती हैं। भारतीय समाज में आधुनिकता के अंतर्गत धर्म की अवधारणा पर भी चर्चा करने की आवश्यकता महसूस की जानी चाहिए। फिलहाल इसे पूरी तरह से तो समाप्त नही किया जा सकता है लेकिन उन्माद वाली अवस्था प्राप्त किये जाने से बचाया जा सकता है।

ऐसा माना जाता है कि नेहरू की आधुनिकतावादी दृष्टि के अंतर्गत संगठित धर्म के प्रति बेहद अरूचि थी। लेकिन इनके विचार का अनुयायी मध्यवर्ग धर्म के संदर्भ में सिद्धांत और व्यवहार के अंतर के साथ बना रहा। नेहरू की मृत्यु के बाद खासतौर पर मध्यवर्ग का चरित्र धार्मिक मामलों में दोहराव का शिकार हो जाती है। इस संदर्भ में पवन वर्मा जी ने लिखा है कि- अपरिचय के माहौल में रह रहे लोग अपने पड़ोसी के बारे में भी कुछ नहीं जानते थे। हर व्यक्ति अपनी ही खुशी या दुख में लीन था। एपार्टमेंट में निवास करने वालों में सामुदायिक जीवन की संभावनाएं थी। लेकिन पहली बात तो यह थी कि यह जीवन शैली अपनी शैशवावस्था में थी और दूसरे इसमें सामुदायिक जीवन की ऊपरी शक्ल ही थी, उसका सार विकसित होना मुश्किल दिखाई पड़ता था। उसमें इतनी क्षमता नहीं थी कि वह अपनी जड़ों से कटे होने और अलगाव की व्यापक अनुभूति को दुरूस्त कर सके। निर्वैयक्तिक सामाजिक संरचना में फंसे व्यक्ति ने इसलिए धर्म की शरण प्राप्त की।[17]

इसप्रकार यहाँ धर्म सामाजिकता के स्थानापन्न के रूप में नजर आता है। जीवन जगत के रहस्य सामाजिकता ना होने के कारण धार्मिकता में परिवर्तित हो जाते हैं। लेकिन कई अर्थों में यह तथ्य सत्य नहीं होता है क्योंकि सामाजिकता में होते हुए भी कई समाज गहरे अर्थों में धार्मिक होते हैं और उनके लिए धर्म

कोई व्यक्तिगत चीज़ नहीं होती है। वह उन्हें नुकसान पहुँचाने का कार्य करते हैं जो उनकी धार्मिक संवेदना के साथ सहमति नहीं रखते हैं। तभी धर्म का महत्व अत्यधिक बढ़ जाता है जब वह समाज के सामने अपना कुरूप चेहरा लेकर आता है। इसके कुरूप चेहरे से हम इतिहास में वाकिफ हो चुके थे। यह भी एक सच है कि सांप्रदायिकता एक सामाजिक समस्या है और इसका हल भी समाज के भीतर से ही निकालना पड़ेगा। तत्कालीन साहित्यकारों ने इस तथ्य की आवश्यकता को समझते हुए साहित्य में इसका उल्लेख किया। खासतौर पर भारत के मध्यवर्ग का चरित्र जो इस समय एक निर्णायक वर्ग के रूप में कार्य कर रहा था उसमें सांप्रदायिकता को लेकर संवेदनशीलता पैदा करना आवश्यक कार्य था। धर्म के संबंध में एक सेक्युलर विचार रखना बहुत आवश्यक कार्य था। इसके निवारण के संदर्भ में विपिन चंद्र लिखते हैं कि- सांप्रदायिकता के खिलाफ लड़ाई वास्तव में ठिकानों की लड़ाई है। यह कई मोर्चों पर लड़ी जानी है और जब तक जीत नहीं हो जाती तब तक धर्मनिरपेक्षता की सेनाएं लगातार आगे नहीं बढ़ती रह सकती। अक्सर इस या उस मोर्चे पर मात मिलेगी लेकिन हर मात को विजय के तौर पर देखना सबसे बड़ी भूल होगी। किसी भी हालत में हमें हार नहीं माननी है। आखिर एक विचारधारा सौ साल से पनपती चली आ रही है और लोगों के मन में इसकी गहरी जगह है। इसलिए वह एक छोटे से कालखंड में लुप्त नहीं होगी।[18] इसप्रकार सांप्रदायिकता के खिलाफ लड़ी जाने वाली लड़ाई को कई मोर्चों से लड़े जाने की आवश्यकता है। साठ के दशक के बाद आधुनिकता की जो पश्चिमी बयार चली है उसके अंतर्गत हमारा रहन-सहन तो आधुनिक हो गया लेकिन धर्म को लेकर समाज में एक मजबूत आधार बना रहा जिसने लगातार इसकी जड़ों को मजबूती प्रदान की।

शिक्षा के प्रसार के समय जब अधिक से अधिक साहित्य समाज तक पहुँचने लगा तो इस समय में शिक्षाविद् और इतिहासकारों की भूमिका समाज में महत्वपूर्ण हो जाती है। एक समाज या समूह की विचारधारा को विकसित करने में इतिहासकारों की प्रमुख भूमिका होती है। इतिहासकार और शिक्षाविद् इतिहास में की गयी गलतियों को उसके भविष्योन्मुखी समाधान के साथ प्रस्तुत करता है। इस संदर्भ में सांप्रदायिकता की विचारधारा का विकास करने में ना केवल इतिहासकारों वरन् कलाकार और साहित्यकारों की भूमिका भी महत्वपूर्ण हो जाती है। भारतीय इतिहास की पुस्तकों में मुगलकालीन इतिहास के संदर्भ कई तरह की विवादास्पद बातों को वर्णित किया गया है। इतिहास में विभाजन की त्रासदी को झेलने के कारण साहित्यकार इसके प्रति सचेत नज़र आते हैं और इस विषय को लेकर कथाकारों ने कहानियाँ भी लिखी हैं।

3.4. अस्मितावादी विमर्श :

आजादी के बाद का समय कई प्रकार के सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक परिवर्तन का काल माना जाता है, जिसका प्रभाव साहित्य पर भी पड़ रहा था। जहाँ तक अस्मिता विमर्श का प्रश्न है, यह इस समय में विकसित साहित्यिक प्रवृत्ति बनकर उभरती है। साहित्य में अनुभव की प्रामाणिकता तथा भोगे हुये यथार्थ को व्यक्त करने के दौरान साहित्य ने समाज के ऐसे अनेक वर्गों को अभिव्यक्ति का मौका दिया जो लंबे समय से मुख्यधारा से बाहर थे। प्रमुख रूप से स्त्री लेखन के रूप में कई प्रतिभाशाली लेखिकाओं का साहित्य इस समय की कहानियों की प्रमुख विशेषता है।

साहित्य में स्त्रियों की उपस्थिति तथा उनके द्वारा रचित साहित्य का विश्लेषण करने पर कई महत्वपूर्ण तथ्य उभरकर सामने आते हैं। भक्तिकाल एक ऐसा समय था जब साहित्य में स्त्री लेखिकाएं धर्म के आवरण में स्वतंत्रता की कामना करती है, जो फार्मूला वर्तमान समय में भी घर की चाहरदीवारी में कैद औरत के लिए सार्थक सिद्ध होता है लेकिन आजादी के बाद साहित्य में जिसप्रकार से स्त्री मुक्ति के सपनों को महिला लेखिकाओं के द्वारा संजोया गया वह उल्लेखनीय है।

यदि देखा जाए तो साहित्य में आधुनिक काल के उदय के साथ बहुत से ऐसे पुरूष रचनाकार थे जिन्होंने स्त्रियों के विषय में अपनी कलम चलाई। इस तरह अनेक कालजयी रचनाओं की रचना भी संभव हो सकी लेकिन आजादी के बाद के दशक में साहित्य में औरत की छवि लगातार परिवर्तित होती गयी। इस काल की रचनाओं में रचनाकार स्वयं औरत ही थी। उसके स्वयं के भोगे हुए यथार्थ के बरक्स साहित्य की रचना का प्रचलन आरंभ हुआ। इस साहित्यिक प्रवृत्ति के विकसित होने के कारणों का संज्ञान होना आवश्यक है ।

आजादी के बाद विकसित मध्यवर्ग की संवेदना तत्कालीन सामाजिक और राजनैतिक आंदोलनों पर लगातार प्रभाव डाल रही थी। इसक्रम में अस्मिता विमर्श के लिए भी मध्यवर्गीय संवेदना का इसपर हावी होना लाजिमी था। नये तरह की आर्थिक संरचना के बरक्स समाज में होने वाले शिक्षा के विस्तार के परिणाम स्वरूप औरत घर की चाहरदीवारी के बाहर कदम रखती है। लेकिन घर के बाहर आने वाली इन औरतों की संख्या बहुत कम थी। परंपरा और आधुनिकता के बीच फंसी इस औरत के सामने कई प्रकार के नैतिक प्रश्न थे जिनसे इन्हें लगातार टकराना पड़ा। इस संदर्भ में पवन वर्मा ने कहा है कि- चूंकि हमारे समाज में स्त्री-पुरूष के बीच खुले मेल मिलाप का प्रावधान है ही नहीं, इसलिए मध्यवर्गीय पुरूष को परस्पर आदर और समानता के स्तर पर महिलाओं से मिलने का मौका कम ही मिल पाता है। परंपरा ने उनके दिमाग में बिठा दिया है कि औरत को मर्द की अधीनता में रहना चाहिए। लेकिन उसने एक आधुनिक मुद्रा भी अपनायी हुयी है जो उसे औरत-मर्द की बराबरी स्वीकार करने के लिए मजबूर करती है। इसके

कारण वह कम से कम सैद्धांतिक स्तर पर इस बराबरी को मानने लगता है। लेकिन दूसरी तरफ पालन पोषण के दौरान उसके दिमाग में घर कर चुके बिंब उसे 'आधुनिक' औरत को 'भोग के लिए उपलब्ध' की दृष्टि से देखने के लिए विवश करते हैं क्योंकि वह आधुनिका पारंपरिक वेश भाषा और आचरण के सांचे में फिट नहीं बैठती।[19]

यह तो विडंबना रही भारतीय पुरूषों की जो सिद्धांत और व्यवहार के स्तर पर अलग-अलग थी। जिसका खमियाजा आधुनिक पढ़ी-लिखी और घर से बाहर निकली औरतों को झेलना पड़ा। इसका प्रमुख कारण यह था कि औरतों की समस्या को केवल औरतों के बीच सुलझाने की कोशिश की गयी जबकि यह औरतों से कहीं ज्यादा पुरूषों को समझाने वाला विचार था। प्रयास तो बहुत किया गया लेकिन गुत्थी सुलझने की बजाए और अधिक उलझ गयी।

यह वो दौर था जब पितृसत्तात्मकता के प्रति नयी पीढ़ी प्रश्न तो खड़ा करती है लेकिन उससे लड़ने के यत्नों का इस्तेमाल सही ढंग से नहीं कर पाती, जिसका कालांतर में परिणाम यह हुआ कि घर के भीतर सतायी जाने वाली औरत घर के बाहर भी शोषण का शिकार होने लगी। निःसंदेह रूप से समानता के अधिकारों को लेकर लड़ी जाने वाली इस लड़ाई के बहुत से सकारात्मक पहलू भी थे। इन विषम परिस्थितियों में कई महिलाओं ने शिक्षा का लाभ उठाया और अपने आप को स्थापित किया।

भारतीय समाज में पितृसत्तात्मकता को लेकर जो भी परिवर्तन हुए उसने समाज और परिवार में कई प्रकार के मूलभूत परिवर्तनों को विकसित किया। पढ़ी-लिखी औरतो की सोच में परिवर्तन आया, स्त्री पुरूष के संबंधों के मायने बदले, परिवार की संरचना में परिवर्तन आया। इसके अलावा अपने परिवर में बड़े बुजुर्गों के प्रति सोच में भी कई प्रकार के बदलाव देखने को मिलते हैं, जिसकी अभिव्यक्ति साहित्य में भी होती है। कालांतर में अस्मिता विमर्श के विविध रूप हमें देखने को मिलते हैं जिनमें दलित, आदिवासी तथा स्त्रियों में भी दलित और आदिवासी स्त्री के साहित्य को अलगाकर देखने की प्रवृत्ति विकसित हुयी।

3.5. भविष्य की कल्पना :

रचनाकार अपने साहित्य के माध्यम से समाज के तत्कालीन यथार्थ को तो उजागिर करता है साथ ही भविष्य की कल्पना भी करता है। वास्तव में रचनाकार भविष्य के प्रति हमें सचेत करने का कार्य करता है। भारतीय कथा साहित्य में ऐसे बहुत से महान रचनाकार रहे हैं जिन्होंने वर्तमान की विपरीत परिस्थितयों के बीच मनुष्य और समाज के आपसी द्वंद्वात्मक संबंध को और अधिक मजबूत करते हुए भविष्य को निर्मित किया है।

साठोत्तरी कहानी के संदर्भ में यदि कहानी द्वारा निर्मित भविष्य की कल्पना पर चर्चा की जाए तो कई बातें

पता चलती हैं। इसक्रम में एक महत्वपूर्ण तथ्य यह था कि जो आर्थिक परिस्थतियाँ नब्बे के बाद उदारीकरण के फलस्वरूप समाज में निर्मित हुयी उसकी भूमिका साठ के बाद से ही तैयार होने लगी थी। साहित्य एक तरह के अजनबीपन, अलगाववाद, राजनैतिक अवसरवाद, विचारधारा से विचलन और बैचैनी का शिकार नजर आता है। इस नयी संवेदना को और अधिक विकासित करने में सन् 1990 के बाद आयी भूमंडलीकरण की प्रक्रिया की महत्वपूर्ण भूमिका है।

इस दौर में हिंदी कहानी के सामने कई तरह के प्रश्न थे जो अनेक विचारधाराओं और सामाजिक बाधाओं के के बीच पैदा हो रहे थे। एक बहुत बड़ी आर्थिक समस्या हमारे सामने सामाजिक मूल्यों और जीवन के प्रति आस्था की प्रवृत्ति को निगलने के लिए तैयार थी। आजादी के बाद का आर्थिक पैटर्न हमारे समाज पर फिट नहीं बैठ रहा था फिर भी उसे लादने की कोशिश की जा रही थी। परिणाम स्वरूप एक ऐसा समाज बनता नज़र आता है जिनमें कोई व्यवस्थित जीवन मूल्य नहीं है।

देखा जाए तो विपरित सामाजिक परिस्थितियाँ साहित्य के लिए अनुकूल माहौल बनाती हैं। उस समय जब हम कई तरह की सामाजिक विसंगतियों से जूझ रहे होते हैं तो समाज सापेक्ष साहित्य के रचना की संभावना अधिक होती है। साठोत्तरी कथा साहित्य के दौर में जो साहित्य तैयार हो रहा था उसमें मध्यवर्ग की संवेदना का वर्चस्व दिखाई देता है। जिसकी संवेदना का चित्रण साहित्य के लिए नयी बात थी साथ ही अधिकतर पढ़ा-लिखा समाज इसी वर्ग से आता है या इस वर्ग में शामिल होना चाहता है, यही कारण है की इस वर्ग की संवेदना इस दौर में प्रमुख हो जाती है।

इस दौर में साहित्य और समाज को कई तरह के बदलाव के दौर से गुजरना पड़ा इस बदलाव की प्रक्रिया में ही सामाजिक परिवर्तन के लिए पृष्ठभूमि तैयार होती है। इस समय के साहित्य में परिवार के पारंपरिक ढांचे का टूट जाना, समाज में औरत और मर्द के पारंपरिक संबंधों में परिवर्तन आना, पारंपरिक जीवन मूल्यों का विघटन तथा इन सब के साथ दलित और स्त्री विमर्श के आने से साहित्य के माध्यम से भविष्य के लिए नये तरह की संवेदना तैयार होने लगी।

साहित्य में लेखिकाओं का अपना संसार निर्मित हुआ। उनके अपने सुख-दुख का चित्रण खुद उनके द्वारा करना निश्चित हुआ। ऐसा नहीं था की साहित्य में लेखिकाओं का आगमन पहली बार हुआ हो। हमारे पास बंग महिला, आंडाल, मीरा और महादेवी की एक लंबी परंपरा थी, जिसका विकास इस युग की महिला लेखिकाओं ने किया। इसक्रम में एक महत्वपूर्ण तथ्य इन लेखिकाओं से छूट जाता है और नयी आधुनिकता बोध के बरक्स कालान्तर में रची गयी रचनाएँ अतीतग्रस्तत से ग्रसित नज़र आती हैं।

परंपरा और आधुनिकता बोध से विकसित नये जीवन मूल्यों ने हमारी सांस्कृतिक विरासत के सामंजस्य को

नष्ट करने का कार्य किया। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि भारतीय समाज आजादी के बाद भी गुलामी की मानसिकता को ढो रहा था और साथ ही पश्चिम की विचारधारा को बिना किसी संशोधन के अपने समाज पर लागू करता गया। यह इस दौर की ऐसी प्रवृत्तियां हैं जिनके विषय में विस्तार से चर्चा करने की आवश्यकता है। आधुनिकता की अवधारणा की सही समझ के लिए चली आ रही परंपरा के प्रति प्रश्न खड़ा करना एक अनिवार्य कार्य है। तो इस दौर में विकसित आधुनिकता ने समाज के लिए किस तरह के भविष्य को निर्मित किया यह प्रश्न वर्तमान समय में सबसे अधिक प्रासंगिक बन गया है। इसका कारण यह है कि हम विचारधारा के अंत के युग में जी रहे हैं जबकि जीवन से इसको अलगाने वाले सभी तत्व अपनी विजय पर मुस्कुरा रहे हैं।

आधुनिकता की विचारधारा भी लगातार भूमंडलीकरण से प्रभावित नज़र आती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि भूमंडलीकरण एक आर्थिक व्यवस्था के रूप में हमारे समाज पर लागू कर दिया गया है। उससे बचकर साहित्य की रचना कर पाना अभी के समाज में एक कठिन कार्य है। खैर यदि आधुनिकता का भूमंडलीय रूप साहित्य में दिखाई देता है तो यह आवश्यक था कि हम इसकी सीमाओं का संज्ञान करते हुए अपने समाज के हिसाब से इसे परिभाषित कर पाते लेकिन ऐसा संभव नहीं हो सका।

तत्कालीन रचनाकारों ने इस तरह की आधुनिकता की आलोचना भी प्रस्तुत की लेकिन साहित्य की अपनी सीमा है। वह अकेले समाज नहीं बदल सकता। इस समय के बाद से साहित्य का राजनीति और विचारधारा के साथ द्वंद्वात्मक संबंध लगातार कमजोर पड़ता गया। इसके द्वारा जो भविष्य निर्मित हुआ वह हमारे सामने है, जहाँ अपनी अस्मिताओं को लेकर अतिसंवेदनशील जनता है, साम्प्रदायिकता अपने चरम पर है और साथ ही एक खंड- खंड समाज है।

साठोत्तरी कहानियों के दौर में जिसतरह की राजनैतिक परिस्थितयां बनी उससे किसी निश्चित और सुखद भविष्य की कल्पना कर पाना संभव नहीं था। वस्तुतः जो भी रचनाकार अपनी कलाकृति के प्रति ईमानदार होगा वह नयी आर्थिक नीति से विकसित जीवन मूल्यों के क्षरण की कथा कहेगा। यह समय जीवन मूल्यों, आस्थाओं, विश्वास और मासूमियत आदि के अंत का काल माना जा सकता है। देश में फैल रही नये तरह की राजनैतिक प्रतिबद्धता और उसके बदलते हुए अर्थ ने हमारी आर्थिक संरचना को बदल कर रख दिया जिसके कारण जो नयी संवेदना विकसित हुयी उसने हमारी चली आ रही सामाजिक संवेदना को बहुत गहराई में प्रभावित किया। इस तरह की नयी संवेदना ने कई मोर्चो पर हमें सफलता दिलाई और साथ ही नुकसान भी पहुँचाया।

साहित्य में मध्यवर्गीय संवेदना का प्रमुख होना इस समय के साहित्य की विशेषता थी। यह जांच करना

बहुत आवश्यक है कि वह कौन-कौन से सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक कारक थे जिन्होंने मध्यवर्गीय संवेदना को प्रमुखता दिलाई और धीरे-धीरे करके निम्नवर्ग साहित्य से गायब होता चला गया। वर्तमान समय में हम यदि निम्न वर्ग की संवेदना का चित्रण करते भी हैं तो दलित, स्त्री और आदिवासी के दायरों में सिमट कर। हम इस संवेदना का विकास बड़े परिप्रेक्ष्य में आज भी नहीं कर पाये।

संदर्भ सूची-

1. गोस्वामी, केवल. श्रेष्ठ हिंदी कहानियां 1960-70. पीपहा. दिल्लीः पृ.8
2. तद्भव पत्रिका, अंक- 1. पृ. 168
3. वर्मा, पवन. भारत के मध्यवर्ग की अजीब दास्तान. राजकमल प्रकाशन. दिल्लीः पृ.78
4. तलवार, वीरभारत. नक्सलबाड़ी के दौर में. अनामिका पब्लिशर्स. दिल्लीः पृ.460.
5. प्रकाश स्वयं. श्रेष्ठ हिंदी कहानियां 1970-80. पीपीहा. प्रा. लि. दिल्लीः पृ.9.
6. वर्मा, पवन. वही. पृ.81.
7. तलवार, वीरभारत. वही. पृ.64
8. वर्मा, पवन. वही. पृ. 9
9. नाथ, शम्भू. समकालीन सृजन. आधुनिकता की पुनर्व्याख्या. वाणी प्रकाशन. दिल्लीः पृ.18.
10. गोस्वामी, केवल. वही. पृ. 9.
11. सिंह, बच्चन. आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास. राजकमल प्रकाशन. दिल्लीः पृ.363.
12. वही. पृ.367
13. वर्मा, पवन. वही. पृ.72
14. गोस्वामी, केवल. वही. पृ.10.
15. यादव, राजेद्र. एक दुनिया समानांतर. राधाकृष्ण प्रकाशन. दिल्लीः पृ.26.
16. चंद्रा, विपिन. सांप्रदायिकता. नेशनल बुक ट्रस्ट. दिल्लीः पृ.7
17. वर्मा, पवन. वही. पृ.313
18. चंद्रा विपिन. वही. पृ.89
19. वर्मा, पवन. वही. पृ.152

चतुर्थ अध्याय

साठोत्तरी हिंदी कहानियाँ

और यथार्थवाद

साठोत्तरी हिंदी कहानियाँ और यथार्थवाद

हिंदी कथा साहित्य का इतिहास बहुत लंबे समय का नहीं है। देखा जाए तो इसकी उम्र लगभग सौ-सवा सौ वर्ष ही है। इन वर्षों में इस विधा में निरंतर परिवर्तन दिखाई देता है। कभी ऐसा समय भी आया कि यह अत्यधिक समाज सापेक्ष हो गयी और कभी समाज निरपेक्ष। इसक्रम में समय बदलने साथ इसके अलग-अलग रूप देखने को मिलते हैं। विकास के प्रारंभिक दौर में इस विधा पर पुनर्जागरण आंदोलन का अत्यधिक प्रभाव दिखाई देता है। इसी प्रभाव के फलस्वरूप कथा साहित्य के माध्यम से विधवा विवाह, बाल विवाह का विरोध तथा स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग पर बल जैसे राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक आत्मनिर्भरता के तत्व कहानी की अंतर्वस्तु बनते हैं। महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि पुनर्जागरण आंदोलन की शुरूआत बंगाल से हुयी तथा बांग्ला भाषा का आधुनिक कालीन साहित्य हिंदी साहित्य से पहले विकसित हुआ। इसके प्रभाव में विकसित हिंदी कथा साहित्य के अंतर्गत कई महत्वपूर्ण रचनाकारों और उनकी रचनाओं पर बंगाल के पुनर्जागरण आंदोलन का प्रभाव परिलक्षित होता है।

माधवराव सप्रे, बंग महिला, मधु मंगल सिंह तथा किशोरी लाल गोस्वामी की कहानियाँ प्रारंभिक दौर में रची गयीं। एक विधा के रूप में इस समय हिंदी कहानी का निश्चित स्वरूप विकसित नहीं हो पाया था, फिर भी इन रचनाकारों की कहानियाँ तत्कालीन समाज के यथार्थ को चित्रित करती हैं। दूसरी परंपरा उर्दू कहानियों की थी जिसके प्रकाश में कई हिंदी के कहानिकारों ने उर्दू में लेखन आरंभ किया। इस क्रम में प्रेमचंद सबसे प्रमुख कहानीकार हैं।

प्रेमचंद के कथा साहित्य को उस साहित्य का हिस्सा माना जा सकता है जिनसे राष्ट्रवादी आंदोलन की पृष्ठभूमि तैयार होती दिखाई देती है। इनका साहित्य समय और समाज में परिवर्तन के साथ अपने रचनात्मक तकनीक में परिवर्तन भी लाता है। इनका कथा साहित्य एक ही समय में वर्तमान का विवरण देने के साथ भविष्य का रास्ता तय करता है। ऐसा माना जा सकता है कि हिंदी साहित्य में यथार्थवादी पद्धति को बेहतर ढंग से विकसित करने वाले रचनाकारों में इनका महत्वपूर्ण स्थान है।

1936 में प्रगतिशील लेखक संघ के अधिवेशन में साहित्य को समाज के आगे चलने वाली इकाई के रूप में परिभाषित करने वाले प्रेमचंद के बाद के लेखकों ने भी इस परंपरा को आगे बढ़ाया। हर समय के साहित्य ने समाज के यथार्थ को प्रस्तुत करते हुए संभावित भविष्य की कल्पना की है। यह परंपरा आजादी के बाद लगातार अपना स्वरूप बदलती रही। कालांतर में कहानी आदर्शवादी यथार्थवाद से होते हुए आलोचनात्मक, समाजवादी, जादुई और भोगे हुए यथार्थ तक की दूरी तय करती है। वस्तुतः रचनाकार अपने साहित्य के लिए तत्वों का संग्रह समाज से करता है। उसके द्वारा प्रस्तुत साहित्य में समाज के तत्व

गहराई से नज़र आते हैं। अर्थात साहित्य का सामाजिक यथार्थ के साथ गहरा संबंध है। साहित्य और समाज के संबंध को सैद्धांतिक रूप देने में यथार्थवाद की महत्वपूर्ण भूमिका है। यह सिद्धांत साहित्य और समाज के आपसी संबंध को दार्शनिक धरातल प्रदान करता है।

साहित्य में केवल रचनाकारों ने ही नहीं वरन् इतिहासकारों ने भी यथार्थवादी पद्धति के पक्ष में अपनी कलम चलाई है। इस संदर्भ में इतिहासकारों की भूमिका काफी महत्वपूर्ण हो जाती जब समाज व साहित्य में यथार्थवादी और गैर यथार्थवादी पद्धति एक साथ चल रही हो। यथार्थवादी इतिहासकार को इन विपरित सामाजिक परिस्थतियों में साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास लिखना चाहिए और यथार्थवादी साहित्य के पक्ष में कलम चलानी चाहिए।

साहित्य में समाज बनाम व्यक्ति का द्वंद्व बहुत लंबे समय से चलता रहा है जिसकी अभिव्यक्ति कविता, कहानी और उपन्यास आदि माध्यमों से लगातार होती रही है। इस संदर्भ में प्रो. मैनेजर पांडेय जी ने लिखा है कि- हिंदी में यथार्थवादी लेखक प्रायः समाजवादी विचारधारा के समर्थक हैं और जनता के मुक्ति संघर्ष के पक्षधर हैं। गैर यथार्थवादी लेखक समाजवाद के विरोधी, जनता की आकांक्षा की उपेक्षा करने वाले और व्यक्तिवाद के सहारे पूंजीवाद के पोषक सिद्ध होते हैं। यथार्थवादी रचना दृष्टि का स्वातंत्रयोत्तर हिंदी साहित्य में यथार्थवादी विरोधी प्रयोगवाद, नयी कविता, नयी कहानी, अकविता, अकहानी से निरंतर संघर्ष होता रहा। इन दो रचनादृष्टियों का संघर्ष उपन्यास और नाटक के क्षेत्र में भी देखा जा सकता है।[1]

इन दोनों पद्धतियों का संघर्ष काफी लंबे समय से चलता रहा है। इसक्रम में यथार्थवाद ने लगातार अपने स्वरूप को बदला है। साहित्य में कोई ऐसा समय नहीं आया जब इससे परे हटकर कोई रचना की गयी हो कहानी के इतिहास में यदि यथार्थवादी सिद्धांत के स्थान का विश्लेषण किया जाए तो यहाँ एक लंबी परंपरा देखने को मिलती है। भारतेंदु युग में साहित्य की गद्य विधाओं का जन्म हुआ ,जिसमें यथार्थ अपने प्रखर रूप में पाठक के सामने आया। कहानी, उपन्यास, निबंध एवं नाटक आदि विधाएं इसकी संवाहक बनी। विशेष रूप से कहानी के इतिहास पर यदि दृष्टिपात करें तो प्रेमचंद की कहानियों में यथार्थवादी सिद्धांत अपने बेहतर रूप में सामने आता है। उनके बाद के रचनाकारों ने इस पद्धति को पुष्पित और पल्लवित किया है। आजादी के पहले ही आधुनिकता के आगमन के साथ सामाजिक विसंगतियां प्रखर रूप से सामने आ रही थीं। कई ऐसे तत्व थे जिनके स्वरूप में लगातार परिवर्तन आ रहा था। भारतेंदु के साहित्य में आधुनिक शिक्षा और विचार का प्रभाव देखा जा सकता है। इनके बाद इसका विस्तार द्विवेदी युग, छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नयी कहानी, अकहानी आदि में देखा जा सकता है।

खासतौर पर साठोत्तरी कहानी के संदर्भ में यदि बात की जाए तो पता चलता है कि इस समय के साहित्य में यथार्थवादी तत्वों को प्रमुखता दी गयी और उसके स्वरूप में भी परिवर्तन लाया गया है। वैसे साहित्य में कई तरह की विचारधाराएँ एक साथ चलती हैं और उनमें से कोई एक प्रमुख हो जाती है। इसक्रम में कविता के इतिहास पर दृष्टिपात करने पर यह पता चलता है कि छायावाद और प्रगतिवाद का समय एक साथ साहित्य में चलता हुआ दिखाई देता है। ऐसा नहीं था कि 1936 में आचानक से प्रगतिवाद का आगमन हो गया। बल्कि उसकी पृष्ठभूमि एक लंबे समय से तैयार हो रही थी। इस संदर्भ में कथा साहित्य के इतिहास पर दृष्टिपात करने की जरूरत पड़ती है। जब प्रेमचंद की रचनात्मकता से मुक्त नयी कहानी, अकहानी, समांनातर कहानी आदि में नयी संवेदना का विकास दिखाई देता है तो इतिहासकारों का महत्व बढ़ जाता है। जो कथा में विकसित इन नयी प्रवृत्तियों को साहित्य के इतिहास में स्थापित करते हैं।

इस तरह यदि साठोत्तरी कथा साहित्य की बात की जाए तो इस दौर के रचनाकार राजनैतिक स्तर पर विकल्पहीनता के दौर से गुजर रहे थे, जिसका प्रभाव साहित्य पर भी पड़ता है। जहाँ चली आ रही परंपराओं के प्रति अस्वीकृति एक प्रमुख संवेदना के रूप में विकसित होती है। इस समय में आधुनिकता के मायने बदलते हैं, साथ ही समाज का पढ़ा-लिखा वर्ग परंपरा और शाश्वत जीवन मूल्यों के प्रति उदासीन होता दिखाई है। इसके अलावा पश्चिमी जीवन शैली को आधुनिकता के पर्याय के रूप में ग्रहण करने का फैशन बढ़ता दिखाई देता है। ऐसे में, रचनाकार की जिम्मेदरी होती है कि वह इन सामाजिक विसंगतियों को अपने साहित्य में दिखाए। हिंदी कथा का साठोत्तरी दौर साहित्यिक और सामाजिक रूप से इन्हीं विसंगतियों का शिकार है। इस संदर्भ में प्रो. मैनेजर पांडेय ने लिखा है कि- यह एक विचारणीय सवाल है कि इस साठोत्तरी पीढ़ी का नयी कविता और नयी कहानी के साथ क्या संबंध है? पिछले दौर में जो व्यक्तिवाद था जो इस दौर में अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था। इतिहास और परंपरा से मुक्ति की कामना नयी कवितावादी भी कर रहे थे।...यह दौर मुख्यतः यथार्थवाद विरोधी दौर है। इसमें यदि यथार्थ कहीं है तो वह एक लोटा पानी में एक बूंद दूध के समान है। असल में इस दौर में नयी कविता और नयी कहानी की राजनैतिक और साहित्यिक प्रवृत्तियों का ही पतनशील रूप प्रकट हुआ है।[2]

इसप्रकार परंपरा और इतिहास से परे कुछ नवीन करने की आकांक्षा ने इस युग के साहित्य को समाजनिरपेक्ष बनाने का कार्य किया। एक तरफ हमारे समाज में सामाजिक और राजनैतिक मूल्य लगातार परिवर्तित हो रहे थे और दूसरी तरफ साहित्य इस विडंबनापूर्ण स्थिति से संघर्ष करने की बजाए अपना अलग राग अलाप रहा था। वर्तमान में जीये और भोगे हुए यथार्थ को व्यक्त करते करते नयी कहानी

आंदोलन ने हिंदी कहानी की परंपरा को बदलने का कार्य किया और इस बदलाव का विस्तार साठोत्तरी कहानियों में दिखाई देता है।

साठोत्तरी कहानियों के विकास को यथार्थवाद के विशेष संदर्भ में देखने पर कई महत्वपूर्ण तथ्य हमारे सामने आते हैं। बदलती हुयी सामाजिक परिस्थितियों के बीच जो नयी संवेदना आधुनिकता के नाम पर विकसित की गयी उसे पहचानने का संकट हमारे सामने आता है। इस विकसित संवेदना में मध्यवर्गीय संवेदना के प्रभुत्व का सवाल भी उभर कर आता है। जो भी रचनाएं इस दौर में रची गयीं उसमें यथार्थवाद के विविध रूपों के दर्शन होते हैं जिसपर दृष्टिपात करने की आवश्यकता है। आखिर साहित्य को समाज सापेक्ष बनने में रचनाकार कौन सी तकनीक अपना रहा है और समाज पर उसका क्या प्रभाव पड़ रहा है?- यह विश्लेषण आवश्यक है।

मूलतः वर्तमान में जीने वाला साठोत्तरी कथा सहित्य इतिहास से परे अपनी संवेदना विकसित करने के क्रम में भोगे हुए यथार्थ को पुष्पित पल्लवित करता है। इस क्रम में इस दौर का साहित्य इतिहास से कट जाता है, जिसके कारण रचनाकार राजनीति विरोध, विचारधारा से विचलन जैसी प्रवृत्तियों को विकसित करता हुआ अपने व्यक्तिगत अनुभव को सर्वोपरि मानता नज़र आता है। इस तरह की साहित्य प्रवृत्तियों की विधिवत चर्चा करना आवश्यक है।

आलोचना की यथार्थवादी पद्धति के विशेष परिप्रेक्ष्य में यदि अंतर्वस्तु और रूप की चर्चा की जाए तो यह माना जाता है कि अंतर्वस्तु रूप को निर्धारित करती है या यह कह सकते हैं कि इन दोनों में द्वंद्वात्मकता का रिश्ता है, जिसके कारण यह एक दूसरे के अनुसार अपने स्वरूप में परिवर्तन लाते रहते हैं। साठोत्तरी कथा साहित्य अपने रूप, अंतर्वस्तु और भाषा में कई प्रकार के प्रयोग करता हुआ दिखाई देता है। जिसके कारण इस साहित्य की एक अलग पहचान बनती है। कहानियों के इस पक्ष पर भी विस्तार से चर्चा करने की आवश्यकता है कि इस दौर की कहानियों ने अपनी परंपरा से परे कौन से उपकरण विकसित किये और उसका क्या प्रभाव पड़ा।

4.1. साठोत्तरी कहानियों का स्वरूप और संवेदना :

कहानी गद्य की ऐसी विधा है जिसमें किसी एक संवेदना का उत्तरोत्तर विकास होता दिखाई देता है। चूंकि इसका परिदृश्य उपन्यास की तुलना में कम विस्तार लिए होता है इसलिए इसमें एक संवेदना की तीव्रता बढ़ जाती है। कहानी के इतिहास पर यदि दृष्टिपात करें तो अलग-अलग समय में इसकी संवेदना लगातार परिवर्तित होती दिखाई देती है। समाज के मूल्यों और आस्थाओं में परिवर्तन होने के साथ कहानी की

संवेदना और स्वरूप में परिवर्तन परिलक्षित होता है।

इस दौर की कहानियों में जिसतरह से संवेदना में परिवर्तन होता है उसमें आधुनिकता और परंपरा की अवधारणा, स्त्री-पुरूष संबंधो का बदलना, धार्मिक असहिष्णुता का विकास, मध्यवर्गीय संवेदना का विस्तार आदि प्रमुख कारक हैं। लगातार विकसित होने वाली नयी तरह की आर्थिक व्यवस्था जिस तरह से हमारी सामाजिक संरचना में परिवर्तन लाती है उसका रेखांकन आवश्यक है।

साठोत्तरी कहानी के दौर में कहानी की संवेदना अपने पूर्ववत् काल से भिन्न दिखाई देती है। कहानियों में बदलती हुयी संवेदनात्मक चेतना का संबंध अपने समाज के साथ होता है जो संवेदना के परिवर्तन में निर्णायक भूमिका निभाती है। आजादी के बाद जिसतरह भारतीय समाज के मूलभूत ढांचे में परिवर्तन होता है, साहित्य भी लगातार परिवर्तित होता है। इसक्रम में कुछ महत्वपूर्ण कहानियों लिखी गयी हैं जिनकी चर्चा करना आवश्यक है।

जहाँ एक तरफ आधुनिक काल में कहानी विधा के विकास के समय नैतिकता और आदर्श का बोलबाला था वहीं दूसरी तरफ आजादी के बाद यथार्थवाद के स्वरूप में परिवर्तन को अधिक प्राथमिकता दी गयी। इस समय में अनुभव की प्रामाणिकता और भोगे हुए यथार्थ को लेकर साहित्य की रचना की गई। इस क्रम में प्रमुख साठोत्तरी कहानीकारों में कमलेश्वर, निर्मल वर्मा, मोहन राकेश, मन्नू भंडारी, धर्मवीर भारती, काशीनाथ सिंह, दूधनाथ सिंह, ज्ञानरंजन, गुलशेर खाँ शानी, उषा प्रियंवदा, कृष्णा सोबती आदि का नाम लिया जाता है।

इस दौर में विकसित आधुनिकता की अवधारणा पर चर्चा की जाए तो यह दिखाई देता है कि यह किसी एक दिन के संघर्ष की परिणति नहीं होती वरन् इसके तत्व बहुत लंबे समय से साहित्य में मौजूद रहते हैं। यह अवधारणा धीरे-धीरे विकास करती है और समाज के सामान्य मानवीय व्यवहार में परिलक्षित होती है। लेकिन इस दौर में विकसित आधुनिकता का स्वरूप भारतीय परंपरा से थोड़ा अलग नज़र आता है। यहाँ पर साहित्य में अंतर्वस्तु से अधिक रूप पर जोर दिया जाने लगा। जिसकी चिंता इस दौर के आलोचकों में देखी जा सकती है। इसी संदर्भ में नामवर सिंह जी ने लिखा है कि- एकतरह से यह छद्म आधुनिकता है, जिसपर अंग्रेजियत की गहरी छाप है। अंग्रेजियत की यह गहरी छाप उस गद्य पर भी है। हिंदी गद्य की जो जातीय प्रकृति है और जिसका निर्माण भारतेंदु ने किया है, उसके विपरित आजादी के बाद जो प्रवृत्ति गद्य में प्रबल दिखाई देती है, वह है अंग्रेजियत की छाप वाला गद्य।[3]

इसप्रकार आजादी के बाद के साहित्य पर ना सिर्फ भाषा के स्तर पर वरन् संवेदना के स्तर पर भी

अंग्रेजियत का असर दिखाई देता है। आधुनिकता के बदले मायनों के बरक्स साहित्य की परंपरा को और खासतौर पर कथा साहित्य की परंपरा को अनदेखा किया गया।

एक लंबे समय से हमारे सामने जो साहित्य उपलब्ध था उसमें आधुनिकता के नाम पर जो भी विचारधारा विकसित हुयी थी वह भारतीय सामाजिक और सास्कृतिक तत्वों के समन्वय से निर्मित थी। इतिहास में कभी ऐसा नहीं हुआ था कि पश्चिम से आयी हुयी विचारधारा को हम अपनी सामाजिक परिस्थितियों के हिसाब से परिष्कृत ना कर पाये हों लेकिन आजादी के बाद का साहित्य लगातार भारतीयता को खोता हुआ प्रतीत होता है। इसदौर की कहानिया और प्रमुख रूप से नयी कहानी आंदोलन की संवेदना के संवाहक रचनाकारों में इसप्रकार का आधुनिकताबोध आसानी से देखा जा सकता है। बाद के कुछ रचनाकारों के द्वारा इस छद्म आधुनिकता की विडंबनाओं को दर्शाया गया है। कई ऐसी कहानियाँ हैं जिसके माध्यम से इस आधुनिकता के चरित्र को रचनाकारों ने बखूबी दिखाने की कोशिश की है। इसमें प्रमुख रूप से फैंस के इधर-उधर, पिता, लंदन की एक रात, नीली- झील, खोई हुयी दिशाएं, मिस पॉल, त्रिशंकु, यही सच है, भोला राम का जीव बादलों के घेरे आदि प्रमुख हैं।

एक खास तरह की सामाजिक संरचना रचना की प्रासंगिकता को प्रभावित करती है। अर्थात समाजिक परिस्थतियाँ रचना की सफलता और सार्थकता के लिए जिम्मेदार होती हैं लेकिन इन सब के बीच रचनाकार की प्रतिभा और सही विषय का चुनाव एक महत्वपूर्ण कारक है। यानि रचनाकार और सामाजिक स्थिति दोनों एक ही समय में रचना के संचरण हेतु महत्वपूर्ण है। इसको जानने के लिए कुछ रचनाओं का विश्लेषण करना आवश्यक है ताकि इस समय में विकसित आधुनिकता की विचारधारा और उसके सकारात्मक और नकारात्मक पक्षों की जांच पड़ताल की जा सके।

निर्मल की अत्यधिक महत्वपूर्ण कहानी परिंदे के विशेष संदर्भ में यदि विचार किया जाए तो हम देखेंगे कि एक तरफ कहानी का अंत एक तरह की आशावादिता के साथ होता है। जब लतिका अपनी स्टूडेंट का पत्र उसे लौटा देती है और यह सोचती है कि प्रेम जीवन की एक महत्वपूर्ण कड़ी है, तब यह आशावादिता परिलक्षित होती है। लेकिन इनकी बाद की कहानी लंदन की एक रात का अंत घोर निराशा के साथ होता है। इस कहानी में आधुनिकता की आड़ में भावनात्मक रूप से असंतुलित और संवेदनाहीन समाज है। भारतीय परिवार और आपसी संबंधों में जो गर्माहट है वह इस 'आधुनिक' कहे जाने वाले समाज में नहीं। जिसके कारण इसमें चित्रित समाज में एक प्रकार की असुरक्षा की भावना का विकास हुआ है। एक विदेशी पृष्ठभूमि होने के बावजूद भी यह कहानी भारत में अपने पैर पसार रही इस छद्म आधुनिकता की विडंबना को दर्शाता है।

वहीं दूसरी तरफ ज्ञानरंजन के द्वारा रचित फैंस के इधर-उधर और पिता अत्यंत ही महत्वपूर्ण कहानियाँ हैं। ज्ञानरंजन ने बहुत ही संजीदगी के साथ आधुनिकता और परंपरा में व्याप्त अतिवाद को दर्शाया है। पिता कहानी में कहानी का नायक अपने पिता को लेकर बेहद भयभीत नज़र आता है। पिता एक मजबूत शिला हैं जिनको हिला पाना बहुत कठिन कार्य है। नायक स्वयं जीवन की सभी सुख-सुविधाओं के संसाधन जुटा कर स्वयं को आधुनिक महसूस करता है। इसक्रम में वह लगातार अपने पिता को परिवर्तित करने की कोशिश करता है। कहानी का नायक अपने पिता के सामने स्वयं को पराजित महसूस करता है। इस कहानी के संदर्भ में बच्चन सिंह ने लिखा है कि- इस कहानी की केंद्रीय वस्तु अकेलापन है। इसमें दो पीढ़ियों के बीच दुर्लघ्य खाई है। लेकिन यह खाई इस समाज की है, इस देश की है, यह पिता छठे दशक के बाबा, दादी, आई वगैराह से एकदम अलग है। उसके प्रति किसी लिजलिजी भावुकता का चित्रण इसमें नहीं है रूमानी सशक्ति इसमें नहीं है।[4]

स्पष्टतः इस कहानी में घर के वृद्ध पिता के रूप में एक सशक्त चरित्र निर्मित किया गया है। पुत्र अपने पिता द्वारा किये जा रहे परंपरा के निर्वाह से भयग्रस्त है। इस कहानी के संदर्भ में कही गयी बच्चन सिंह की टिप्पणी कि इस कहानी की केंद्रीय वस्तु अकेलापन है कहीं ना कहीं इस कहानी के विस्तार को संकुचित कर देती है। जबकि यह एक घोर सामाजिकता की कहानी बनकर उभरती है। जहाँ परंपरा और आधुनिकता के बीच के द्वंद को भलीभांति दिखाया गया है। वहीं दूसरी तरफ फैंस के इधर-उधर आधुनिकता के विशेष संदर्भ में एक बेहद ही महत्वपूर्ण कहानी बनकर सामने आती है। परंपरा और आधुनिकता किसप्रकार समाज के मध्यवर्गीय परिवारों के बीच जीवन मूल्यों से लेकर रहन-सहन के तरीके को प्रभावित कर रही है, इसकी तरफ रचनाकार ने इशारा किया है। एक परिवार ऐसा है जो परंपरागत जीवन मूल्यों पर अमल करता है और दूसरा परिवार आधुनिक संवेदना से लैस है। इनके रहने का तरीका ही नहीं बदला है वरन् सामाजिक व्यवहार में भी परिवर्तन आता दिखाई देता है। यहाँ लगातार आधुनिक होने वाले समाज में परंपरा और आधुनिकता की अतिवादिता की तरफ संकेत है।

इन दोनों कहानियों की विशेष बात यह है कि इनमें एक ऐसी आधुनिकता का चित्रण किया गया है जिसमें केवल रहन-सहन और सामाजिक व्यवहार का ढंग परिवर्तित है। किसी की मानसिकता और विचारधारा में किसी तरह का परिवर्तन दिखाई नहीं देता है। आजादी के बाद आयी इस आधुनिकता की विडंबना को साहित्य में रचनाकारों ने दिखाने की कोशिश की है।

इस संदर्भ में मिस पॉल और त्रिशंकु कहानी का उल्लेख भी आवश्यक है। समाज में व्याप्त छद्म आधुनिकता

के बरक्स जिसतरह की सामाजिक संवेदना का विकास लगातार हो रहा था वह अत्यंत महत्वपूर्ण है। मिसपॉल एक ऐसा चरित्र हैं जो तत्कालीन 'आधुनिक' समाज में एक बदसूरत, भद्दी और कामकाजी औरत के जीवन की विडंबना को दर्शाती है। यह एक ऐसी निर्दोष स्त्री है जो किसी के साथ बुरा नहीं करती है लेकिन फिर भी उसे समाज के बने बनाए मानदण्डो में फिट ना होने की सजा मिलती है। कहानी का यह वाक्य-...मगर दफ्तर में दाखिल होते ही उसे किसी ना किसी के मुँह से ऐसी बाते सुनने को मिल जाती थी, मिसपॉल इस नयी कमीज का डिजाइन बहुत अच्छा है। आज तो गजब ढा रही हो तुम...मिसपॉल को ऐसी बातें दिल में चुभ जातीं, जितनी देर दफ्तर में रहती उनका चेहरा बना रहता। जब पाँच बजते तो ऐसे उछती थी जैसे कई घंटे की सजा भोगने के बाद उन्हें छुट्टी मिली हो।[5]

इसतरह के वाक्य वर्तमान समय में भी कामकाजी औरतों के जीवन की विडंबना को बेहतर ढंग से दिखाती हैं। यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है कि हमारा समाज तब और अब आधुनिकता के किस मोड़ पर खड़ा है। जहाँ सिद्धांत में तो हम औरत और मर्द के समानता के अधिकारों के हिमायती बन जाते हैं और जब इसे व्यवहार में करने का समय आता है तो एक औरत का मानसिक और शारीरिक शोषण करने से नहीं चूकते हैं।
आधुनिकता और वैचारिक प्रतिबद्धता पर कई रचनाकारों ने अपनी कलम चलाई है। इस संदर्भ में गुलशेर खाँ शानी की कहानी बिरादरी अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसमें लेखक ने यह दिखाने की कोशिश की है कि किस तरह आजादी के बाद लगातार भारतीय समाज और पढ़े-लिखे युवा वर्ग के जीवन से राजनीति अलग होती गयी। यह दिखाया गया है कि सरकारी तंत्र के बीच में काम् करने पर विचारहीनता की प्रक्रिया आरंभ होत जाती है या कह सकते हैं कि एक खासतरह की अवसरवादिता आने लगती है। इस कहानी के चरित्र आपस में बात करते हुए कहते है कि- कॉलेज के दिनों में मै कम्युनिस्ट पार्टी का कार्ड होल्डर था और त्रिपाठी ने बताया था कि वह सोशलिस्ट पार्टी का सक्रिय सदस्य था। सरकारी नौकरी में आने से पहले त्रिपाठी सोशलिस्ट पार्टी के अखबार का संपादक था और जन सभाओं में आग उगला करता था। कहा जाता है कि उसके बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर ही तत्कालीन मुख्यमंत्री ने उसे पालतू बना लिया और उसके गले में सरकारी तौक पड़ गयी। अब हम दोनों सरकारी नौकर थे। दोनों के मुँह पर ताले पड़े हुए थे।[6]

कहानी की यह पंक्तियां बताती हैं कि किस प्रकार इस दौर में सरकारी तंत्र में अराजनीतिकरण की प्रक्रिया आरंभ हो गयी थी। सरकारी तंत्र की यह खास संरचना हमारे समाज को और खास तौर पर सरकारी कर्मचारियों को राजनैतिक रूप से निष्क्रिय करने की साजिश में लिप्त होती दिखाई देती हे। इसकी शुरूआत आजादी के बाद से ही शुरू हो गयी थी और उस समय के रचनाकारों की कहानियों में स्पष्ट रूप से दिखाई

देती है।

आधुनिकता के विकास में एक महत्वपूर्ण मोड़ ऐसा था जब हम इतिहास में धर्म, चली आ रही परंपरा और रूढ़ियों के प्रति, समाज के प्रति और इनसब के अलावा जीवन मूल्यों के प्रति एक आलोचनात्मक दृष्टि का विकास कर रहे थे। किन्तु साठोत्तरी कहानियों में विकसित आधुनिकता के अंतर्गत समाज का जैसा चित्रण है उसमें एक तरह के यथास्थितिवाद का विकास दिखाई देता है। वर्तमान में तो यह प्रवृत्ति और भी प्रबल हो गयी है, जब हम सिर्फ आलोचना कर रहे हैं, जब हम सही-गलत समझते हुए भी अपने व्यक्तिगत लाभ को देखते हुए अपनी सामाजिक पक्षधरता निर्धारित कर रहे हैं।

इन सब के बीच आधुनिकता का अर्थ आधुनिक विचारधारा न होकर आधुनिक जीवन शैली बन गया। अपने रहन-सहन के तरीके में परिवर्तन, खानपान का परिवर्तन, बात-चीत के तरीके में परिवर्तन आदि आधुनिकता के पर्याय बन गये। यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि बिना विचारों के परिवर्तन के या समाज के प्रति एक वैज्ञानिक सोच विकसित किये बगैर आधुनिक बनना कठिन है।

शानी के यहां इस विषय से जुड़ी अनेक कहानियां मिलती हैं। इनमें जहाँ पनाह जंगल, परस्त्रीगमन, एक नाव के यात्री, पत्थर का तालाब, दोजखी आदि कहानियां महत्वपूर्ण हैं। इनमें यह दिखाया गया है कि किस तरह आधुनिकता के संदर्भ में विकसित एक खासतरह की प्रवृत्ति समाज को संवेदनहीनता की तरफ लकर जा रही है। संवेदना में आने वाला यह परिवर्तन कहानियों में साफ दिखाई देता है। यह परिवर्तन नयी कहानी आंदोलन के दौर से ही साहित्य में दिखाई देनी आरंभ हो गयी थी। इसका प्रमुख कारण यह था कि पढ़ी-लिखी औरतें इस समय में अपने घर की चाहरदीवारी को लांघ कर बाहर निकलती हैं। आर्थिक रूप से आत्म निर्भरता इस दौर की स्त्री की प्रमुख विशेषता रही है चाहे वह एक खास वर्ग की ही क्यों ना हो।

अनेक स्त्री और पुरूष रचनाकारों ने इस संदर्भ में अपनी कलम चलाई है। भोगे हुए यथार्थ के बरक्स इस दौर के रचनाकारों ने स्त्री मन के अनछूए पहलूओं पर भी दृष्टिपात किया। समाज में बदले औरत और मर्द के रिश्ते को साहित्य में दिखाने की कोशिश की गयी। निर्मल वर्मा की लंदन की एक रात, मोहन राकेश की कहानी एक और जिंदगी, मन्नू भंडारी कृत यही सच है और शानी कृत इमारत गिराने वाले आदि कहानियों की चर्चा इस संदर्भ में आवश्यक है।

साठ के बाद के दशक में जो संवेदना विकसित होती है उसमें सामंती मूल्यों का क्षरण दिखाई देता है। साहित्य में स्त्री पुरूष संबंधों को लेकर एक अलग तरह की सोच बनती है इस संदर्भ में मन्नू भंडारी की कहानी यही सच है का विश्लेषण करने की जरूरत है। जहाँ पूरी ईमानदारी के साथ एक औरत के मन के तहों को टटोलने की कोशिश की गयी है और लेखिका इस कार्य में सफल भी हुयी हैं। इसके पहले इस तरह

की सोच यदि थी भी तो उसे साहित्य में दिखाने की कोशिश नहीं की गयी थी। इस काम में यशपाल ने काफी हद तक सफलता पायी थी। औरत के तन से मुक्ति की कामना और अलग-अलग औरत और मर्द के संबंधों को अज्ञेय, जैनेंद्र और यशपाल के यहाँ देखा जा सकता है लेकिन मन्नू भंडारी के यहाँ किसी स्त्री के द्वारा स्त्री की पीड़ा और उसकी भावनाओं को प्रदर्शित करने की कोशिश की गयी है, जो साहित्य और समाज के लिए एक नयी बात थी।

ऐसा लगता है कि स्त्री द्वारा रचित साहित्य में केवल मध्यवर्गीय औरत और इसके साथ औरत-मर्द के बदलते रिश्तों के साहित्य की रचना की गयी। इसक्रम में निर्मल वर्मा कृत लंदन की एक रात एक महत्वपूर्ण कहानी है। एक विदेशी पृष्ठभूमि होने के बावजूद यह कहानी एक गहरी मानवीय संवेदना को व्यक्त करती है। इस कहानी में यह दिखाया गया है कि एक खास तरह के सामाजिक परिवेश में स्त्री-पुरूष के बीच बनने वाला संबंध बहुत ही यांत्रिक और संवेदना से परे हो जाता है। यह कहानी एक खास वर्ग का नेतृत्व करती है। भारतीय परिवेश में इसकी सार्थकता अपने समय में हो या ना हो आज के परिवेश में जरूर है। आधुनिकता की दौड़ में भावनात्मक रूप से अनियंत्रित समाज हमारे सामने मौजूद है, जिसका कारण यह है कि इस समय का समाज आधुनिकता की भागमभाग तथा हर तरह की संवेदना का वरण करने के क्रम में अपने शाश्वत जीवन मूल्यों की अनदेखी करता है। जीवन में आस्था, परिवार और संबंधों की जरूरत जैसे तथ्य साहित्य और समाज दोनों से ही बाहर चले गये। यदि कुछ बचा हुआ दिखाई देता है तो प्रमुख रूप से यांत्रिक जीवन शैली और अकेलापन, जिसकी अभिव्यक्ति उस समय की कहानियों में होती हुयी दिखाई देती है।

इसी तरह की संवेदना शानी की कहानी इमारत गिराने वाले में दिखाई देती है। इस कहानी का चरित्र स्वयं को आधुनिक घोषित करता है और अपने सहकर्मी की पत्नी के साथ उसके सामने ही शारिरिक संबंध बनाता है। आधुनिकता की आड़ में पल रहे 'सब कुछ चलता है यार' वाली पीढ़ी को इसके सही अर्थों को पहचानने की जरूरत है। इसी पीढ़ी की संवेदना का नेतृत्व करने वाली यह कहानी बहुत तेजी से आधुनिकता की अंधी दौड़ में शामिल होने वाले समाज की तरफ इशारा करती है। बिना किसी प्रतिबद्धता के किसी भी संबंध में आना किसी समाज के अवसरवादी होने का प्रतीक है। यह प्रक्रिया एक फैशन के रूप में चल पड़ी जिसका प्रभाव यह पड़ा की इस छद्म आधुनिकता के शिकंजे में समाज इस कदर जकड़ गया कि उससे मुक्त हो पाना कठिन कार्य था। एक तरफ हमें लगता था कि हम इस जीवन शैली को अपना कर लगातार आधुनिक होते जा रहे हैं और दूसरी तरफ हम लगातार शाश्वत जीवन मूल्यों का पतन कर रहे थे।

हिंदी साहित्य में आधुनिकता का एक लंबा इतिहास रहा है जिसका विश्लेषण करने की जरूरत महसूस होती है। भक्तिकालीन साहित्य धार्मिक और सामाजिक दोनों रूपों से आत्मालोचन का संवाहक था। जहाँ कबीर, मीरा, सूरदास और तुलसी जैसे रचनाकारों की रचनाएं देखने को मिलती हैं। इन्होंन ना सिर्फ तत्कालीन समाज की विडंबनाओं को अपने साहित्य में दर्शाया वरन् वे इसके विरूद्ध एक काल्पनिक समाज की स्थापना करते हुए भी नज़र आते हैं। धर्म इस समय के समाज में केंद्रीय स्थिति में था। इसके इर्द-गिर्द ही समाज संकुचित था। इसकी आलोचना किसी खतरे से कम नहीं थी लेकिन फिर भी इस दौर के रचनाकारों ने इस खतरे को उठाया और अधिकांश ने प्रेम को अपनी रचना की केंद्रीय वस्तु के रूप में दिखाने की कोशिश की। यह दौर अपनी राजनैतिक पराधीनता के बावजूद भी उत्कृष्ट रचनाएं दे रहा था।

कालांतर में नवजागरण कालीन साहित्य पर दृष्टिपात करें तो हम देखेंगे कि इस दौर का साहित्य अत्यधिक समाज सापेक्ष था और साथ ही राष्ट्रवादी आंदोलन का सहभागी भी। इस दौर का साहित्य लगातार अपनी परंपराओं के प्रति सचेत था। समाज में व्याप्त रूढ़ियों के प्रति इनकी दृष्टि आलोचनात्मक थी। इनका प्रयास था कि समाज में इन रूढियों के प्रभाव को कम किया जा सके। इन रचनाकारों में ना तो अपनी परंपरा के प्रति कुंठा का भाव है और ना ही इससे पलायन की भावना, बल्कि ये रचनाकार लगातार एकतरह के संवाद की प्रक्रिया को बनाए हुए दिखाई देते हैं।

इसी प्रगतिशील प्रक्रिया का परिणाम था कि 1936 तक आते आते हिंदी साहित्य में अनेक उत्कृष्ट कृतियों की रचना हुयी। यह प्रक्रिया आजादी के कुछ समय पहले तक बनी रही लेकिन आजादी के बाद लगातार राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियां इस कदर बदलीं की साहित्य भी इससे अछूता नहीं रह पाया। कहानियों की संवेदना लगातार परिवर्तित होती गयी और साथ ही इसके रूप में भी कई तरह के परिवर्तन आये। खासतौर पर नई कहानी आंदोलन के दौर में जो संवेदना विकसित हुयी, उसी का विकास साठोत्तरी कहानियों में दिखाई देता है। इस संदर्भ में प्रो. मैनेजर पांडेय ने लिखा है कि- हिंदी कविता और कहानी के क्षेत्र में 1960 से 1967 के बीच ऐसे अल्पजीवी फैशन पैदा हुए थे कि जिनके जन्म के साथ ही उनकी मृत्यु की भी घोषणा करनी पड़ी थी। कविता के क्षेत्र में अकविता, सकविता, विद्रोही कविता, वीर कविता, ठोस कविता, ताजी कविता आदि तथा कहानी के क्षेत्र में अकहानी, सचेतन कहानी आदि साहित्यिक फैशन परस्ती की आदत से उत्पन्न प्रवृत्तियाँ थी जिनका साहित्य के विकास में कोई विशेष योगदान न था।[7]

इसप्रकार साठोत्तरी कथा काल में ऐसे बहुत कम रचनाकार थे जिनके यहाँ अपनी परंपरा के विश्लेषण का प्रयास था। अधिकांश रचनाकार परंपरा का विरोध करते नजर आते हैं। जहाँ इस आंदोलन के तहत परंपरा

की रूढ़ियों को नष्ट करने का कार्य करना चाहिए था वहआँ रचनाकार नयी तरह की आधुनिकता के बरक्स परंपरा निषेध की प्रवृत्ति अपनाते हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि ना तो हम पूर्णतः आधुनिक ही हो पाये और ना ही परंपरावादी। मन्नू भंडारी की कहानी एक प्लेट सैलाब कुछ इसी तरह की संवेदना को व्यक्त करती है। इसमें इसी तरह की युवा पीढ़ी का चित्रण है जो अपनी परंपरा की जड़ों से कटा हुए है। इस कहानी के संदर्भ में केवल गोस्वामी ने लिखा है कि- मन्नू की कहानी एक प्लेट सैलाब शीर्षक से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वतंत्रता के बाद की इस दशक मे जवान हुयी इस पीढ़ी का जीवन के प्रति क्या दृष्टिकोण रहा है। परंपरा एवं जीवन मूल्यों से मुक्ति पाकर वह जड़ विहीन पौधे की तरह गुलदान की शोभा तो बन सकती है किंतु फल फूल नहीं सकती क्योंकि उसके पास विकास की दृष्टि और दिशा नहीं है फिर भी आकर्षक शैली के बल पर इन कहानियों की चर्चा भी हुयी है।[8]

मन्नू भंडारी की कहानी एक प्लेट सैलाब कहीं ना कहीं तत्कालीन साहित्यिक विमर्शों के दबाव में लिखी हुई मालूम पड़ती है। यही सच है और त्रिशंकु जैसी कहानियां लिखने वाली मन्नू के सामने एक ऐसी पीढ़ी थी जिसके लक्ष्य स्पष्ट नहीं थे इसलिए उस पीढ़ी को वह इस कहानी के माध्यम से दिखाती हैं। इसतरह इस समय का समाज आधुनिकता और परंपरा के मायनों को ढंग से समझ पाने में असमर्थ रहा है जिसको साहित्य में आभिव्यक्ति मिली है।

4.2. पितृसत्तात्मकता के विरूद्ध कथा साहित्य:

इस दौर में आधुनिकता की जो बयार बह रही थी उसके कारण भारतीय समाज में एक तरह का सांस्कृतिक परिवर्तन होता दिखाई देता है। भारतीय समाज के पारंपरिक ढाँचे में भी परिवर्तित होता दिखाई देता है। पितृसत्तात्मकता के तहत समाज एवं परिवार में चली आ रही बनी बनाई परिपाटी में मूलभूत परिवर्तन होता है। पितृसत्तात्मकता के हित में जिस तरह के नियम कानून बनाएं गये थे उसकी सबसे अधिक शिकार स्त्रियाँ होती आयी हैं। सामाजिक सत्ता में परिवर्तन आने पर इस कारण सबसे अधिक प्रभाव इन्हीं पर पड़ा। स्वतंत्रता संग्राम के समय में देश भर में चल रहे राष्ट्रवादी आंदोलन के बरक्स औरतों में अलग तरह की जागरूकता आयी, जिसका एक कारण यह था कि वह अपने घरों की चाहरदीवारी से बाहर निकल कर आयी थीं। इस कार्य में प्रमुख रूप से गांधी, सुभाष चंद्र और अबेंडकर की प्रमुख भूमिका थी। इसके कारण आजादी के बाद के साहित्य में प्रमुख रूप से स्त्री कथाकारों द्वारा घर से बाहर निकली इन औरतों की संवेदना का चित्रण किया गया है।

इन मायनों को अभिव्यक्त करने वाली पहली कहानी कौन सी है यह बता पाना कठिन है लेकिन उषा

प्रियंवदा की वापसी कहानी पहली बार साहित्य में एक अलग तरह की पारिवारिक संरचना उपस्थित करती है। यहाँ कहानी की मुख्य पात्रा को घर के संचालक के रूप में चित्रित की गयी है। इस स्त्री की आज्ञा के बिना घर में एक सूई भी नहीं हिलती है और इन सब के बीच घर का रिटायर बूढ़ा व्यक्ति परिवार से स्वयं को अलग-सा महसूस करता है। यह कहानी एक तरफ समाज में औरत के बदलते हुए स्वरूप को दर्शाती है और दूसरी तरफ अपने परिवार के बड़े-बूढ़ों के प्रति बदलने वाली सोच की तरफ भी इशारा करती है।

साठोत्तरी कहानिकारों में प्रमुख रूप से कमलेश्वर, कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी, मोहन राकेश आदि ऐसी कहानियाँ लिखते हैं जिसमें कहीं ना कहीं समाज में अत्यधिक गहराई में व्याप्त पितृसत्तात्मकता की जड़ों को कमजोर करने की कोशिश नज़र आती है। कमलेश्वर की कहानी राजा निरबंसिया इस दृष्टि से एक महत्वपूर्ण पड़ाव है। इसमें एक निष्क्रिय हो चुके पति जगपति और उसकी पत्नी चंदा के आपसी संबंधों की वास्तविकता को उजागर करने की कोशिश नज़र आती है। लेखक ने चंदा के आत्म संघर्ष को बहुत ही गहराई से महसूस करते हुए चित्रित किया है। सती और कुलटा होने के सामाजिक मानदंडों के बीच फंसी चंदा के साथ किये गये अन्याय का बदला जगपति अपनी आत्महत्या करके चुकाता है। कहानी यह सिद्ध करती है कि औरत और मर्द के अपसी रिश्ते का आधार सिर्फ प्रेम और विश्वास है ना कि सामाज द्वारा निर्मित अमानवीय नियम कानून। इस कहानी में जगपति के मन में चंदा और हास्पिटल के कंपाउंडर के संबंध को लेकर एक तरह की स्वीकारोक्ति है जो इससे पहले की कहानियों में नहीं देखने को मिलती।

इसदौर में लिखी गयी कहानियों में कई स्थानों पर समाज की बनी-बनाई परिपाटी से अलग हटकर नये तरह की संवेदना को विकसित करने की कोशिश दिखाई देती है। खासतौर पर स्त्री लेखन के विशेष संदर्भ में देखने पर पता चलता है कि इस समय के साहित्य में स्त्रियों और उनके जीवन से जुड़े विभिन्न पहलूओं पर विस्तार से बात की गयी है। औरत को लेकर संवेदनशील होनी की प्रवृत्ति साठोत्तरी साहित्य की विशेषता है। समाज में पितृसत्तात्मकता की जड़ों को कमजोर करने में इस साहित्य का भी योगदान है। मन्नू भंडारी, कृष्णा सोबती, उषा प्रियंवदा तथा नासिरा शर्मा आदि ऐसी लेखिकाएं हैं जिन्होंने अपने लेखन के द्वारा औरत के लिए पारंपरिक सोच-समझ का विरोध किया। कृष्णा सोबती की गुलाबजल गड़ेरिया, बादलों के घेरे, बदली बरस गयी तथा दादी अम्मा आदि कहानियाँ औरत के जीवन की पीढ़ी-दर-पीढ़ी होने वाले शोषण की तरफ इशारा करती हैं।

इस क्रम में दूसरी प्रमुख लेखिका नासिरा शर्मा हैं। इनकी कहानियों का क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत है। धर्म की आड़ में औरत पर होने वाले अत्याचार को लेखिका ने बहुत ही संजीदा ढंग से उभारा है। गूंगा आसमान,

तीसरा मोर्चा तथा संगसार आदि ऐसी कहानियां हैं जिनकी पृष्ठभूमि विदेशी होने के बावजूद जिन्हें भारतीय संदर्भ में आसानी से समझा जा सकता है। मोहन राकेश एक ऐसे रचनाकार हैं जिन्होंने औरत के जीवन की विडंबना को बेहतर ढंग से व्यक्त करने कार्य किया है। उसकी रोटी, मिस पाल, गैंग्रीन, गुल की बन्नो, आदि ऐसी कहानियाँ हैं जिसके प्रकाश में पितृसत्तात्मक समाज के बीच फंसी औरत की अवस्था को बेहतर ढंग से समझा जा सकता है। इसतरह ना सिर्फ स्त्री लेखिकाओं ने वरन् पुरष रचनाकारों ने भी लगातार पितृसत्तामकता की विडंबनाओं का दर्शाया है।

4.3. धर्म का स्वरूप :

समय बदलने के साथ धर्म के स्वरूप में भी बहुत आया है। मध्यकाल में धर्म का वह अर्थ नहीं था जो आधुनिक काल में दिखाई देता है। आधुनिक काल में धर्म के मायने बदलते हुए दिखाई देते हैं। खासतौर पर आजादी के बाद जब धर्म के आधार पर दो देशों का निर्माण होता है, उस समय में धर्म का सांमप्रदायिक स्वरूप उभरकर सामने आता है। साठोत्तरी कहानियों में धर्म के इस कट्टर स्वरूप पर रचनाकारों ने प्रहार किया है। आजादी के बाद पाकिस्तान बनने के साथ भारतीय मुसलमानों में एक प्रकार की असुरक्षा की भावना विकसित होती है। भारत का विभाजन इतिहास में एक काले अध्याय के रूप में दर्ज है जिसकी त्रासदी आजादी के पंद्रह वर्ष बाद भी कम होने का नाम नहीं ले रही थी।

इस दौर में गुलशेर खां शानी, नासिरा शर्मा, इस्राइल, अब्दुल बिस्मिल्लाह तथा मंजूर एहतशाम आदि बहुत से ऐसे रचनाकार हैं जिनका कहानियां विभाजन की त्रासदी की जिंदा सनद हैं। प्रमुख रूप से शानी की कहानियों में मुस्लिम समाज के जीवन की विडंबना उभरकर सामने आयी है। इसके अलावा इन रचनाकारों ने भारतीय समाज में मुसलमानों के प्रति होने वाले भेद-भाव को बेहतर ढंग से उभारने की कोशिश की है।

शानी की कहानियों में मुसलमानों में असुरक्षा की इस भावना की अभिव्यक्ति दिखाई देती है। कैसे विभाजन के बाद भारत के मुसलमान पलायित होकर बाहर जा रहे हैं, इसपर शानी ने खूब लिखा है। इनमें से अधिकांश परिवारों का भारत के साथ भावनात्मक लगाव होने के बावजूद धर्म अलग होने के कारण देश को छोड़कर जाना पड़ा। धर्म से मुस्लिम होने के कारण शानी की जो कहानियाँ मुस्लिम समाज को आधार बनाकर लिखी गयी हैं वह विशेष रूप से आलोचना की अपेक्षा रखती हैं। कहानियों को मुस्लिम परिवेश के विशेष संदर्भ में देखने की आवश्यकता महसूस होती है।

नासिरा के अपने कहानी संग्रह संगसार में प्रमुख रूप से इस्लाम की कट्टरता का विरोध दिखाई देता है।

ईरान के संदर्भ में लिखते समय लेखिका धर्म के भीतर की सभी अमानवीय और गैर इंसानी तथ्यों को उभार कर सामने लाती हैं। लेकिन भारतीय संदर्भ में लिखते समय अपेक्षाकृत खामोश नज़र आती हैं। यह विवेचनीय है कि जब भारतीय समाज में हिंदू धर्म का कट्टर स्वरूप विकसित हो रहा था लेखिका हिंदू धर्म की तरफ झुकती हुयी प्रतीत होती हैं। इस्लाम के प्रति अपनी आलोचनात्मक दृष्ट निर्मित करने के कारण हिंदुत्व को लेकर उनकी यह खामोशी खटकती है।

अब्दुल बिस्मिल्लाह ने भी मुस्लिम समाज को अपनी कहानी का हिस्सा बनाया है। उनकी कहानी अतिथि देवो भवः हिंदू परिवारों में मुसलमानों के प्रति भारतीय समाज में होने वाले छूआछूत की भावना को बेहतर ढंग से उभारकर सामने लाती है। किसतरह से धर्म अलग होने के कारण भारतीय हिंदू परिवारों में मुसलमानों और दलितों के लिए अलग बर्तन की व्यवस्था होती है इसको लेखक ने रेखांकित किया है।

यदि इन मुस्लिम रचनाकारों की कहानियों को भोगे हुए यथार्थ के विशेष संदर्भ में देखा जाए तो भारतीय समाज में इस वर्ग के दुख-दर्द को बेहतर ढंग से समझा जा सकता है। इसके अतिरिक्त ना सिर्फ मुसलमान रचनाकारों ने बल्कि हिंदू रचनाकारों ने भी धर्म की आलोचना की है और उसके वीभत्स रूप को दिखाने की कोशिश की है। महिला रचनाकरों ने धर्म के जाल में फंसी औरत की संवेदना को व्यक्त करने की कोशिश की है। वैसे तो भारतीय समाज में कई तरह के धर्म और संप्रदायों के लोगों को एकसाथ मिल जुल कर रहने की आदत रही है। लगातार अलगाववादी शक्तियों के क्रियाशील होने के कारण आपसी सौहार्द के इस माहौल को नुकसान पहुंचा है। इसके कारण एकदूसरे के बीच की समानता को देखने की बजाय असमानता पर अधिक प्रकाश डाला जाता है।

4.5. साठोत्तरी हिंदी कहानियों में यथार्थवाद के विविध रूप :

समय बदलने के साथ साहित्य और समाज के आपसी संबंधों में लगतार परिवर्तन आता रहता है। इसलिए साहित्य को प्रस्तुत करने की तकनीक भी बदलती रहती है। इसक्रम में यथार्थवादी विचारधारा का रूप समय बदलने के साथ लगातार बदलता रहा है। आलोचनात्मक यथार्थवाद से भोगे हुए यथार्थ तक की दूरी तय करने में साहित्य को कई तरह के सामाजिक परिवर्तनों से होकर गुजरना पड़ा।

साठोत्तरी कहानी प्रमुख रूप से भोगे हुए यथार्थ को या कह सकते हैं कि अनुभव की प्रामाणिकता पर जोर देता है। एक समय में जब आदर्शवाद को यथार्थवाद के अंग के रूप में देखा जाता था तब रचनाकार के लिए कलात्मक यथार्थ को दिखाने की संभावना थी। कथा के अंत तक रचनाकार हृदय परिवर्तन की तकनीक अपनाकर रचना के सुखद अंत तक पहुँचता था। कालांतर में सामाजिक विसंगतियां इतनी जटिल हो गयीं

कि उसे प्रस्तुत करने के लिए रचनाकार को यथार्थवादी पद्धति में परिवर्तन लाना पड़ा। खासतौर पर नयी कहानी आंदोलन के दौर में भोगे हुए यथार्थ और अनुभव की प्रामाणिकता की तकनीक अत्यधिक प्रचलित थी। इस पद्धति के बरक्स अत्यंत ही प्रभावपूर्ण तरीके से समाज और मनुष्य के आपसी संबंधों को चित्रित किया गया। साठोत्तरी कथा परिदृश्य में इसका विकास दिखाई देता है। साथ ही इसके बाद के दौर में विचारधारात्मक परिवर्तन के साथ कई अन्य आंदोलन चलाए गये। इस संदर्भ में रमेश उपाध्याय लिखते हैं कि- यह सिलसिला नई कहानी के दौर से शुरू होता है, जब पांचवे दशक वाले पीढ़ी की पुरानी कहानी के मुकाबले छठे दशक वाली पीढी की नयी कहानी में हिंदी कहानी का विकास देखा गया है। इस तर्ज पर आगे चलकर छठे दशक वाली पीढ़ी की नयी कहानी के मुकाबले सांतवे दशक की पीढ़ी की अकहानी को हिंदी कहानी का विकास माना गया। इसके बाद लगभग यह सिलसिला अकहानी के विरूद्ध समानांतर कहानी को, समानांतर कहानी के विरूद्ध जनवादी कहानी को, जनवादी कहानी के विरूद्ध जादुई यथार्थवादी कहानी को नयी कहानी मानते हुए जारी रहा। इस सिलसिले की अगली कड़ी है यथार्थवादी और मार्क्सवादी कहानी को पुरानी कहानी मानकर उत्तर आधुनिक कहानी को नयी बताना।[9]

इसतरह यथार्थवाद को लगातार नया आयाम देते हुए रचनाकारों और आलोचकों ने विभिन्न आंदोलनों को नये नये नामों से नवाजा है। इसक्रम में वर्तमान समय में जिस भोगे हुए यथार्थ की पद्धति को कहानियों ने अपनाया है वह कहीं ना कहीं इतिहास और भविष्य की अनदेखी करता नजर आता है। इसलिए यह जानना बहुत जरूरी है कि हर नयी विचारधारा समाज को नयी दिशा दे यह आवश्यक नहीं है।

इस पद्धति ने यथातथ्यता का लगातार विकास किया है जिसके कारण रचना प्रामाणिक भले हो उसका प्रभाव समाज को राजनीतिक और सामाजिक रूप से क्रियाशील नहीं बनाता। खासतौर पर यदि साठोत्तरी कहानी की बात करें तो अनुभव की प्रामाणिकता ने निःसंदेह रूप से कुछ महत्वपूर्ण प्रश्नों को उठाने की कोशिश की है जिससे साहित्य एक लंबे समय से अनभिज्ञ दिखाई देता है। इस दौर का स्त्री लेखन इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। मन्नू भंडारी, उषा प्रियंवदा, कृष्णा सोबती, नमिता सिंह, नासिरा शर्मा और ममता कालिया आदि ने अपनी कहानियों में स्त्री जीवन के अनुभवों को व्यक्त करके समाज के पितृसत्तात्मकता के विरूद्ध प्रश्न खड़े करने की कोशिश की। वह सारे रीति रिवाज जिसको परिवार और समाज की सत्ता के बीच स्त्रियाँ आसानी से स्वीकार कर लेती हैं, उनसे जन्मी विडंबनापूर्ण स्थिति के खिलाफ इन महिला रचनाकारों ने अपनी कलम चलाई है।

दूसरी तरफ जो पुरूष रचनाकार थे उनकी रचनाएं प्रमुख रूप से मध्यवर्गीय संवेदना की संवाहक दिखाई देती हैं। इन रचनाकारों ने प्रमुख रूप से आधुनिकता की छद्म छवि को उजागिर करने को कोशिश की है।

वह सारी संवेदनाएं जिनको आधुनिकता के नाम पर विकसित किया जा रहा था उसके सामने प्रश्न चिह्न खड़े करने का कार्य यह रचनाकार करते है। इनमें प्रमुख रूप से मोहन राकेश, भीष्म साहनी, ज्ञानरंजन, शानी, काशी नाथ सिंह, आदि का नाम लिया जा सकता है।

इसक्रम में यह बताना आवश्यक है कि भोगे हुए यथार्थ की अपनी सीमाएं हैं, जिसकी शिकार इस दौर की कहानिया होती हैं। यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि किसी रचनाकार द्वार किसी रचनात्मक पद्धति को अपनाना सिर्फ साहित्यिक प्रश्न नहीं है वरन् यह घोर राजनैतिक और सामाजिक मुद्दा भी है। कलाकार द्वारा अपनायी जाने वाली तकनीक जिस सामाजिक यथार्थ को प्रदर्शित करती है वह सिर्फ उसके वर्तमान से जुड़ी नहीं होती है वरन् उसके अतीत की परिणति तथा भविष्य की निर्मात होती है। इसीलिए साहित्य में इतिहास बोध का प्रश्न अत्यंत ही महत्वपूर्ण है। इस संदर्भ में मार्कण्डेय जी लिखते हैं कि- मेरे लिए रचनात्मक प्रक्रिया का सत्य इसी आत्म संघर्ष का परिणाम है, अन्यथा मै लेखक ना होकर 'एजीटेटर' बन गया होता, क्योंकि जो दिखाई पड़ता है, उसे स्वीकार करते हुए भी, उसी को पूर्ण सत्य मान लेने का अर्थ है अपनी दृष्टि को सर्वथा मौलिक परिशुद्ध तथा स्थिर मान लेना। साथ ही यह भी स्वीकार कर लेना की जीवन वैसा ही रहेगा जैसा दिखाई दे रहा है। वस्तुतः वास्तविकताओं को आरोपण से और रचनात्मक दृष्टि को आग्रहों से मुक्त रखना भी रचनाकार के लिए आज बड़ी समस्या है।[10]

इसतरह साठोत्तरी कथाकारों की रचना पद्धति की यह बहुत बड़ी समस्या थी जिसके कारण साहित्य लगातार इतिहास से कटता गया। इसक्रम में यथार्थ का जो स्वरूप उभरकर सामने आता है वह भी बँटा हुआ यथार्थ था। समाज के हर वर्ग का अपना एक अलग यथार्थ है किन्तु इनको जोड़ने वाली कड़ी नदारद दिखाई पड़ती है। इसकी परिणति यह हुई कि कथा साहित्य को रचने के लिए जिस दृष्टि की जरूरत होती है उसका लगातार ह्रास होता गया है।

कथा साहित्य के इतिहास में आजादी के बाद विकसित परंपरा का विकास साठोत्तरी कथा साहित्य में होता दिखाई देता है और समय बीतने के साथ इसका लगातार विकास होता गया। इसका परिणाम वर्तमान समय में हमारे सामने मौजूद है। यह एक आवश्यक प्रक्रिया का अंग है कि समाज के हाशिये के लोगों को साहित्य और कला के क्षेत्र में अभिव्यक्ति के लिए स्थान उपलब्ध कराया जाए। वह लोग जिनको एक लंबे समय से मुख्य धारा से काटकर रखा गया और साथ ही इतिहास में भी स्थान नहीं दिया गया, उनकी उपस्थिति दर्ज करना इस दौर के साहित्य की मुख्य उपलब्धि रही है। लेकिन इस प्रक्रिया में कहीं कुछ छूट गया मालूम पड़ता है, जिसके कारण अस्मितावादी विमर्शों के साहित्य में अभिव्यक्ति से भी कोई हल नही

निकल पा रहा है। भोगे हुए यथार्थ की पद्धति ने इस प्रक्रिया को विस्तार देने के बजाए सीमित करने का कार्य किया है।

इसक्रम में साहित्य में सिर्फ 'भोगे हुए को ही यथार्थ' मानने की जो पद्धति विकसित हुई है उससे यथार्थवाद का बहुत नुकसान हुआ है। हम 'जो नहीं हुआ (भोगा) है' उसकी भी कल्पना करते हैं। इसका संबंध साहित्यकार की विचारधारा से होता है। इसका विस्तार इस दौर में कुछ चंद रचनाकारों को छोड़कर साहित्य और समाज से गायब दिखाई देता है।

अतः नयी कहानी आंदोलन की संवेदना ने जिस यथार्थ को साहित्य में विकसित किया, उसने साहित्य के इतिहास, विचारधारा और समाज का अत्यधिक नुकसान किया। इसके कारण तद्युगीन समय में और प्रभावस्वरूप आज भी कला और साहित्य का चरित्र समाज के एक खास वर्ग का प्रतिनिधित्व करता नजर आता है। यदि समय रहते साहित्य की सामाजिकता को प्रेरित नहीं किया गया और समाज के हर वर्ग के दुख-दर्द को, उनकी संवेदना को, एक साथ जोड़कर तथा एक बड़े परिप्रेक्ष्य में नहीं देखा गया तो भविष्य में साहित्य और समाज के अंतर्संबंध और जटिल होते जाएगें।

4.6. यथार्थवाद के आईने में कहानियों का शिल्प तथा तकनीक :

भाषा, शिल्प और तकनीक सदैव से साहित्य के रूप को निर्धारित करती हैं। यह अंतर्वस्तु को प्रस्तुत करने का एक माध्यम बनती हैं और इनकी सहायता से रचनाकार अपनी रचना को पाठक के सामने लेकर आता है। इसप्रकार रूप और अंतर्वस्तु के आपसी संबंधों पर चर्चा करने की जरूरत है। यह कैसे एक दूसरे के प्रभावित करती है और कैसे प्रभावित होती है यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है? कला और साहित्य में रूप और अंतर्वस्तु के आपसी संबंधों पर लगातार चर्चा होती आयी है। इस संदर्भ में अंर्स्ट फिशर ने कहा है कि- रूप और अंतर्वस्तु का द्वंद्वात्मक संबंध बिल्कुल ठीक-ठीक मणिकों में- अर्थात ठोस, व्यवस्थित भौतिक तत्व की संरचनाओं में- देखा जा सकता है। जिसे हम रूप कहते हैं, वह भौतिक तत्व के एक विशिष्ट समूहन, एक विशिष्ट संयोजन, एक आपेक्षित संतुलन की अवस्था है। वह आधारभूत संरक्षण तथा रूढ़िवादी प्रवृत्ति की भौतिक परिस्थितियों के अस्थायी स्थायित्व की अभिव्यक्ति है। मगर अंतर्वस्तु लगातार बदलती है, कभी वह बड़े नामालूम ढंग से बदलती है, तो कभी तीव्र क्रिया के अंतर्गत बदलती है। वह रूप से जूझने लगती है, विस्फोट करके रूप को उड़ा देती है, और नये रूप को जन्म देती है। जिससे परिवर्तित अंतर्वस्तु कुछ समय के लिए एक बार फिर स्थायित्व पाती है।[11]

अर्थात कला और साहित्य में विज्ञान की भांति रूप और अंतर्वस्तु के मध्य द्वंद्वात्मकता का रिश्ता होता है।

यह लगातार एक दूसरे से प्रभावित होता है और एक दूसरे को प्रभावित करता है। इसे एक निश्चित मानक में फिट कर पाना कठिन कार्य है। खासतौर पर साहित्य की भाषा कोई ऐसा तत्व नहीं है जिसका रूप कभी ना बदले बल्कि यह तो एक सतत विकासमान प्रक्रिया की परिणति है। इसका रूप समय और परिस्थितियों के अनुसार लगातार बदलता रहता है। साहित्य में गद्य का आरंभ रूप और अंतर्वस्तु दोनों के परिवर्तन का सूचक था। यदि देखा जाए तो प्रत्येक साहित्यिक रचना मनुष्य द्वारा निर्मित होती है और उसका उद्देश्य मनुष्य तक पहुँचना होता है। इसक्रम में वह भाषा का सहारा लेती है। अर्थात भाषा किसी भी साहित्यिक कृति का एक महत्वपूर्ण पक्ष होती है। हिंदी साहित्य के इतिहास पर यदि दृष्टिपात करें तो अलग-अलग कालों में साहित्य के बदलने पर भाषा भी बदलती हुयी दिखाई देती है।

आदिकाल की भाषा अपभ्रंश थी जिसका साहित्य राजदरबार तक सीमित था। इसके बाद भक्तिकाल के आरंभ के साथ जिसतरह सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियाँ बदलती हैं वैसे ही साहित्य की भाषा में भी परिवर्तन आता है। यह काल बोलियों के उदय का काल माना जाता है। इसदौर के कवियों ने अपना साहित्य अपनी मातृभाषा में रचने का कार्य किया। इसके बाद के काल में रीतिकाल का अधिकांश साहित्य ब्रजभाषा में रचा गया, जिसका साहित्य आधुनिक काल तक के रचनाकारों की रचनाओं में मिलता है।

समय के बदलने के साथ साहित्य की भाषा खड़ी बोली हो जाती है और गद्य साहित्य का उदय होता है। राष्ट्रवादी आंदोलन के दौर में हिंदी साहित्य के रूप और अंतर्वस्तु दोनों में परिवर्तन आता दिखाई देता है। आंदोलन के प्रणेताओं में जो रचनाकार शामिल थे उनकी जीवन दृष्टि के परिवर्तन के परिणाम स्वरूप साहित्य के रूप और अतंर्वस्तु में परिवर्तन आता दिखाई देता है।

हिंदी कहानी का उदय भी इसी काल में होता है जिसके लिए कहानीकार खड़ी बोली का प्रयोग करते दिखाई देते हैं। आरंभ में इन कहानियों पर फारसी और ब्रजभाषा का प्रयोग दिखाई देता है लेकिन कालांतर में जैसै-जैसे कहानी विकसित होती गयी उसका रूप लगातार परिवर्तित होता गया। इसक्रम में बहुत से इतिहासकारों नें रूप और तकनीक की दृष्टि से कहानी के बदलने को इतिहास में प्रमुख स्थान दिया है। जैसे राजेंद्र यादव जैसे कहानिकार ने उसने कहा था (1915) जैसी कहानी को प्रारंभिक हिंदी कहानी की श्रेणी में ला खड़ा किया है। जबकि इसके पन्द्रह वर्ष पहले से साहित्य में कहानी विधा का आरंभ हो चुका था। इसके पीछे तर्क यह दिया जाता है कि यह कहानी भाषा और तकनीक की दृष्टि से अत्यंत विकसित कहानी है। अर्थात एक लंबे समय से साहित्य में रूप और अंतर्वस्तु का द्वंद्व चलता आया है। यदि भाषा और तकनीक की दृष्टि से देखा जाए तो यह सत्य है कि यह कहानी शिल्प की समृद्धि का एक उत्कृष्ट नमूना है। लेकिन क्या कथा साहित्य के लिए भाषा और तकनीक इतना महत्वपूर्ण है कि मात्र उसी के

आधार पर रचना का इतिहास में स्थान निर्धारित कर दिया जाए। यह एक जरूरी प्रश्न है जिसपर अलग से दृष्टिपात करने की आवश्यकता है।

आजादी के बाद के साहित्य में भाषा एक महत्वपूर्ण पक्ष बनकर सामने आता है। कथा साहित्य में नयी कहानी आंदोलन की शुरूआत ही साहित्य के रूप को केंद्र बनाकर हुयी थी। निः संदेह रूप से अंतर्वस्तु का बदलना एक प्रमुख कारण था लेकिन इसे किनारे कर के भाषा को मुद्दा बनाया गया। यह नहीं देखा गया क रूप और अंतर्वस्तु एक द्वंद्वात्मक प्रक्रिया के परिणामस्वरूप आपसी संबधों में परिवर्तन लाते हैं। इस संबंध में प्रो. मैनेजर पांडेय ने लिखा है कि- कृति की रचना और बोध के समय अंतर्वस्तु और रूप का पार्थक्य नहीं होता। अंतर्वस्तु और रूप में पार्थक्य आलोचना प्रक्रिया की मजबूरी है क्योंकि आलोचना केवल अनुभव की नहीं होती, अनुभव के वस्तु की होती है। रचना चाहे पूर्णतावादी दृष्टि से निर्मित की गयी हो या विकासवादी दृष्टि से, दोनों में रूप के स्वरूप का निर्धारण अंतर्वस्तु से होता है।[12]

यदि रूप और अंतर्वस्तु के आपसी संबंधों को एक दूसरे पर निर्भर मानें तो भाषा को कृति से अलगाकर नहीं देखा जा सकता है। भाषा का सामाजिक आधार कृति के महत्व को भी निर्धारित करता है। साठोत्तरी कथा साहित्य में प्रमुख रूप से नयी कहानी आंदोलन का ही विस्तार दिखाई देता है। इसमें प्रमुख रूप से यथार्थ का रूप बदलता हुआ दिखाई देता है। भोगे हुए यथार्थ को केंद्र में रखकर जब रचनाकार कृति की रचना करता है तो निश्चित रूप से वह भाषा के प्रचलित स्वरूप को बदलता है। साठोत्तरी कथा रचनाकारों के निजी अनुभवों की परिणति हैं। जिसने जैसा भोगा उसने वैसा ही रचा। इसतरह यह रचनाकार भाषा के साथ कई तरह के प्रयोग करते दिखाई देता है, जिसपर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

इस काल में उभरकर सामने आये महिला रचनाकारों की भाषा अलग तरह से विकसित होती है। जब रचनाकार स्वयं जिस विषय पर लिख रहा है उसका भोक्ता होता है तो उसकी भाषा अलग तरह की होती है और जब वह किसी और के अनुभव को अभिव्यक्त कर रहा होता है तो सम्प्रेषण की चुनौती उसी क्रम में बढ़ जाती है। खैर इस समय दोनों तरह के साहित्य की रचना की गयी है और भाषा पर उसका स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। इस संदर्भ में राजेंद्र यादव जी ने लिखा है कि- भाषा केवल अभिव्यक्ति ही नहीं, चिंतन प्रक्रिया भी है। हम शब्दों में ही सोचते और अनुभव करते हैं। भाषा यानी जिंदगी खोखली, व्यर्थ, फिजूल और बेतुकी हो गयी है- इस बात को महसूस भी हम सिर्फ भाषा में ही कर सकते हैं। भाषा की अनुपस्थिति में सोचना किस तरह संभव होता, मेरे लिए कल्पनातीत है। [13]

इसतरह रचनाकार के सोचने और उसे पाठक के सामने प्रस्तुत करने में भाषा एक महत्वपूर्ण माध्यम है।

और जब यही भाषा रचनाकार के भोगे हुए को प्रस्तुत करती है तो उसके स्वरूप में मूलभूत परिवर्तन आता है। इसतरह भाषा की अपनी चुनौतियां है जिसपर दृष्टिपात करने की आवश्यकता है। साठोत्तरी कथाकारों में कुछ प्रमुख रचनाकार हैं जिनकी भाषा पर बात करना आवश्यक है।

निर्मल वर्मा के कथा साहित्य में भाषा का पक्ष अत्यंत ही महत्वपूर्ण बनकर उभरता है। भाषा की नवीनता कथा साहित्य में इनकी अलग पहचान बनाती है। निःसंदेह केवल भाषा अपने में ऐसी शक्ति नहीं होती है कि वह किसी प्रकार की संवेदनात्मक नवीनता को लंबे समय तक बनाकर रख पाये। निर्मल की भाषा का अपनी परंपरा से अलग होने के कई कारण हैं। इनका कथा साहित्य नयी कहानी आंदोलन के दौर में विकसित नये तरह की संवेदना को अपनी कहानी का मूल कथ्य बनाती है। इनके यहाँ मनुष्य के अस्तित्व के प्रश्न अत्यंत ही महत्वपूर्ण हैं। इन्होंने यह पहचानने का प्रयास किया है कि किस तरह लगातार विषम होती सामाजिक परिस्थितियों का मनुष्य के आपसी संबंधों पर प्रभाव पड़ रहा है और वह किसतरह एक अंधे कूएं की तरफ अग्रसर है। इसतरह की सामाजिक विडंबनाओं को प्रस्तुत करने के लिए निर्मल ने भाषा का भी अलग तरह से उपयोग किया है।

इन्होंने अपने कथा साहित्य में भाषा के माध्यम से एक अलग तरह के संसार को रच कर पाठक के सामने प्रस्तुत किया है। जब कभी भी किसी नये तरह की संवेदना का विकास साहित्य में होता है तो उसे नये तरह के रूप अर्थात भाषा और शिल्प की आवश्यकता पड़ती है। इसी जरूरत को पूरा करने के लिए नयी कहानी आंदोलन के प्रणेताओं ने अपनी कहानी की भाषा को अलग ढंग से रचने का प्रयास किया। इस दौर के रचनाकारों की भाषा में भी अनुभव की प्रामाणिकता और भोगे हुए यथार्थ के लक्षण देखे जा सकते हैं।

इसक्रम में निर्मल की भाषा इसतरह विकसित होती है कि उनकी भाषा ही उनकी पहचान बनकर दिखाई देती है। भाषा का इसतरह का प्रयोग इनके पहले के रचनाकार भी करते आये हैं लेकिन उसपर बहुत अधिक जोर इसदौर में ही दिखाई देता है। भाषा साहित्य का एक अहम हिस्सा होता है। पाठक को वह सबसे पहले आकर्षित और विकर्षित करता है। वह पढ़ने और ना पढ़ने की वज़ह बनता है। इस विषय में मार्कंडेय जी ने लिखा है कि- इसमें संदेह नहीं है कि तब से निर्मल ने लगातार महत्वपूर्ण चीजों की खोज की है। रचनाशीलता की मूल समस्याओं से वह लगातार जूझते रहे। लेकिन मुश्किल यह है कि उनकी दृष्टि अब भी अपने रचनाकार पर ही केंद्रीत है। शायद उन्हें अब भी यह भ्रम है कि लेखक की प्रतिबद्धता एकान्तिक हो सकती है। अतिरिक्त व्यामोह होना जैसे लेखक की बौद्धिक खोज है। जैसे यह सब मात्र उसी के ऊपर निर्भर है। जैसे मात्र अपने निश्चय से ही वह प्रतिबद्ध हो सकता है। लेखक की प्रतिबद्धता को वे एक प्रक्रिया के रूप में स्वीकार करें तो लेखक उस समूचे संपूर्ण का एक भाग बनकर उनके सामने आता और उनके

कथनों में सहजता और अनुक्रमिकता आती।[14]

इसतरह भाषा की सहजता की मांग लगातार निर्मल के साहित्य से की जा सकती है जिसकी कमी उनकी कहानियों में बनी रहती है। साठोत्तरी दौर में भाषा के प्रति इसतरह का आग्रह कई रचनाकारों में दिखाई देता है। इस संदर्भ में मारकंडेय जी ने लिखा ही है की रचनाशीलता को एक प्रक्रिया का हिस्सा समझने की आवश्यकता है। जब यह बोध हो कि वह किसी बंद कमरे में विकसित नही होती बल्कि उसका सामाजिक संदर्भ होता है तभी साहित्य में भाषा की सहजता को स्वीकार किया जा सकेगा।

वहीं दूसरी तरफ महिला रचनाकारों की भाषा है जिन्होंने उस वर्जित क्षेत्र में प्रवेश किया जो एक लंबे समय से पुरूषों के लिए आरक्षित था। इस समय में मन्नू भंडारी, उषा प्रियंवदा और कृष्णा सोबती की भाषा एक महत्वपूर्ण पड़ाव है। इन तीनों पर और खासतौर पर कृष्णा सोबती की भाषा पर विचार करना अत्यंत आवश्यक है। यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि एक तरफ औरत धर्म और परंपरा की आड़ में सतायी जाती है और दूसरी तरफ जब वह इनसब के खिलाफ विरोध करके बाहर आती है तो व्यवसायिकता उसे अपना शिकार बनाती है। इसतरह वर्तमान समय में भी औरत इस दोहरी मार को झेलती है। इन दोनों के बीच संतुलन बना कर रह पाना एक कठिन कार्य है। कृष्णा के यहाँ इस संतुलन का आभास लगातार बना रहता है। इनकी अधिकांश कहानियाँ सामाजिक नैतिकताओं पर लगातार प्रहार करती नज़र आती हैं। इनकी भाषा भी समाज की नैतिकता के आगे मनमानी करती है लेकिन कहीं पर भी उत्छृंखल होती दिखाई नहीं देती। एक खासतरह से पाठक को साध कर रखती है। अधिकांश आलोचकों ने इन्हें देह, तन और सेक्स को दिखाने वाली कथाकार का दर्जा दिया है। लेकिन इनकी कहानियों में इन विषयों से ज्यादा गंभीर सामाजिक संदर्भ उपस्थित हैं। इस विषय में मार्कंडेय जी ने लिखा है कि- इसमें संदेह नहीं है कि सोबती गंगाजल और शराब को, साथ साथ रखकर लोगों को चिढ़ाती हैं, दो भिन्न विरोधी तेज रंगों को परस्पर रखकर आंखों को चुधियाँ देती हैं लेकिन यह सब वे आत्मिक संतोष और गिलगिली भावुकता के लिए नहीं करती हैं- करतीं तो उनकी यह कहानी अश्लील हो उठती और मित्रों का प्रतीक झूठा और बेमानी हो उठता।[15]

इसतरह कृष्णा की भाषा में पवित्रता और अपवित्रता का जो सम्मिश्रण तैयार किया गया है वह यह सिद्ध करता है कि समाज में जहाँ एक तरफ नैतिकता के प्रतिमानों को गढ़ा जाता है वहीं दूसरी तरफ यथार्थ कुछ और ही होता है। समाज की जड़ों में छुपे इस गहरे अशुद्ध यथार्थ को दिखाना एक अत्यंत ही कठिन कार्य है। लेकिन कृष्णा अपनी भाषा के माध्यम से इस यथार्थ को उसके मिश्रित स्वरूप के साथ दिखाती हैं। अपने समकालीन महिला रचनाकारों से अलग भाषा होने का प्रमुख कारण यह है कि इनकी रचनाएं एक विस्तृत

संसार का निर्माण करती है। साथ ही औरतों के लिए वर्जित उस क्षेत्र में भी प्रवेश करती हैं जो एक लंबे समय से पुरूषों के संरक्षण में संचालित होता था। कृष्णा जी के यहां भाषा का एकदम नया और सधा हुआ रूप दिखाई देता है ना कम ना ज्यादा, शब्दों के बेमतलब इस्तेमाल से यह लगातार बचती हुयी दिखाई देती हैं।

दूसरी तरफ मन्नू भंडारी जी की भाषा है जिसमें पाठक सहज ही जुड़ा हुआ महसूस करता है। इनकी भाषा के सहज और प्रभावमय होने का कारण यह है कि यह जिस वर्ग के समाज का यथार्थ प्रस्तुत करती हैं वह शहरी मध्यवर्ग है। इस वर्ग की संवेदना को प्रस्तुत करते समय मन्नू को भाषा के साथ अधिक प्रयोग नहीं करने पड़ते हैं। इनके बारे में निर्मला जैन ने लिखा है कि- मन्नू की विशेषता है विषयों की पकड़। वास्तविकता के व्यापक परिदृश्य में ऐसे विरल मानवीय अनुभवों की पहचान जो अनुभूति की सघन मार्मिकता में तुरंत पाठकीय साझेदारी के लिए आमंत्रित कर लेते हैं। [16]

इसप्रकार मन्नू की भाषा सरल और सहज संरचना के कारण पाठक के साथ आत्मीय हो जाती है। यही इनकी रचनाओं की विशेषता भी है। अपने समय के प्रभावों से मुक्त रहकर इन्होंने भाषा के क्षेत्र में प्रेमचंद की परंपरा को आगे बढ़ाने का कार्य किया है। महिला रचनाकारों ने निःसंदेह रूप से पुरूषों के द्वारा निर्मित भाषा के संसार को तोड़ने की कोशिश की। साथ ही एक नयी संवेदना और विचार को स्त्री की अनुभूति से ओत प्रोत किया।

साठोत्तरी रचनाकारों में ज्ञानरंजन की भाषा पर भी विचार करना आवश्यक है। इनकी कई महत्वपूर्ण कहानियाँ हैं जिसमें भाषा तत्कालीन समाजिक परिस्थितियों पर व्यंग्य रूप में पाठक के सामने आती है। चूंकि ज्ञानरंजन एक ऐसे रचनाकार हैं जिनके यहाँ कहानियों में जिन विषयों को आधार बनाया जाता है वह हमारे आस-पास का समाज ही है। परिवार के बीच बदलते आपसी संबंध, इनके बीच जन्म लेने वाली कुंठाएं आदि पर लेखक के विचार उल्लेखनीय हैं। इस कारण इनकी भाषा भी अत्यंत आत्मीय जान पड़ती है। इनके बारे में विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जी लिखते हैं कि- व्यंग्य ज्ञानरंजन का एक अचूक हथियार है। वे छोटे वाक्यों में गहरा व्यंग्य करते हैं। कभी ईश्वर पर, कभी रूढ़ियों पर, कभी आचरण के अंतर्विरोधों पर। व्यंग्य को उनकी कहानियों से अलग नहीं किया जा सकता है। इसके कारण उनकी भाषा बड़ी सशक्त और जीवंत हो गयी है। निश्चय ही कहानी के प्रचलित फार्म को ज्ञान ने तोड़ा है। वे बात-चीत करते हुए- आत्मसाक्षात्कार प्रस्तुत करते हुए कहानियों को बुनते चलते हैं। जिससे वह कहानी से अधिक आत्मविश्लेषण लगती है। इसका एक असर तो यह हुआ कि वे कहानियाँ अपना बिखरा हुआ प्रभाव छोड़ती हैं।[17]

यह सत्य है कि ज्ञानरंजन की अनेक कहानियाँ आत्मालाप से शुरू होती हैं। एक व्यक्ति के दर्द के माध्यम से

वह ना केवल एक पूरे समाज वरन् एक युग के सत्य को व्यक्त करने का साहस करती हैं। पिता कहानी में पुत्र का दर्द यह है कि वह अपने पिता के सामने अपने को बहुत कमजोर महसूस करता है। उसका हर एक कदम उसे पिता के सामने जो एक जीवट के समाज खड़े हैं छोटा घोषित करता चला जाता है। इसतरह की संवेदना जिसका क्षेत्र बहुत विस्तृत होता है, उसके लिए भाषा में जिस पैनेपन की आवश्यकता है वह ज्ञानरंजन के यहाँ मौजूद है। यह पैनापन उनकी कहानियों को अत्यधिक प्रभावशाली बनाता है। इनकी भाषा कहीं पर भी संवेदना पर हावी होती दिखाई नहीं देती है बल्कि सहज सरल प्रवाह के साथ संवेदना को गति प्रदान करती है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. पांडेय, मैनेजर. साहित्य और इतिहास दृष्टि. हरियाणा ग्रंथ अकादमी. पंचकूलाः पृ.214.
2. वही. पृ. 227.
3. ठाकुर, समीक्षा(सं). कहना ना होगा. वाणी प्रकाशन. दिल्लीः पृ.34
4. राय, गोपाल. हिंदी कहानी का इतिहास. दिल्लीः राजकमल प्रकाशन. पृ.407.
5. नवल, नंद किशोर. हिंदी की कालजयी कहानियाँ. दानिश प्रकाशन. दिल्लीः पृ.161
6. शानी, गुलशेर खाँ. प्रतिनिधि कहानियाँ. राजकमल प्रकाशन. दिल्लीः पृ.118
7. पांडेय, मैनेजर. वही. पृ.208
8. ठाकुर, खगेंद्र. श्रेष्ठ हिंदी कहानियाँ (1950-60). पी.प.हा. दिल्लीः पृ.9.
9. तद्भव अंक अक्टूबर. 2012. पृ.164
10. मार्कंडेय. हिंदी कहानी यथार्थवादी नजरिया. लोकभारती प्रकाशन. दिल्लीः पृ.26.
11. फिशर, अंर्स्ट. कला की जरूरत. राजकमल प्रकाशन. दिल्लीः पृ.134
12. पांडेय, मैनेजर. वही. पृ.67.
13. यादव, राजेद्र. कहानी :स्वरूप और संवेदना. वाणी प्राकशन. दिल्लीः पृ.109
14. मार्कंडेय. वही. पृ.64
15. वही. पृ.88
16. जैन, निर्मला. कथा समय में तीन हमसफर. राजकमल प्रकाशन. दिल्ली. पृ.71
17. तिवारी, विश्वनाथ प्रसाद. गद्य के प्रतिमान. वाणी प्रकाशन. दिल्लीः पृ.164

पंचम अध्याय

प्रमुख यथार्थवादी कहानीकारों की कहानियों का विश्लेषण

प्रमुख यथार्थवादी कहानीकारों की कहानियों का विश्लेषण

हिंदी कथा साहित्य के इतिहास पर दृष्टिपात करने पर ऐसे अनेक रचनाकार दिखाई देते हैं जिन्होंने यथार्थवाद के विकास में भूमिका निभाई है। ऐसे कई रचनाकार हैं जो नयी पीढ़ी के सामने चुनौती के रूप में खड़े हैं। ऐसे कई आधार स्तम्भ हैं जिन्होंने साहित्य के इतिहास की धारा बदल दी। खासतौर से प्रेमचंद, प्रसाद, जैनेंद्र, यथपाल, रेणु, अज्ञेय, निर्मल वर्मा, कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी आदि की एक समृद्धशाली परंपरा हमारे सामने मौजूद है।

वह रचनाकार ही होता है जो समाज की सांस्कृतिक चेतना को पाठक तक पहुँचाता है। इसलिए युग के सांस्कृतिक इतिहास के गठन में रचनाकार की प्रमुख भूमिका होती है। वह समाज की वैचारिक चेतना को रचना के जरिए पाठक तक पहुंचाता है। इसक्रम में यथार्थवादी पद्धति अपनाने पर रचनाकार समाज से तथ्यों को लेता है और उसे अपनी विचारधारा के बरक्स रचना की शक्ल प्रदान करता है।

वैसे तो हिंदी कहानी का इतिहास आधुनिक काल के आरंभ होने के शुरू माना जाता है जहाँ यह विधा विकासशील अवस्था में थी। इसके स्वरूप और अंतर्वस्तु पर लगातार चर्चाएं हो रही थीं। कालांतर में प्रेमचंद के नेतृत्व में इस विधा ने अपनी विकसित अवस्था को प्राप्त किया। यही वह समय था जह कहानी विधा सच्चे अर्थों में समाज सापेक्ष हो गयी थी। साहित्य के क्षेत्र में यथार्थवादी दर्शन का विकास इसी समय में हो रहा था। यह वह समय है जब वैश्विक परिप्रेक्ष्य में समाजवादी विचारधारा का विकल्प प्रस्तुत किया जा रहा था। हिंदी साहित्य भी इस विचारधारा से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। कई रचनाकारों और इतिहासकारों ने इस पद्धति का वरण किया और साहित्य और समाज की द्वंद्वात्मक प्रक्रिया में उत्प्रेरक का कार्य किया।

अपने विकास के प्रारंभिक दौर में आदर्शवाद को यथार्थवाद का एक अंग माना जाता था। इस संदर्भ में रामविलास शर्मा जी ने समालोचना पत्रिका का एक अंक निकाला था जिसके अंतर्गत यथार्थवाद के आरंभिक दौर में साहित्य में इसका स्वरूप कैसा हो, इस पर कई महत्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किये गये। साहित्य का एक पुख्ता स्वरूप बनाने के क्रम में अनेक रचनाकारों ने इसका वरण किया। आजादी के पहले से ही साहित्य में यथार्थवादी पद्धति ने अपना स्थान तो बना लिया था लेकिन उसका विकास एक लंबे समय तक होता रहता है। इसके तहत रचना एवं रचनाकार को एक सामाजिक इकाई के रूप में प्रस्तुत किया जाता रहा है। एक लंबे समय से साम्राज्यवादी शक्ति के शोषण की शिकार भारतीय जनता को जब आजादी प्राप्त हुई तो उत्साह की लहर पूरे देश में दौड़ गयी। लेकिन यह उत्साह लंबे समय तक नहीं बना रह सका। जल्दी ही यह पता चल गया कि यह एक प्रकार की राजनैतिक आजादी थी और हम अभी भी

आर्थिक और मानसिक रूप से ब्रिटिश सत्ता के गुलाम थे।

इस कठिन समय में साहित्य को एक ऐसी विचारधारा की आवश्यकता थी जो जनता के सामने वास्तविकता को प्रस्तुत कर सके। इसक्रम में नयी कहानी आंदोलन का जन्म होता है। इसी समय अनुभव की प्रामाणिकता तथा भोगे हुए यथार्थ की पद्धति साहित्य में आयी। इस निराशा के युग में ऐसे कई रचनाकार थे जिन्होंने साहित्य को उसके इतिहास और भविष्य से काटकर प्रस्तुत किया तथा यह निश्चित किया कि साहित्य में जिस समय में हम जी रहे हैं उसी का चित्रण यथार्थ है। जाहिर है इस आंदोलन की अपनी सीमाएं थीं जो बहुत जल्दी ही सामने आ गयीं। लेकिन इस समय में कुछ ऐसे भी रचनाकार थे जिन्होंने इस दौर में साहित्य में आने वाले वैचारिक विचलन से अप्रभवित रहते हुए साहित्य की सामाजिकता को बनाए रखा। जिसकी अभिव्यक्ति नीचे लिखे रचनाकारों की रचनाओं के माध्यम से की गयी है।

5.1. कमलेश्वर :

'शायद कुछ परिवर्तित होने की प्रतीक्षा ही मेरी कहानियों की आधारभूमि है। शाश्वत और निरपेक्ष सत्य औरों के पास होगा, मेरे पास नहीं है, यदि कुछ है तो समयागत सापेक्ष यथार्थ जो इकहरा नहीं बहुत उलझा हुआ है।'[1]

-कमलेश्वर

कमलेश्वर की प्रतिनिधि कहानियों की भूमिका में उनके द्वारा कहे गये यह वाक्य उनकी कहानियों के यथार्थवादी पक्ष के संदर्भ में महत्वपूर्ण हैं और उनकी कहानियों के उद्देश्य को स्पष्ट करती हैं। इनका नाम नई कहानी आंदोलन के अगुआ कथाकारों में आता है। इनकी पहली कहानी 1948 में प्रकाशित हो चुकी थी लेकिन 1957 में राजा निरबंसिया के प्रकाशित होने के बाद इनको अत्यन्त लोकप्रियता हासिल हुयी। इन्होंने तीन सौ से भी अधिक कहानियाँ लिखी हैं जिसमें प्रमुख रूप से मांस का दरिया, नागमणि, अपना एकांत, आसक्ति, जिंदा मुर्दे, जार्ज पंचम की नाक, मुर्दों की दुनिया, कसबे का मालिक और स्मारक आदि प्रमुख हैं।

कमलेश्वर गहरे अर्थों में मध्यवर्गीय संवेदना के रचनाकार बनकर सामने आते हैं। इनकी कहानियों के कथ्य एवं अंतर्वस्तु पर चर्चा करने पर यह तथ्य सामने आता है कि आजादी के बाद के बदलते मानव मूल्य इनकी कहानियों के केंद्र में है। सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों को इस बदलते हुए मानवीय मूल्यों के कारण के रूप में दिखाया गया है। कई कहानियों में सामाजिक यथार्थ व्यंग्य के रूप में और कई स्थानों पर

यह सीधे - सीधे पाठक के सामने पहुँचता है।

कोहरा कहानी विश्व भर में चल रहे आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक उथल-पुथल के बीच तीन युवाओं की संवेदना को व्यक्त करती है। इस कहानी में नियति के प्रति किसी प्रकार का विद्रोह दिखाई नहीं पड़ता है वरन् एक प्रकार की निष्क्रियता का परिचय होता है। कहानी में स्त्री - पुरूष संबंधों पर अधिक चर्चा है।

जार्ज पंचम की नाक 1961 में नयी कहानी पत्रिका में प्रकाशित हुयी। प्रमुख रूप से यह कहानी सरकारी तंत्र पर व्यंग्य है। इस कहानी में दिखाया गया है कि जार्ज पंचम की नाक जोड़ने की प्रक्रिया में पूरे देश की नाक कट जाती है। डॉ विश्वनाथ त्रिपाठी जी ने इसे एक गुलाम देश की हीन भावना पर व्यंग्य करने वाली कहानी के रूप में ग्रहण किया है।[2] यह वास्तविकता है कि जार्ज पंचम की नाक को जोड़ने में हम अभी भी लगे हुए हैं। साम्राज्यवादी सोच से लड़ने के लिए कमलेश्वर के युग में शायद हमारे पास समय था लेकिन अभी की परिस्थितियां बहुत ही अस्पष्ट हैं। इस कहानी के संदर्भ में गंगा प्रसाद विमल ने कहा है कि- हमारी स्मृतियों में किवदंती बने कीर्ति पुरूषों के बहाने संपूर्ण समाज पर चोट है।[3]

यदि साठोत्तरी कहानियों के विशेष संदर्भ में कमलेश्वर को देखा जाए तो 1961 से 1965 के बीच लिखी हुयी इनकी कहानियों पर कस्बाई मानसिकता हावी है। इसमें प्रमुख रूप से खोई हुयी दिशाएं, दिल्ली में एक और मौत, पराया शहर, आदि कहानियाँ आती हैं। कमलेश्वर की सबसे लोकप्रिय कहानी राजा निरबंसिया एक कालजयी कहानी है जिसके माध्यम से लेखक की कहानी कला संबंधी प्रतिभा उभर कर सामने आती है। इस कहानी के संदर्भ में गोपाल राय ने लिखा है कि- इसमें लोक कथा और आधुनिक निम्न मध्यवर्गीय जीवन के आख्यान के मेल से कमलेश्वर ने एक बहुत ही अच्छी कहानी बुनी है। यह आर्थिक अभाव में टूट जाने वाली एक निम्न मध्यवर्गीय युवक जगपति की कहानी है, जो लोककथा के समानांतर चलती है। उद्देश्य लोककथा और आख्यान का अंतर स्पष्ट करना तो है ही, लोककथा के उपयोग से आधुनिक आख्यान को प्रभावशाली बनाना भी है।[4]

यह कथन राजा निरबंसिया के संदर्भ में सटीक है। एक निम्न वर्गीय कथाकार के रूप में कमलेश्वर अत्यंत ही सहज दिखाई पड़ते हैं लेकिन मध्यवर्गीय यथार्थ को दिखाते समय अस्पष्ट रह जाते हैं। राजा निरबंसिया कई अर्थों में बहुत ही महत्वपूर्ण कहानी है। यहाँ ना सिर्फ आर्थिक असमानता को दिखाया जा रहा है बल्कि एक निम्न मध्यवर्गीय परिवार के बीच स्त्री और पुरूष के आपसी संबंधों पर भी गहरायी से दृष्टिपात किया गया है। तकनीक की दृष्टि से भी यह काफी महत्वपूर्ण कहानी है जहाँ परंपरा और आधुनिकता का मेल कराने की सफल कोशिश की गयी है इस दृष्टि से यह एक प्रयोगात्मक कहानी है।

अपनी कुछ कहानियाँ कमलेश्वर ने वेश्याओं पर केंद्रित करके लिखी हैं। इसमें प्रमुख रूप से मांस का दरिया

और रातें कहानियों का स्थान है। इन कहानियों में लेखक में वेश्याओं के जीवन पर बहुत संजीदगी के साथ लिखा है' इस संदर्भ में गोपाल राय ने लिखा है कि मांस का दरिया कहानी में कमलेश्वर ने वेश्या को औरत के रूप में देखा है।[5] इस कथन पर विचार करने की जरूरत है कि एक औरत जो वेश्या बन चुकी है उसके सामाजिक अनुभव परिवार के बीच रहने वाली स्त्री से थोड़े भिन्न होते हैं। उसके सामने कई प्रकार की आर्थिक समस्याएं भी आती हैं जिससे वह लड़ती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि उसके औरत होने पर प्रश्न चिह्न लगाया जा सकता है। यदि इस संदर्भ में मांस का दरिया कहानी को देखा जाए तो कमलेश्वर इसे सिद्ध करते हैं। इसप्रकार कमलेश्वर के चरित्र अपने सामाजिक संदर्भों के साथ सामने आते हैं। इस कहानी में लगातार बदलते ममाज को स्वरूप पर विचार करने का साथ-साथ उसके बीच मनुष्य की नियति पर विचार किया गया है।

नयी कहानी आंदोलन के दौर में कमलेश्वर जैसे रचनाकारों की प्रासंगिकता अत्यधिक बढ़ गयी थी। एक तरफ साहित्य का समाज के साथ संबंध टूटता जा रहा था, वहीं दूसरी तरफ कला एवं साहित्य का व्यावसायिकता के साथ संबंध गहराता जा रहा था। यहाँ प्रगतिशीलता के नाम पर एक तरह का बाजार निर्मित करने की कोशिश की जा रही थी और यह कोशिश कई अर्थों में सफल भी हुयी। इस संदर्भ में नामवर सिंह जी ने अपने साक्षात्कार में कहा है कि- मध्यवर्गीय मानसिकता को उभारने वाली कहानियों में विकास के बावजूद नयी कहानी आंदोलन के दिनों में एक दौर ऐसा भी आया जब व्यावसायिकता उसपर हावी हुयी। आज भी सारिका जैसी पत्रिकाओं में इसका रूप दिखाई पड़ता है। यह व्यावसायिकता प्रगतिशीलता का नकाब ओढ़ कर आयी थी। उसका एक मात्र उद्देश्य इसी को भुनाना था।[6]

नयी कहानी आंदोलन पर व्यावसायिकता के आरोप लगते ही रहे हैं और इसके प्रमाण भी मिलते रहे हैं। इसप्रकार की विपरित सामाजिक और साहित्यिक परिस्थितियों के बीच रचनाकार कमलेश्वर ने अपनी अलग पहचान बनायी है। कहानी की इस व्यावसायिकता के बीच लगातार सही सवालों को उठाना और उसके समाधान तक पहुँचना एक यथार्थवादी रचनाकार की पहचान होती है जिसपर कमलेश्वर काफी हद तक सफल होते हैं।

इन सब के अतिरिक्त कमलेश्वर 1961 में नयी कहानी पत्रिका के संपादक भी बने। इस आंदोलन को एक सही दिशा में लेकर जाना एक महत्वपूर्ण कार्य था। कारण यह की मध्यवर्गीय मानसिकता से ग्रसित नयी कहानी आंदोलन के साहित्यिक प्रश्न, समाज के किस वर्ग के पक्ष में हैं इसपर अत्यधिक विचार करने की आवश्यकता है। इतने कठिन समय में जबकि सही और गलत के बीच इतना झीना पर्दा हो कि उसके बीच भ्रम पैदा हो जाए उस समय में कमलेश्वर के साहित्यिक और सामाजिक सरोकार बहुत ही स्पष्ट दिखाई

पड़ते हैं।

इन सब के अतिरिक्त कमलेश्वर ने एक सड़क सत्तावन गलियाँ, डाक बंगला, तीसरा आदमी, समुद्र में खोया आदमी और काली आंधी, कितने पाकिस्तान जैसे उपन्यास लिखे। इनके उपन्यास काली आंधी पर गुलजार ने फिल्म आंधी का निर्माण किया। इसके साथ ही यह लंबे समय तक भारतीय दूरदर्शन में स्क्रिप्ट लेखक के रूप में काम करते रहे। इसके अंतर्गत चंद्रकांता, बेताल पचीसी, युग, आकाश गंगा, रेत पर लिखे नाम आदि महत्वपूर्ण हैं।

5.2. निर्मल वर्मा:

निर्मल वर्मा को नयी कहानी आंदोलन के प्रतिनिधि लेखक के रूप में जाना जाता है। इनकी कहानियों का धरातल बहुत ही विस्तृत है। इसीलिए इन पर अत्यधिक विवाद भी हुआ है। इनके द्वारा रचित परिंदे कहानी इनकी लोकप्रियता का कारण बनी। इस कहानी के संदर्भ में नंद किशोर नवल जी ने कहा है कि- अकेलापन निर्मल जी की कहानियों की मुख्य अंतर्वस्तु है। यह आधुनिक सभ्यता की देन है, जो भारत में आधुनिकीकरण के साथ उसपर भी अपना प्रभाव डालने लगा है। निर्मल जी काफी पहले से लक्षित करने वाले थोड़े से लेखकों में से हैं। इस कहानी का परिवेश प्रेमचंद से लेकर रेणु तक के पाठकों के लिए अपरिचित है लेकिन भारत गाँव या मैदानी इलाकों के कस्बों- शहर तक ही सीमित नहीं हैं। इसतरह वह अभारतीय नहीं है।[7]

यदि देखा जाए तो रचनाकार अपने साहित्य में समाज के वर्तमान को दिखाता है। साथ ही उसके भविष्य की भी कल्पना करता है। इस संदर्भ में निर्मल वर्मा की कहानी परिंदे की चर्चा की जाए तो यह दिखाई देता है कि इसमें वर्णित समाज की सच्चाई एक खास वर्ग का यथार्थ चित्रित करती है। इस वर्ग का मनुष्य अकेलेपन और आधुनिक समाज की विसंगतियों की शिकार है। यहाँ मुक्ति का रास्ता नहीं है। केवल विवशता है जो एक अंधे कूएं की तरफ लेकर जाती है। निर्मल जी इसी विडंबना की तरफ इशारा करते हैं। यह कहानी डॉ. ह्यूबर्ट, लतिका और डॉ. मुखर्जी के इर्द-गिर्द घूमती है। यह तीनों पात्र समाज के अलग-अलग वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनका जीवन एक लंबे समय से यथास्थिति में है। यहाँ परिवर्तन की कोई संभावना नहीं है। कहानी के केंद्र में लतिका है जो एक स्कूल की प्रिंसिपल है। आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होते हुए भी उसका व्यक्तिगत जीवन भी भावनात्मक अस्थिरता का शिकार है। यदि देखा तो यह समस्या आधुनिक समाज में एक आम बात है। जब यह कहानी लिखी जा रही थी (1960 में) उस समय शायद यह एक अपरिचित समाज की कथा हो सकती है लेकिन वर्तमान समाज में यह एक कड़वे यथार्थ की

तरह हमारे सामने है। कहानी का अंत इस घोर अकेलेपन से मुक्ति की तरफ लेकर जाता है। लतिका का अपने स्टूडेंट के प्रेम-पत्र को वापस उसके तकिये के नीचे रख कर आना कहानी का ऐसा मोड़ है जहाँ पर इस अकेलेपन और निराशा भरी जिंदगी से छुटकारा पाने की लालसा है, एक तरह की मुक्ति की तड़प है। इसी जगह पर आकर लतिका बदलाव के लिए कदम बढ़ाती है।

इसके अलावा दहलीज, लवर्स, जलती झाड़ी आदि कहानियाँ बदलते सामाजिक यथार्थ के बीच स्त्री-पुरूष संबंधों के बदलते स्वरूप, अकेलापन, अजनबीयत की शिकार पीढ़ी का चित्रण करती हैं। इन कहानियों की मूल अंतर्वस्तु अकेलापन ही है।

लंदन की एक रात कहानी एक विदेशी पृष्ठभूमि पर आधारित है। जहाँ अपनी प्रारंभिक कहानियों में निर्मल जी एक तरह के आशावादी अंत की तरफ अग्रसर होते हैं वहीं दूसरी तरफ इस कहानी का अंत एक संवेदना शून्य समाज का चित्रण करती है। जहां किसी पर भी कोई फर्क नही पड़ता है। कहानी के अंत में लिखे यह वाक्य कि- पहाड़ियों की भड़भड़ाती आवाज धीरे-धीरे मंद पड़ती गयी और फिर सब पूर्ववत शांत हो गया। सुरंग के जिस अंधेरे को ट्यूब की हेडलाइट ने पीछे खिसका दिया था, वह फिर वापस लौट आया।[8]

इसतरह जो अंधेरा वापस लौट आया है वह निराशा का सूचक बन के आया है ।अर्थात् परिस्थितियां इतनी जटिल हैं कि आशावादी होना कठिन है। इस कहानी में यह दिखाया गया है कि पूरा का पूरा समाज ही भावनात्मक अनियंत्रण का शिकार है। इसका कारण हमारी सामाजिक संरचना है जो हमें लगातार भावना शून्य बनाती जा रही है।

अपनी कहानियों में निर्मल जी के यहां विश्व भर में चल रहे आंदोलनों की झलक भी दिखाई देती है। प्रमुख रूप से उनकी कहानी लंदन की एक रात में जहाँ नायक अपने रंग भेदी हिंसा के बीच एक अंग्रेज लड़की के घर में छिपा रहता है और सोचता है कि : जब बह एक -एक नीग्रो को चुनकर लिंच कर रहे थे, मैं उस सफेद 'ह्वोर' के संग सोता रहा। असने सोचा था, मै उसे चाहता हूँ...लेकिन मैं उसे उसके बाद देखा तक नहीं। उसे नहीं मालूम, मैं बदला ले रहा था...उसकी सफेद चमड़ी के संग...और उसने हाथ से इशारा किया - अश्लील उतना नही जितना जुगुप्सामय।[9]

यह पंक्तियाँ अस्मितावादी आंदोलन की विफलता की तरफ इशारा कर रही हैं। इसके दर्शन हमें समकालीन रचनाकार उदय प्रकाश की कहानी पीली छतरी वाली लड़की में होते हैं, जिसका नायक एक दलित परिवार से है और एक उच्च जाति की युवती से प्रेम करता है। उसके साथ बिताए हुए अंतरंग क्षणों में उसे ऐसा प्रतीत होता है कि वह अपनी जाति पर किये गये शोषण का बदला ले रहा है। उपरोक्त पंक्तियों में ऐसे ही विचार दिखाई दे रहे हैं। अब प्रश्न यह है कि इस प्रकार की प्रतिशोध की भावना समाज को किस तरफ

लेकर जाएगी? क्योंकि अंततः रचनाकार समाज के प्रति उत्तरदायी है। उदय प्रकाश और निर्मल वर्मा के रचनाकाल के बीच 30-40 वर्षों का अंतर है लेकिन जो समस्या उदय प्रकाश के यहां है वही लंबे समय पहले निर्मल जी की कहानियों में भी व्यक्त हो चुका है। यह उसी प्रकार है जैसे वर्तमान समय में अपने धर्म, सम्प्रदाय और जाति का संरक्षण करते समय हम दूसरों को नीचा दिखाने के लिए उस जाति, धर्म और सम्प्रदाय की औरतों के साथ दुर्व्यवहार करते अपनी जीत पर मुहर लगाते हैं। इसप्रकार का बदला हमें सिर्फ जीत का भ्रम दिला सकता है, उद्देश्य में सफल नहीं कर सकता है।

इसके अतिरिक्त निर्मल जी के यहाँ भाषा एक महत्वपूर्ण पक्ष है जो उनकी भावनाओं और संवेदनाओं को पाठक के समक्ष रखती है। यह भाषा ही है जो इनके यहाँ दर्शन के कठिन से कठिन तथ्य बहुत सहजता से प्रकट हो जाते हैं। भाषा बौद्धिकता के कठोर आवरण को थोड़ा हल्का कर देती है। जलती झाड़ी का यह वाक्य- जैसा आप जानते हैं, मैने उस रात आत्महत्या नहीं की। उसके बाद भी नहीं। लेकिन यह जानते हुए की मै जिंदा हूँ, पतझड़ की उस शाम के बाद अक्सर यह चिंता होने लगती कि मरने के लिए आत्महत्या बहुत जरूरी नहीं है।[10]

इसतरह यह वाक्य अपने भीतर बहुत ही दार्शनिकता समेटे हुए है। इसका एक और उदाहरण देखें- इतना ही हुआ। वे चले गये थे मुझे अपने पर छोड़कर। मै फिर वहाँ अकेला छूट गया था, किंतु उनके जाने के बाद पहले का सा अकेलापन वापस नहीं आया। जब तक अकेलापन संग रहता है, सही मानों में तब हम अकेले नही होते।[11]

इस वाक्य में अकेलेपन में अकेले न होने का आभास निर्मल वर्मा जी के यहाँ ही प्राप्त किया जा सकता है। भाषा का ऐसा उपयोग कम लोगों के यहां देखने को मिलता है। यही कारण है कि भाषा इनके यहाँ एक महत्वपूर्ण टूल के रूप में सामने आती है। जो बौद्धिक और दार्शनिक विमर्शों के बीच पाठक को असहज नहीं बनने देती है।

यदि यथार्थवाद के आइने से निर्मल जी की रचनाओं पर प्रकाश डाला जाए तो कुछ महत्वपूर्ण तथ्य सामने आते हैं। इनकी कहानियों में अपने समय के समाज की विसंगति और उसके भविष्य की चिंता दिखाई देती है। नयी कहानी आंदोलन का आरंभ अपने पारंपरिक प्रतिमानों को नकारने के क्रम में हुआ था, जिसके अंतर्गत बदलते हुए सामाजिक यथार्थ को अनुभव की प्रामाणिकता, परिवेश की विश्वसनीयता और अभिव्यक्ति की ईमानदारी के आधार पर व्यक्त करने का प्रचलन आरंभ हुआ था। इसका कारण यह दिया गया कि ये तत्व समकालीन यथार्थ को बेहतर तरीके से व्यक्त कर सकते हैं। इस संदर्भ में यदि निर्मल की कहानियों का मूल्यांकन किया जाए तो वह इन तीनों प्रतिमानों पर खरी उतरती हैं। वह शहरी जीवन के

अकेलेपन, ऊब, संत्रास और कुंठा को अपनी खास लेखन शैली में व्यक्त करते हैं।

आरंभ से लेकर अंत तक की कहानियाँ समाज के शहरी वर्ग की कथा व्यक्त करती हैं। गाँव का जीवन निर्मल वर्मा जी से छूटा हुआ है, जो कि उस समय का एक बहुत बड़ा वर्ग था। विषम सामाजिक परिस्थितियों में उनका जीवन किस प्रकार से प्रभावित हो रहा था, निर्मल की किसी भी कहानी में इसका उल्लेख नहीं है। इसतरह निर्मल वर्मा जी शहरी जीवन के रचनाकार बनकर उभरते हैं। उनकी कई कहानियां एक-सी जान पड़ती हैं अर्थात संवेदना एक ही तरह की उभरकर सामने आती है। इनकी कहानियों के संदर्भ में नामवर जी ने कहा है कि- निर्मल ने अपनी रचना के द्वारा यह प्रमाणित कर दिया कि जो सबका अतिक्रमण करने की क्षमता रखता है वह सबको सजीव चित्र में उकेरने की सिद्धि भी प्राप्त करता है। निर्मल ने स्थूल यथार्थ की सीमा पार करने की कोशिश की है। उन्होंने तात्कालिक वर्तमान का अतिक्रमण करना चाहा है। उन्होंने प्रचलित कहानी कला के दायरे से भी बाहर निकलने की कोशिश की है...इसलिए उनकी कहानी कला में नवीनता है, भाषा में नव जातक की सी सहजता और ताजगी है, वस्तुओं के चित्रों में पहले पहल देखे जाने का अपरिचित टटकापन है।[12]

यह सच है निर्मल जी की कहानियों में एक खास तरह का नयापन है जो पाठक को बहुत लुभाता है। इनकी भाषा एक अलग तरह के संसार की रचना करती है। और यह भी सच है कि उनके यहाँ स्थूल यथार्थ की सीमा को पार किया गया है। लेकिन सफल कलाकृति यथार्थ के अतिक्रमण से नहीं वरन उसका सामना और उससे जूझने के क्रम में बनती है। निर्मल जी के यहाँ इन दोनों की कमी लगातार महसूस होती है। हमें यह तो पता चलता है कि इन विषम परिस्थितियों में हम यथास्थितिवादी बनते जा रहे हैं लेकिन उससे बाहर निकलने का क्या रास्ता है इसपर चर्चा नहीं कर पाते। एक प्रकार का विडंबनाबोध तो होता है लेकिन किसप्रकार इससे मुक्त हुआ जाये यह समझ नहीं आता। इसप्रकार एक यथार्थवादी रचनाकार होते हुए भी निर्मल जी की रचनाओं की अपना सीमाएं हैं। फिर भी हम नयी कहानी आंदोलन के आरंभिक दौर में इनके योगदान को अनदेखा नहीं कर सकते हैं। इनकी रचनाएं अपनी सीमाओं के साथ हमारे सामने उपलब्ध हैं जो बाद में यथार्थवाद के सिद्धांत निर्माण में एक महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में जुड़ती हैं।

5.3.मन्नू भंडारी :

मन्नू भंडारी हिंदी कहानी के इतिहास में छठे दशक की एक महत्वपूर्ण महिला कहानीकार बनकर सामने आती हैं। प्रमुख रूप ने इनके तीन कहानी संग्रह यही सच हैं (1966), एक प्लेट सैलाब (1968) और त्रिशंकु (1978) प्रकाशित हुए हैं। इन संग्रहों के माध्यम से मन्नू भंडारी के विचारों को समझा जा सकता है। एक

महिला कथाकार होने के नाते इन्होंने ना केवल समाज में औरत के स्थान का विश्लेषण किया है वरन् समाज के हर वर्ग पर अपनी कलम चलायी है। मन्नू भंडारी के समान हिंदी साहित्य में बहुत कम महिला लेखिकाएं हैं जो किसी भी तरह की अतिवादिता से मुक्त हैं। अपने संग्रह यही सच है के संदर्भ में मन्नू भंडारी ने स्वयं लिखा है कि- यही सच है कि कहानियां अधिक सधी हुयी और अधिक मंजी हुयी हैं। इकहरे की जगह द्वंदग्रस्त पात्र...संवेदना की गहराई...भाषा शैली का निखार- यह राय मेरी नहीं, पाठकों और समीक्षकों की है।...विचार, विवेक और अंतर्दृष्टि इन कहानियों का आधार है।[13]

यही सच है संग्रह की कहानियां वास्तव में बहुत ही सधी हुयी और मंजी दिखाई पड़ती हैं। यह कहानियाँ अपने तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों को यथार्थवादी ढंग से पाठक के सामने लेकर आती हैं। मन्नू भंडारी की यह विशेषता है कि इनके पात्र लगातार अपने इतिहास के साथ द्वंद्व करते दिखाई पड़ते हैं। अपनी वर्तमान विडंबनाग्रस्त जीवन के लिए इतिहास में झांक कर देखते हैं। यह एक रचनाकार की सार्थकता होती है कि वह समाज की सही समस्याओं को उठाए और उसके समाधान को सामने लेकर आये और इनके यहाँ यह तथ्य दिखाई देता है। इनके यहां पात्र समस्याओं को सुलझाने के क्रम में अपने से उलझते नहीं हैं वरन् अपने इतिहास से लगातार द्वंद्व करते दिखाई देते हैं।

इससंग्रह की पहली कहानी क्षय आजादी के बाद लगातार बदलती हुयी सामाजिक परिस्थितियों को उजागर करती है। क्षय नाम यहां एक प्रतीक की तरह है जो यह दिखाता है कि जैसे यह रोग एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में संचरित होता है, वैसे ही इस विपरित सामाजिक व्यवस्था में शोषण का कुचक्र पीढ़ी-दर पीढ़ी चलता रहता है। कहानी के यह अंतिम वाक्य- एका एक कुंती को लगा की उसकी यह खांसी, यह खोखली-खोखली आवाज, पापा की खांसी से कितनी मिलती-जुलती है...हूबहू वैसे ही तो है! सहमकर उसने गाड़ी के शीशे में देखा, कहीं उसके चेहरे पर वैसी ही मुर्दानी तो नहीं जो उसके पापा के चेहरे पर है...?[14] उस सामाजिक विडंबना की तरफ इशारा करते हैं जहाँ गरीबी, शोषण और अत्याचार का सिलसिला खत्म ही नहीं होता है। इस कहानी के विषय में गोपाल राय ने कहा है कि -पिता का क्षय ग्रस्त होना कुंती के पूरे व्यक्तित्व को ही क्षयग्रस्त कर देता है।[15]

वहीं दूसरी तरफ स्वयं मन्नू भंडारी ने कहा है कि- कहानी के अंत में उस लड़की को खांसी उठती है। उसे अपनी खांसी में पिता की खांसी की आवाज सुनाई देती है। मतलब यह कि पिता का शारीरिक क्षय बेटी के नैतिक क्षय में विस्तार पाता है। उसे समझौता करना पड़ता है।[16] आर्थिक परिस्थितियों के कारण कुंती विवश है वह सब कुछ करने के लिए जो उसको समाज में थोड़ा सम्मान दिला सके। इन सब को दिखाने के लिए मन्नू भंडारी एक परिवार की विषय वस्तु को चुनती हैं और आर्थिक विषमता के इस कुचक्र को बिना

किसी पक्षपात के दिखाती हैं। इनके यहाँ यह तकनीक बहुत ही प्रचलित है कि कहानी के पात्र लगातार अपने इतिहास के साथ द्वंद्व करते नज़र आते हैं। इसी संग्रह की कहानी 'तीसरा आदमी' कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। आजादी के बाद बदलते हुए सामाजिक एवं मानवीय मूल्यों के आइने से स्त्री-पुरूष के संबंधों को देखने की कोशिश की गयी है। जहाँ पति के बाद एक दूसरा आदमी आकर पति-पत्नी के रिश्ते के बीच असंतुलन पैदा करता है। इस कहानी के केंद्र में पुरूषवादी मानसिकता की विडंबना को तो दिखाया ही गया है, साथ ही आधुनिकता और परपरा के बीच का द्वंद्व को भी दिखाया गया है। इसप्रकार का द्वंद्व मन्नू की अन्य कहानियों में भी दिखाई देता है। मन्नू भंडारी ने यह दिखाया है कि बदलते मानवीय, नैतिक मूल्यों के कारण लोग अपनी वेश-भूषा और बात व्यवहार तो बदल लेते हैं और बहुत ही आधुनिक बनने की कोशिश करते हैं लेकिन अपनी सोच को नहीं बदल पाते हैं।

इसप्रकार अपनी अन्य कहानियों में भी इन्होंने लगातार बदलते हुए सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक परिदृश्य का मानवीय संबंधों पर पड़ने वाले प्रभावों पर दृष्टिपात किया गया है। सजा, नकली हीरे आदि इसी प्रकार की कहानियाँ हैं। इस संग्रह की कहानी नशा स्त्री विमर्श की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। मन्नू भंडारी अपनी तत्कालीन सामाजिक और साहित्यिक विमर्शों से अलग हटकर नहीं रह सकती थीं और इसी क्रम में वे स्त्री विमर्श से जुड़ी नशा जैसी कहानी लिखती हैं। यथार्थवाद के परिप्रेक्ष्य में इस कहानी का विश्लेषण करने पर यह पता चलता है कि यहाँ औरत को एक सामाजिक इकाई के रूप में दिखाया गया है। जो अपने नशाखोर पति को नशा मुक्त करने में असफल होती है और अंत तक उसे नशा करने के लिए पैसे देती रहती है। इस कहानी के अंत में एक प्रकार का विडंबना बोध है, जहां आनंदी सब कुछ जान कर और चाह कर भी अपने आप को नहीं बदल पाती है और इसका कारण है हमारा समाज और उसकी प्रथाएं। इसके अलावा इन्होंने अनेक कहानियों में औरत के अंतर्मन की भावनाओं को उकेरने में गहरी अंतर्दृष्टि का परिचय दिया है। यही सच है, एक बार और, ऊँचाई आदि इसी प्रकार की कहानियाँ हैं। इसमें स्त्री और पुरूष के बीच के आपसी संबंधों का एक अलग रूप प्रस्तुत किया गया है। इन कहानियों के संदर्भ में गोपाल राय ने कहा है कि- यही सच है की तरह एक बार और प्रेम की दुविधा को लेकर लिखी गयी कहानी है, वहाँ नायिका उस दुविधा की शिकार है और दो पुरूषों को एक जैसा प्यार करती है। यहाँ नयिका बिन्नी की भावनाओं को उकेरने में मन्नू ने गहरी अंतर्दृष्टि का परिचय दिया है। पति-पत्नी के संबंधों में किसी तीसरे के हस्तक्षेप से आयी स्थिति का चित्रण जैनेंद्र की कहानियों से आरंभ हो जाता है और मन्नू की कहानियों में भी यह विषय आता है।[17]

उपरोक्त पंक्तियों में गोपाल राय ने मन्नू भंडारी की कहानियों के अंतर्वस्तु की तुलना जैनेंद्र से की है। लेकिन

यहाँ इन दोनों की विचारधारा में मूलभूत अंतर दिखाई देता हैं। जहाँ एक तरफ मन्नू भंडारी के स्त्री चरित्र यथार्थवादी हैं वहीं जैनेंद्र के यहाँ यह भाववादी दिखाई देते हैं। आनंदी, कुंती, गुलाबी- सारे स्त्री चरित्र एक सामाजिक इकाई के रूप में सामने आते हैं। वह बदलना तो चाहते हैं लेकिन विषम सामाजिक तंत्र उन्हें बदलने नहीं देता है। इनकी कहानियों में एक प्रकार का विडंबनाबोध महसूस किया जा सकता है जो यथार्थवादी पद्धति की एक विशेषता है।

यदि स्त्री-विमर्श के विशेष संदर्भ में मन्नू भंडारी की कहानियों का विश्लेषण किया जाए तो कई महत्वपूर्ण तथ्य सामने आतें हैं। यदि गौर से देखा जाए तो स्त्री विमर्श के प्रारंभिक दौर में यह आंदोलन मध्यवर्गीय मानसिकता से ग्रसित दिखाई देता है। स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व के नारे के साथ शुरू हुआ यह आंदोलन एक गलत दिशा में जाता हुआ प्रतीत होता है। इस संदर्भ में रचनाकारों से कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न अछूते रह जाते हैं। समानता की इस लड़ाई में आर्थिक असमानता को दूर करते-करते समाज के निम्न वर्ग की स्त्री इस परिधि से बाहर निकली हुयी दिखाई देती है और इस क्रम में जो भी समस्याएं दिखाई देती हैं वह मध्यवर्गीय स्त्री की समस्या बनकर सामने आती है। जहाँ एक तरफ मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद की परिधि में स्त्री मुक्ति के प्रश्न शरीर की मुक्ति पर आकर टिक जाते हैं, वही दूसरी तरफ मन्नू भंडारी की कहानियों में औरत को एक ऐसी इकाई के रूप में चित्रित किया गया है जिसपर सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक कारणों का प्रभाव पड़ता है और वह ना केवल उससे जूझती है वरन् उसके विरोध में भी खड़ी होती है।

इस संदर्भ में रानी माँ का चबूतरा और नशा महत्वपूर्ण कहानियाँ हैं। खास तौर पर रानी माँ का चबूतरा समाज में सती औरत के चरित्र पर एक कटाक्ष की तरह है। रचनाकार ने इसमें यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि आर्थिक परिस्थितियों के बरक्स ही मनुष्य के चरित्र में परिवर्तन आता है। इस कहानी की प्रमुख चरित्र गुलाबी अपनी विषम आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितयों से लड़कर अपने बच्चे को शिक्षा दिलाने के लिए संघर्ष करती है। और अंत में अपनी जान को खतरे में डालकर भी उसके स्कूल की फीस भरती है। मन्नू के यहां स्थितियां बहुत ही स्पष्ट तरीके से सामने आती हैं।

समाज उस औरत को सती का दर्जा देता है जो किसी भी प्रकार का विरोध किये बगैर सब कुछ सहन कर जाती है और उस औरत को चरित्रहीन घोषित करती है जो अपनी शर्तों पर जीवन जीने की कोशिश करती है। रानी मां का चबूतरा कहानी में गुलाबी इसी दूसरे प्रकार की विद्रोहिणी चरित्र बनकर सामने आती है। इसके विषय में निर्मला जैन ने कहा है कि- मन्नू की विशेषता है विषयों की पकड़। वास्तविकता के व्यापक परिदृश्य में ऐसे विरल, मानवीय अनुभवों की पहचान जो अनुभूति की सघन मार्मिकता में तुरंत पाठकीय

प्रतिक्रिया को साझेदारी के लिए आमंत्रित कर लेते हैं।[18]

यही सच है कि मन्नू की कहानियों में पाठक सहज ही साझेदार बन जाता है और उसको इस बात का पता भी नहीं चलता है। कहीं ना कहीं यह रचनाकार की सार्थकता है जिसके कारण वह जीवन की गहन अनुभूतियों से जुड़ी हुई कहानियों को सहजता के साथ प्रस्तुत करता है। इसक्रम में इनकी भाषा बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इनकी कहानी की यह प्रमुख विशेषता है कि भाषा ना तो अत्यधिक घुमावदार है और ना ही परत दर परत उलझी हुई। ऐसा महसूस होता है कि जीवन के साथ प्रत्यक्ष संबंध के कारण भाषा भी सहज और सरल हो गयी है। यहाँ कहानी की अंतर्वस्तु भाषा से नहीं वरनु अंतर्वस्तु से भाषा संचालित होती है।

मन्नू जिस समय कहानी लिख रही थीं उस दौर में मानवीय संबंधों में लगातार परिवर्तन आ रहा था। इसका चित्रण इनकी कहानियों में मिलता है। तीसरा आदमी ऐसी ही कहानी है। पति-पत्नी की खुशहाल जिंदगी के बीच आने वाला तीसरा आदमी एक लेखक है। इसकी उपस्थिति कहानी में एक दिन की है लेकिन वह पति-पत्नी के स्थायी संबंध में हलचल पैदा कर देता है। पुरूषवादी सोच किस कदर एक पुरूष के सहज और तार्किक बुद्धि को शंका के गुबार से भर देता है, इसका चित्रण इस कहानी में मन्नू भंडारी ने किया है।

इससे मिलती-जुलती कहानी उँचाई भी अत्यधिक महत्वपूर्ण है। बदली हुयी सामाजिक परिस्थतियों के बीच बदलते स्त्री-पुरूष संबंधों को मन्नू भंडारी ने बखूबी दर्शाया है। इनकी कहानियों में जीवन मूल्यों, नैतिकता, परंपरा और आधुनिकता के मायने लगातार और तेजी से बदलते दिखाई देते हैं। औरत के मन की गहरी परतों को खोलने की ईमानदार कोशिश मन्नू भंडारी की कहानियों में दिखाई देती है।

5.4 .नासिरा शर्मा :

नासिरा की कहानियाँ उनके उपन्यासों से अधिक महत्वपूर्ण हैं। इसका कारण यह है कि उनके उपन्यासों में मानवीय संवेदना को कुदेरने का विशेष सामर्थ्य है। इसके अलावा वस्तु और चिंतन के साथ स्वरूप और शैली को बांधने की अद्‌भुत क्षमता उनकी कहानियों को और अधिक प्रभावशाली बना देती है। लेखिका ने समाज के विभिन्न पहलूओं पर अपनी लेखनी चलाई है। इनपर प्रेमचंद, कृष्ण बलदेव वैद, तबस्सुम और शहादत हसन मंटों का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। लेखिका ने विभाजन, ईरानी क्रांति, दंगों और विदेशी पृष्ठभूमि पर अनेक कहानियां लिखी हैं। अपने ईरान प्रवास के दौरान उन्होंने वहाँ पर अनेक कहानियाँ लिखी हैं। साथ ही युगांडा में रह रहे भारतीय मूल के निवासियों के विषय में काफी लिखा है।

इसतरह कहा जा सकता है कि अंतर्वस्तु के संदर्भ में विस्तार को प्राप्त करने वाली इनकी कहानियों को किसी भी प्रकार की भौगोलिक सीमा से कोई मतलब नहीं है। इनकी कहानी का पात्र होने के लिए इंसान होना काफी है।

ईरान की पृष्ठभूमि पर आधारित कहानियों में लेखिका ने औरत की जैसी स्थिति को दिखाया है वह भारतीय संदर्भ में भी उतनी ही सच है। औरत वहाँ भी धर्म और विचारों से गुलाम है और यहाँ भी। नासिरा की कलम बारीक से बारीक रेशे का भी विश्लेषण करती है। अपनी ईरान यात्रा के दौरान वहाँ के लेखकों की दुर्दशा देख कर नासिरा का मन अंदर से इनके लिए कुछ कर गुजरने का करता रहा। इसके अलावा उन्हें इन कहानीकारों से प्रेरणा भी मिली। इनकी कहानी 'खुशबू के रंग' में शाही व्यवस्था में लेखकों के दमन का चित्रण किया गया है। किस तरह इस व्यवस्था ने कलम और जबान की आजादी को छीन लिया है इसको लेखिका ने बखूबी उभारा है। वहीं दूसरी तरफ 'सरहद के इस पार' कहानी विभाजन की त्रासदी पर आधारित है। इस कहानी में एक प्रेमी युगल इस त्रासदी का शिकार होता है। यह कहानी मंटो द्वारा लिखित कहानी टोबा टेक सिंह की याद दिलाती है। कहानी का नायक रेहान पागल होकर कहता है कि- अंग्रेजो ने हमें फसाद की शक्ल में पाकिस्तान तोहफे में दिया है और हम इस जख्म को जब तक जीएगें, पालते रहेंगे- करें भी क्या? अपाहिज जो ठहरे...।[19]

अपनी प्रेमिका सुरैया के प्रेम में पागल रेहान विभाजन की त्रासदी के यथार्थ को संजीदा ढंग से प्रस्तुत करता है। जड़ें एक ऐसी लड़की की कहानी है जो नस्लवादी हिंसा का शिकार हुयी है और इस हादसे के बर्षों बाद भी वह इससे उबर नहीं पाती है। इसकी पृष्ठभूमि युगांडा में रह रहे भारतीय मूल के लोगों की है जो वहां के रंग में रच-बस चुके हैं। इनको ब्रिटिश सरकार के समय बंधुआ मजदूर बना कर लाया गया था। स्थानीय लोग इनके खिलाफ हथियारबंद हो गये हैं। यह अपनी जड़ों से विस्थापित लोगों के दर्द को बयान करती है। इस कहानी में गुलशन नामक चरित्र अपने भारतीय मूल के प्रेमी से कहती है कि- मैं घर की चाहरदीवारी के भीतर प्रेम का सपना देखती हूँ, घर के बाहर बनाए गये संबंधों पर मेरा कोई विश्वास नहीं है।...घर मेरी पहली जरूरत है और प्रेम दूसरी।[20] अपने लिए स्थायी पनाह ढूँढती यह लड़की अपनी पहचान को लेकर अधिक संवेदनशील है।

काला सूरज रंग भेद को आधार बनाकर लिखी गयी कहानी है। यूथोपिया की पृष्ठभूमि को आधार बनाकर लिखी गयी यह कहानी कालों के दर्द को बखूबी समझ पायी है। इस कहानी की पात्र रकाबी सोचती है कि हमेशा सम्पन्नता सफेद ही क्यों होती है, यह सूरज भी सफेद है। इसक्रम में वह काले सूरज की कल्पना करती है। वह कहती है कि- सूरज यह सूरज तब काला होता है...। क्या तब भी यह यू हीं चमकता है?

काली चीज चमक सकती है? सफेद आसमान पर तब काले तारे कैसे लगते हैं।[21] समाज में रंग के आधार पर विभेद का शिकार होने वाले लोगों के प्रति इस कहानी में लेखिका ने संवेदना व्यक्त की है।

'तीसरा मोर्चा' और 'गूंगा आसमान'- यह दोनों कहानियाँ धर्म की राजनीति की शिकार औरत की दास्तान बयान करती हैं। यह नासिरा की कहानियों की विशेषता है कि वह बहुत ही संजीदा ढंग से धर्म, अर्थ, राजनीति और परिवार के बीच औरत पर हो रहे शोषण का चित्रण करती हैं। अपने समकालीन कहानीकारों में नासिरा ईरान पर लिखी हुयी कहानियों के कारण अलग पहचान बनाती हैं। इन दोनों कहानियों की पृष्ठभूमि ईरान ही है जिसमें वे इस्लाम में जायज तीन विवाह के खिलाफ अपनी क़लम चलाती हैं।

ईरानी क्रांति के दौर में बहुत सारी औरतें अनाथ हो गयी थीं जिनके रहबर की तलाश में उनका विवाह उनसे दोगुने उम्र के व्यक्ति से कर दिया जाता था। इस कहानी की पात्र दिलाराम और शबनूर ऐसी औरतें हैं जिनको अनाथ होने के कारण अपने पिता की उम्र के व्यक्ति के साथ विवाह करा दिया जाता है जबकि वह दोनों ही एक संपन्न परिवार की थीं। ईरानी क्रांति के समय बहुत से ऐसे परिवार थे जो अत्यन्त धनी थे लेकिन क्रांति के दौरान होने वाले दंगों के कारण परिवार के पुरूष नहीं रहे और केवल स्त्रियाँ शेष रह गयीं। इस क्रम में इस्लामिक सत्ता ने उनका धन हड़पने के लिए उस घर की अकेली लड़कियों को ठिकाने लगा कर धन पर कब्जा कर लिया। नासिरा ने अपनी बहुत सी कहानियों में ईरानी क्रांति के इस यथार्थ को उजागिर किया है। इस कहानी में लेखिका कहती है कि- दोनों के बाप को मशहद और इम्फहान के नशे के इल्जाम में फांसी पर चढ़ाया गया था, मगर उन दोनों का कहना था कि यह केवल आरोप था। बात उनके धन-दौलत को हथियाने की थी जो मुहल्ले के गुण्डों ने दीन के नाम पर कर दिखाया और लड़कियाँ इधर हांक कर लायी गयी।[22]

ईरानी क्रांति के दौरान जिस प्रकार धन की लूटपाट के लिए धर्म को उपयोग में लाया जा रहा था उससे औरतें अत्यधिक पीड़ित थीं। इसी से मेल खाती एक और कहानी 'तीसरा मोर्चा है, जो कश्मीर के आतंकवाद पर आधारित है। उसकी स्त्री पात्र कहती है कि- मैं एक औरत हूँ और औरत की अस्मत तो हिंदू मुस्लिम नही होती है,...हिंदू और मुस्लमान तो सिर्फ मर्द होते हैं जो अपने मजहब के उन्माद में औरत की आबरू लूटकर अपना धर्म निभाते हैं।[23]

इसप्रकार लेखिका अपनी रचनाओं में स्त्रीवादी ना होने के बावजूद स्त्रियों पर हो रहे शोषण का यथार्थवादी चित्रण करती हैं। धर्म और राजनीति किस तरह औरतों को अपना शिकार बनाती हैं इसको वह स्पष्ट रूप से साहित्य में दिखाती हैं। इसके अतिरिक्त नासिरा समस्या का समाधान भी प्रस्तुत करती हैं। इस क्रम में

ततइया, मेरा घर कहाँ, नयी हुकूमत आदि कहानियाँ भी अलग-अलग तरह से उन प्रश्नों को खड़ा करती हैं जिसमें औरत की खुद की पहचान ही खो जाती है। इनकी कहानियों में हर वर्ग की औरत मौजूद है। लेखिका इन सब की समस्याओं की विवेचना भी करती हैं और समाधान भी प्रस्तुत करती हैं।

नासिरा का दूसरा कहानी संग्रह संगसार प्रमुख रूप से ईरान की क्रांति की पृष्ठभूमि पर आधारित है। संगसार का अर्थ उस सजा से है जो किसी विवाहित मुस्लिम औरत का किसी अन्य पुरूष के साथ संबंध स्थापित करने पर दिया जाता है। इस सजा के अंतर्गत औरत के शरीर को कंधों तक मिट्टी में दबा कर उसे उपर से पत्थर मार- मार कर उसकी हत्या कर दी जाती है।

नासिरा की यह कहानी कई अर्थों में बहुत महत्वपूर्ण है। ईरानी क्रांति के दौरान वहाँ की अर्थव्यवस्था चरमरा गयी। उस समय खुमैनी सरकार ने पैसा वसूली करने के लिए रईस घरों की स्त्रियों पर 'अनैतिकता' का इल्जाम लगा कर उनके अविभावकों से धन कमाया। नासिरा ने ईरानी क्रांति के यथार्थ को उजागर करने का काम अपने साहित्य के माध्यम से किया है। ईरान में क्रांति के दौरान साम्यवाद, मार्क्सवाद और इस्लाम आदि सभी का प्रभाव रायज़ था। इस्लाम के प्रभाव को अनदेखा कर पाना मुश्किल था। इसका प्रभाव ऐसा था कि क्रांति के बाद ईरानी समाज में धार्मिक कट्टरता काफी बढ़ गयी। इस कट्टरता का आलम यह था कि वही ईरान अपने यहाँ संगसार की सजा सुनाने लगा जो अरब की शहजादी को संगसार दिये जाने और उसके आशिक के टुकड़े-टुकड़े किये जाने के विरोध में सबसे पहले सामने आया था। परिवर्तनकामी चेतना वाला वही ईरान धार्मिक कट्टरता की आग में जलने लगा।

इसतरह नासिरा ने ईरान में धर्म की आड़ में औरत पर हो रहे अत्याचार और क्रांति के बाद की सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियों का दस्तावेज प्रस्तुत किया है। इन दस्तावेजों की मूल भावना इंसानियत है। इन कहानियों को लिखने से पहले लेखिका स्वयं शरीयत लॉ और इस्लाम के सिद्धांतो को ठीक से नही समझती थीं फिर भी उन्हें जो बात मानवीय लगी उसे लिखती रहीं। इस कहानी संग्रह की भूमिका में उन्होंने लिखा है कि- ये रचनाएं उसी अधूरे कशमकश की सनद हैं, जो मानवीय संघर्ष के सफर में मील का पत्थर साबित होकर आधारशिला की मजबूती की सूचना देती है कि आने वाली नस्लें इन बीहड़ रास्तों को सुगम बनाने में लगातार शामिल होती रहें, आखिर मुक्ति का रास्ता इतना आसान भी नहीं जो कंम्प्युटर की रिजल्ट की तरह पल भर में हाथ में लग जाए बल्कि नस्लों को इस आतिशकदे में होम होना पड़ता है।[24]

इसतरह इस संग्रह की कहानियों में ईरानी क्रांति के यथार्थ के दिखाने के साथ-साथ क्रांति के पतन की दास्तां भी बयान है। इस संग्रह की कहानियों में निःसंदेह क्रांति के यथार्थ को समझने में सहायता मिलती

है। इन कहानियों में लेखिका ने इस्लामिक कट्टरपंथियों, राजनीति और विचारधारा के द्वारा पैदा की गयी परिस्थितियों और इन सब के बीच पिस रहे मनुष्य के दर्द को बेहतर ढंग से पहचाना है।

साठोत्तरी कहानिकारों की यह विशेषता रही है कि उनमें विचारधारा का विरोध दिखाई देता है। इस संदर्भ में यदि नासिरा की कहानियों पर दृष्टिपात किया जाए तो इनमें भी विचारधारा से परे जाने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। इनकी कहानी अजनबी शहर में वो कहती हैं कि- दुश्मन के लिए यह जरूरी नहीं है कि ज़र, जमीन और जोरू हो। यह आवश्यक नहीं है कि आप उसे जानते हों या कभी किसी मुद्दे पर झड़प हो, आपने उसे भला या बुरा कहा हो। आज बस इतना काफी है कि आप के विचार उससे मिलते ना हों। इस संगीन जुर्म में वह आप पर कातिलाना हमला करने का हक़ रखता है।[25] इन पंक्तियों में लेखिका विचारधारा के टकराव को हत्या का कारण मानती हैं। लेकिन इस क्रम में वह विचारधारा का कोई विकल्प नहीं बताती हैं। यदि विचारधारा हत्या का कारण है तो इसका विकल्प क्या है? और सामाजिक परिवर्तन का रास्ता कहाँ से होकर जाता है? इन कहानियों में इन प्रश्नों का उत्तर ढूंढ पाना कठिन है। ईरान की पृष्ठभूमि पर लिखते समय लेखिका धर्म के भीतर की सभी अमानवीय और गैरइंसानी तत्वों को सामने लेकर आती हैं लेकिन दूसरी तरफ भारतीय संदर्भ में लिखते समय धर्म के संदर्भ में खामोश दिखाई देती है। जबकि भारतीय संदर्भ में धार्मिक कट्टरपंथ (हिंदुत्व) से प्रभावित होने के वाले लोगों की संख्या कम नहीं है। लेखिका ने ईरानी क्रांति को बहुत पास से देखा था इसलिए उनके लिए वहां के सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक यथार्थ पर कलम चला पाना कठिन कार्य नहीं था। इस क्रम में उन्होंने समाज की धर्मांधता, पाखण्ड, गरीब और शोषितों की समस्याओं और रोटी के लिए उसके संघर्ष को दिखाने का प्रयत्न किया है। किस प्रकार सत्ता अपने आप को बनाए रखने के लिए इंसानियता की बलि चढ़ा देती है इसका सजीव चित्रण इनकी कहानियों में मिलता है। नासिरा ने इन कहानियों के माध्यम से ईरान की असली तस्वीर प्रस्तुत की है।

उन्होंने एक साहित्यकार की नज़र से ईरान की क्रांति को देखते हुए वहां की समस्याओं को मानवमात्र की समस्या बनाकर दिखाया है। कहानियां बार-बार यह दिखाने की कोशिश करती हैं कि विकास करने के साथ- साथ मनुष्य अपनी संवेदना को खोता जा रहा है। क्यों निर्दोष इंसान सत्ता और राजनीति की चालों के बीच पिस कर रह जाता है। इन्हीं विषयों के केंद्र में लेखिका ने अपनी सफल और संजीदा अभिव्यक्ति दी है।

5.5. मोहन राकेश :

मोहन राकेश नयी कहानी आंदोलन के प्रारंभिक रचनाकारों में से एक हैं। हिंदी साहित्य में इन्हें प्रमुख रूप से नाटककार के रूप में पहचान मिली है और भारतीय रंगमंच में विशेष योगदान के लिए इन्हें सदैव याद किया जाता है। समाज की बदली हुयी संवेदना पर अपनी पैनी नज़र रखते हुए इन्होंने उसको सफल अभिव्यक्ति प्रदान की है।

स्वतंत्रता के बाद भारतीय समाज की राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों में धीरे-धीरे परिवर्तन आने लगा जिसका प्रभाव साहित्य पर पड़ना लाजिमी था। इन बदली हुयी परिस्थितियों में साहित्य के लिए नये मानदण्ड तैयार हुए। अनुभव की प्रामाणिक अभिव्यक्ति और परिवेश की विश्वसनीयता पर बल दिया गया, जिसके फलस्वरूप साहित्य सामाजिक यथार्थ के साथ सीधे ढंग से जुड़ सका। इस संदर्भ में यदि मोहन राकेश की कहानियों का विश्लेषण किया जाए तो कुछ महत्वपूर्ण तथ्य सामने आते हैं। मिस पाल, आर्द्रा, मलबे का मालिक, उसकी रोटी, पांचवे माले का फ्लैट आदि कहानियों जीवन के विविध यथार्थ को अत्यंत प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करती हैं।

मोहन राकेश की कहानी मिस पाल कई अर्थों में बहुत महत्वपूर्ण कहानी हैं। आधुनिकता के परिणामस्वरूप बदलती हुए सामाजिक संवेदना हमें ऐसी दिशा में लेकर जा रही हैं कि जीवन जीने का अर्थ केवल विडंबनाबोध रह गया है। इस बदलते हुए समाज में औरत की स्थिति दयनीय है और यदि वह अकेली है तो उसके लिए समाज का व्यवहार एकदम बदला हुआ होता है। इस कहानी में मिस पाल ऐसी ही चरित्र बनकर सामने आती हैं जिन्हें 'आधुनिक समाज' का चरित्र बहुत बदला हुआ दिखाई देता।

इस कहानी के संदर्भ में नंद किशोर नवल जी ने कहा है कि- हिंदी की स्त्री-केंद्रीत पहली कहानी गैंग्रीन है और दूसरी गुल की बन्नों और तीसरी कहानी मोहन राकेश की मिस पाल। गैंग्रीन की मालती और मिस पाल की मिस पाल, दोनों ही निम्न मध्यवर्गीय चरित्र हैं। लेकिन दोनों के सामाजिक और मानसिक परिवेश में काफी अंतर है। मालती एक घरेलू औरत है और उसमें अपने तिल-तिल कर छीजते जाते जीवन का कोई एहसास नहीं है। कहना चाहिए कि उसके व्यक्तित्व की चेतना सिरे से लुप्त है। दूसरी तरफ मिस पाल हैं जिनका घर नहीं बसा है बल्कि जिसकी मूल समस्या यही है कि वह अपने व्यक्तित्व के प्रति शुरू से ही इतनी सचेत है कि अपने परिवेश में मिसफिट हैं। संभवतः इसी कारण उसका परिवेश उसके प्रतिकूल हो जाता है। परिणामतः वह अकेलेपन का जीवन जीने के लिए अभिशप्त है।[26]

इसतरह से यदि स्त्री-विमर्श की दृष्टि से मिस पाल कहानी का विश्लेषण किया जाए तो यह औरत के प्रति

लगातार अमानवीय होती हुयी दुनिया को दिखाने का प्रयास करती है। ऐसा सदैव कहा जाता है कि यह दुनिया पुरूषों की है जहाँ औरत जो चाहे और जैसे चाहे नहीं कर सकती। यह कहानी इस सामाजिक यथार्थ को प्रस्तुत करती है जहाँ एक कुरूप दिखने वाली औरत की स्थिति बदतर है।

विभाजन के संदर्भ में हिंदी साहित्य के कहानीकारों ने बहुत कम रचनाएं की है। विभाजन पर कहानी लिखने वाले चंद लेखको में एक मोहन राकेश जी भी हैं, जिन्होंने मलबे का मालिक जैसी कहानी लिख कर विभाजन के दर्द को बखूबी प्रस्तुत किया है। इस कहानी की अंतर्वस्तु उन उर्दू कहानिकारों के समान है जिन्होंने विभाजन पर लिखा है। अपनी मातृभूमि से छूटने का दर्द क्या होता है यह इस कहानी में व्यक्त है। इस संदर्भ में खगेन्द्र ठाकुर ने लिखा है कि- देश के विभाजन के प्रसंग अस्वभाविक विभाजन अथवा इंसानियत के विभाजन, परिवार की टूटन पर अनेक मार्मिक कहानियाँ लिखी गयी हैं। मोहन राकेश की कहानी मलबे का मालिक जन्मभूमि से छूटने का दर्द और जन्मभूमि के प्रति हार्दिक लगाव पर मोह को बड़ी खूबसूरती से चित्रित करती है। इस कहानी का कथ्य मंटो की कहानी टोबा टोक सिंह जैसा है, हालांकि कथ्य की व्यंजना अलग ढंग से की गयी है। यह कहानी इन श्रेष्ठ कहानियों में से एक है।[27]

इस कहानी की विशेषता यह है कि देश के विभाजन के दर्द को दिखाने के साथ-साथ लेखक ने इसमें विभाजन का आर्थिक विश्लेषण भी प्रस्तुत किया है। उन्होंने यह दिखाने की कोशिश की है कि किसप्रकार एक व्यक्ति की संपत्ति पर लोगों ने नज़र रहती हैं और दंगे को बहाना बना कर उसपर साजिश के तहत कब्जा कर लिया जाता है। कहानी में रक्खे पहलवान ने गनी मियाँ के घर पर अपनी नजर बना कर रखी थी जिसके लिए उसने घर के मालिक को मार डाला था लेकिन ऐन मौके पर जाकर किसी ने घर में आग लागा दी। कहानी में लेखक कहता है कि- रक्खे पहलवान ने तब कसम खायी थी कि वह उस आग लगाने वाले को जिंदा जमीन में गाड़ देगा क्यों कि उसपर नज़र रख कर ही उसने चिराग को मारने का निश्चय किया था। उसने उस मकान को शुद्ध करने के लिए हवन सामग्री भी ला रखी थी। मगर आग लगाने वालों का तब से आज तक पता नहीं चल सका। अब साढ़े सात साल से रक्खा इस मलबे को अपना जायदाद समझता आ रहा था, जहाँ वह ना किसी को गाय बांधने देता था और ना ही खुमचा लगाने देता था।[28]

कहानी के यह वाक्य इस तथ्य की तरफ इशारा करते हैं कि भारत और पाकिस्तान का विभाजन देखने में तो धार्मिक विभाजन लगता है लेकिन इसकी तहों में आर्थिक तत्व मौजूद थे। मोहन राकेश ने बहुत ही गहराई और संवेदनशीलता को साथ विभाजन की त्रासदी को मलबे का मालिक के माध्यम से प्रस्तुत किया है।

दूसरी तरफ उसकी रोटी कहानी स्त्री जीवन की त्रासदी को यथार्थवादी ढंग से सामने लेकर आती है। जहाँ

मिस पाल कहानी में लेखक एक मध्यमवर्गीय औरत के जीवन की विडंबना को सामने लेकर आते हैं वहीं उसकी रोटी कहानी एक निम्नवर्गीय परिवार की औरत बालो के जीवन की विडंबना दर्शाती है। बालो का पति सुच्चा सिंह एक पुरूषवादी सोच से भरा हुआ व्यक्ति है। बालो को वह किसी भी तरह का सुख नहीं देता वरन् उन दोनों का संबंध एक तरह के शोषण पर आधारित है।

बालो को इस शोषण की आदत पड़ चुकी है। इन दोनों चरित्रों के बीच में एक प्रकार का साम्य है। अलग-अलग वर्ग के होने के बावजूद दोनों चरित्र इस समाज के पुरूषसत्तामक सोच के बीच फंसे हुए हैं। बालो जिसे अपनी नियति मानकर चलती है। वहीं दूसरी तरफ मिसपाल समाज से संवेदनात्मक रवैये की अपेक्षा रखती हैं लेकिन दोनों ही संभव नहीं हो पाता है।

इसी क्रम में मोहन राकेश की तीसरी स्त्री विमर्श पर आधारित कहानी एक और जिंदगी आधुनिक युग में अतिवादी सोच से ग्रसित चरित्रों के माध्यम से इस नये समाज की विड़बना को सामने लेकर आती है। आधुनिक युग की देन पढ़ी-लिखी और आत्मनिर्भर स्त्री बीना के साथ इस कहानी का नायक प्रकाश रह नहीं पाता है। उसे कहीं ना कहीं यह बात खटकती रहती है कि वह उसके बराबर पढ़ी-लिखी है और उससे ज्यादा कमाती है। इसके कारण उनके बीच अलगाव होता है। इसके बाद प्रकाश एक परंपरागत औरत निर्मला के साथ विवाह करता है। लेकिन निर्मला का मानसिक संतुलन खोया हुआ है जिसके कारण प्रकाश अपना जीवन नहीं काट पाता है। खैर यह कहानी आधुनिकता और परंपरागत सोच के अतिवाद की तरफ इशारा करती है। यह दोनों ही मनुष्य के जीवन को दुखदायी बना सकते हैं। इन सब के बीच लेखक ने अलग हो चुके पति-पत्नी के बीच पल रहे बच्चे की मानसिक अवस्था का वर्णन भी किया है। इस तरह मोहन राकेश ने इस कहानी के माध्यम से आधुनिक समाज में परिवार की बदलती तस्वीर को प्रस्तुत करने का कार्य किया है।

पांचवे माले का फ्लैट कहानी मध्यवर्गीय युवक के जीवन की विडंबना को दर्शाता है। इस कहानी की अंतर्वस्तु मूलतः नयी कहानी आंदोलन से प्रभावित दिखाई देती है। यह मोहन राकेश का खुद का भोगा हुआ यथार्थ मालूम पड़ता है। जिसे उन्होंने आधुनिक जीवन की त्रासदी के रूप में प्रस्तुत किया है। लेकिन इनकी अन्य कहानियों की अपेक्षा यह कहानी कोई ख़ास प्रभाव नही छोड़ती है।

मोहन राकेश की कहानियों के संदर्भ में गोपाल राय जी कहते हैं कि- कथ्य की दृष्टि से मोहन राकेश की आरंभिक कहानियां उनके अपने ही परिवेश से प्राप्त अनुभव और विशेषकर समकालीन सामाजिक, आर्थिक विसंगतियों पर आधारित है।[29]

यह सत्य है कि मोहन राकेश की अधिकांश कहानियां उनके आस -पास के परिवेश की उपज मालूम पड़ती

हैं। एक लंबे समय तक लिखते रहने के कारण उनकी रचनाओं में एक प्रकार का प्रवाह दिखाई देता है जो समय और परिस्थिति के अनुसार बदलता रहता है। जहाँ एक तरफ वह अपने साहित्य में देश की आजादी के बाद विभाजन की त्रासदी को दिखाते हैं वहीं दूसरी तरफ समय बदलने के साथ बदलते हुए पारिवारिक संबंधों पर भी कहानियां लिखते हैं। इनके यहां विभिन्न सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियों का लगातार सामना कर रहे निम्न मध्यमवर्गीय परिवार के जीवन का यथार्थवादी चित्रण मौजूद है। इसका कारण यह है कि आजादी के बाद भारतीय समाज का विकास पंचवर्षीय योजनाओं के तहत होने लगा। इसके कारण पुराना आर्थिक ढांचा परिवर्तन की कगार पर था और इसका प्रभाव समाज के प्रत्येक वर्ग की जीवन शैली पर पड़ा। मोहन राकेश की कहानियां इस बदलती हुयी सामाजिक और साहित्यिक परिस्थितियों की सनद प्रतीत होती हैं। इन्होंने अपने साहित्य के माध्यम से आधुनिक समाज में बदलते मानवीय संबंधों पर तो चर्चा की ही है साथ ही इन सब के बीच समाज के हाशिये के लोगों तथा अल्पसंख्यकों के दर्द को भी बखूबी समझने की कोशिश की है।

5.6. कृष्णा सोबती :

स्वतंत्रता के बाद की प्रमुख स्त्री लेखिकाओं में कृष्णा सोबती का नाम आता है। एक लंबे समय से कृष्णा सोबती साहित्य सृजन में लगी हुई थीं और अपने उपन्यास मित्रों मरजानी के कारण मशहूर हुयीं। कृष्णा सोबती ने साहित्य में अपने विशिष्ट लेखन शैली के कारण अलग पहचान बनायी है। मूलतः पंजाब की रहने वाली कृष्णा सोबती की रचनाओं के विविध रूप देखने को मिलते हैं। आजादी के साथ भारत का विभाजन होना एक कड़वे सच की तरह भारत के इतिहास के साथ जुड़ा हुआ है। इस विषय को केंद्र में रखकर लेखिका ने अनेक कहानियां लिखी हैं। इस संदर्भ में इन्होंने धर्म की आलोचना प्रस्तुत करने के साथ-साथ विभाजन के समय में होने वाली त्रासदी का यथार्थवादी चित्रण प्रस्तुत किया है।

इसके अलावा स्त्री-विमर्श की दृष्टि से इनके साहित्य पर दृष्टिपात करने पर यह पता चलता है कि इन्होंने स्त्री जीवन के कड़वे यथार्थ को अपनी कहानियों में स्थान दिया है। इनकी कहानियों की खासियत यह है कि इन्होंने अधिकांश कहानियां निम्न मध्यमवर्गीय औरतों की समस्या को केंद्र में रखकर लिखी हैं। वस्तुतः यह इनकी स्त्री केंद्रीत कहानियों की विशेषता भी है और सीमा भी। इनके विषय में खगेन्द्र ठाकुर ने लिखा है कि- आलोच्य दौर में कृष्णा सोबती का अपना खास स्थान है। उन्होंने पारिवारिक जीवन की विसंगतियों को बड़ी संवेदनशीलता के साथ चित्रित किया है। यह ठीक है कि उस दौर में उथल-पुथल जिन कहानिकारों की कहानियों में मचा उसमें कृष्णा जी नही हैं। लेकिन आज उस दौर पर जब हम नजर डालते हैं तो मुझे

लगता है कि कृष्णा जी का महत्वपूर्ण स्थान है हिंदी कहानी के विकास में।[30]

यह सत्य है कि अपने रचनाकाल में कृष्णा जी को इतनी ख्याति नहीं मिली जितनी बाद में। प्रमुख रूप से अपने उपन्यास मित्रो मरजानी के बाद इन्हें प्रसिद्धि मिली लेकिन इनकी कहानियों में एक लंबे समय के सामाजिक यथार्थ का दर्शन होता है। इन्होंने कहानी लेखन का आरंभ नफीसा कहानी से 1944 ई. में किया। इसके बाद सिक्का बदल गया, मेरी माँ कहाँ, भोले बादशाह, डरो मत मै तुम्हारी रक्षा करूगाँ आदि कहानियां विभाजन की त्रासदी पर आधारित हैं। वहीं दूसरी तरफ बादलों के घेरे, दादी अम्मा, बहनें, बदली बरस गयी आदि कहानियों औरत के जीवन की त्रासदी को दर्शाती है।

वर्तमान समय के परिप्रेक्ष्य में इनकी कहानियों का विश्लेषण करने पर यह पता चलता है कि इनकी कहानियां मानवीय संवेदना को झकझोर देने वाली हैं। किन्तु हिंदी साहित्य में उन्हें ज्यादातर सेक्स और देह को केंद्र में रखकर कहानी लिखने वाली लेखिका के रूप में जाना जाता है। इस संदर्भ में वच्चन सिंह ने कहा है कि- कृष्णा सोबती सेक्स को बोल्डनेस के साथ उभारने में सिद्धहस्त हैं। इस अर्थ में मृदुला गर्ग कम नहीं हैं। पर सोबती की भाषा और शिल्प उनके पास कहाँ![31]

आलोचना जगत ने कृष्णाजी की पहचान को भले ही सीमित करके देखा हो, इनकी कहानियों की संवेदना बहुत दूर तक की दूरी तय करती हैं। इनकी कहानी दादी-अम्मा तीन पीढ़ियों से औरत के जीवन के यथास्थितिवाद का चित्रण करती हैं। अपने जीवन के अंतिम समय में औरत कितनी अकेली हो जाती है और यह अकेलापन लगातार बढ़ता ही रहता है। जब तक वह युवा है, काम करने योग्य है वह सबकी लाडली बनी रहती है लेकिन समय बीतने के साथ जब उसका युवा शरीर बूढ़ा होने लगता है तो परिवार से उसे अलग कर दिया जाता है। दादी-अम्मा प्रतीक है उस पारिवारिक और सामाजिक व्यवस्था का जो औरत को शक्तिहीन होने पर तिरस्कार की नजर से देखता है। इस कहानी के माध्यम से लेखिका ने नयी पीढ़ी और पुरानी पीढ़ी के बीच के टकराव को दिखाने की कोशिश की है।

इस कहानी में विडंबनाबोध यह है कि दो पीढ़ियों की औरतों के बीच में जिसतरह का टकराव है वह किसी प्रकार के परिवर्तन का सूचक नहीं है वरन् इस शोषणयुक्त समाज की बेड़ियों को और मजबूत करने की कोशिश ही दिखाई देती है। यथार्थवादी दृष्टि से यदि देखा जा तो इस कहानी में पितृसत्तात्मक समाज की आलोचना को दिखाया गया है।

इस कहानी से मिलती-जुलती कहानी 'बहनें' तीन बहनों की कहानी प्रस्तुत करती है। विवाह के बाद एक ही परिवार की तीन बहनों के बीच में दूरियाँ आ जाती हैं। यह तीनों ही भावनात्मक रूप से आपस में बहुत नजदीकी महसूस करती हैं लेकिन अलग परिवार में विवाह हो जाने के कारण एक दूसरे से कटा हुआ

महसूस करती हैं। वहीं दूसरी तरफ गुलाब जल गडेरिया एक ऐसी कहानी है जिसकी स्त्री पात्रा मृत्यु के बाद भी अपने जीवन की अपूर्ण इच्छाओं के विषय में सोचती है। औरत को केंद्र में रखकर लिखी गयी ये कहानियां उसके जीवन की कठिनाई को बेहतर तरीके से उजागर करती हैं।

बदली बरस गयी और डरो मत मै तुम्हारी रक्षा करूँगा- यह दोनों कहानियाँ क्रमशः आध्यात्मिक पाखंड और धर्म को केंद्र में रखकर लिखी गयी हैं। बदली बरस गयी कहानी के माध्यम से लेखिका ने धार्मिक मठों के सत्य को उजागर किया है। यह दिखाया गया है कि किस प्रकार से इन मठों में मोह-माया से मुक्ति के नाम पर मनुष्य के और ख़ासतौर पर एक युवा औरत को जीवन की मूलभूत शारीरिक आवश्यकताओं से काटकर वैराग्यमय जीवन जीने के लिए मजबूर किया जाता है। कहानी की पात्रा कल्याणी अंत में आश्रम छोड़ कर चली जाती है। कहानी का यह वाक्य कि- कल्याणी ने खुलकर महाराज को देखा, "आश्रम पर मेरी कोई आस्था नहीं...।"[32] यह प्रमाणित करता है कि कल्याणी एक लंबे समय से चली आ रही यातना के खिलाफ आत्मविश्वास के साथ खड़ी होती है। इसलिए इस कहानी का शीर्षक बदली बरस गयी है। लेखिका ने इस एक प्रकार के अवसाद से भरे हुए साधना और संयम को काली बदली की संज्ञा दी है।

डरो मत, मै तुम्हारी रक्षा करूँगा विभाजन के समय होने वाले दंगों की त्रासदी की तरफ ध्यान आकर्षित करता है। इसमें एक युवा प्रेमी-प्रेमिका का अलग-अलग धर्म से होने के कारण समाज अपना शिकार बनाती है। कहानी के अंत में प्रेमिक की हत्या कर दी जाती है। देखें, कहानी का यह वाक्य- एक निर्जीव युवक...पथराई आंखें, सूखे बाल और नीले अधर...ड्राइवर ने हमदर्दी के गीले स्वर में उस बेजान शरीर को झकझोर कर कहा 'उठो भाई, अपना वतन आ गया...' वतन! ओठ फड़फड़ाए - दो सोई-सोई भरी हुयी बाँहें उठीं ओठ फड़फड़ाए, डरो मत मै तुम्हारी रक्षा करूँगा... आवाज मौत की खामोशी में खो गई।[33]

उपरोक्त वाक्य धर्म के आधार पर विभाजित दो देशों में आदमी की कहानी को बयान करती है। यह वास्तविकता थी कि विभाजन के समय मौत का तांडव किया गया जिसका शिकार आम मनुष्य हुआ। यह कहानी इसी यथार्थ को उजागर करती है। इसप्रकार कृष्णा जी के यहाँ साम्प्रदायिकता को केंद्र में रखकर लिखी गयी अनेक कहानियाँ हैं जिनमें धार्मिक कट्टरता के कारण दंगों और विभाजन की त्रासदी से गुजरते हुए भारतीय समाज के यथार्थ को प्रस्तुत किया गया है।

इनकी कहानी 'गुलाब जल गडेरिया' और 'भोले बादशाह' में एक ही तकनीक से अलग- अलग संवेदना को दिखाने का प्रयास किया गया है। भोले बादशाह कहानी के माध्यम से लेखिका ने एक निम्नमध्य वर्गीय परिवार में बेरोजगार युवक की मानसिक स्थिति का वर्णन किया है जो अविवाहित रह गया है। इसके मूल में आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर ना हो पाने की त्रासदी है जिसके कारण वह मानसिक रूप से संतुलन का

शिकार है। उसकी इस तरह की मानसिक स्थिति का एक कारण उसका कुंवारापन भी है। यह कहानी एकतरह की विडंबनाबोध से भरी हुयी परिस्थितियों को निर्मित करती है।

वहीं दूसरी तरफ गुलाबजल गडेरिया एक ऐसी औरत की कहानी है जो मर चुकी है और अपनी अपूर्ण इच्छाओं के कारण जिंदा है। यह कहानी केवल धन्नो की व्यथा को व्यक्त नहीं करती बल्कि स्त्री जाति की उस पीढ़ी का दर्द बयान करती है जो खुद भूखे रहकर अपने परिवार का पेट भरती आयी है। कहानी का यह वाक्य द्रष्टव्य है- ढेर से जामुन...पर्दा हिलता है...वह घाट की ओर जाते हुए मैदान में हवा में झूल रही है। हवा में? नहीं वह चार आदमियों के कंधे पर है। वह झूलती जा रही है घाट की ओर, जामुन की ओर, जामुन! बाबूराम रोको...रोको...जामुन के पेड़ तले रोको...मै जामुन खाउंगी...पेड़ की टहनियां झुकाओ। बाबूराम तुम्हारे बाप ने एक दिन...एक दिन के लिए ही कहो, मुझे सबकुछ मान लिया था। तुम उसके बेटे हो। मुझे ठंडक पहुँचाओं! ठंडक...।[34]

कहानी की यह पंक्तियां केवल पेट से भूखी धन्नो की तरफ इशारा नहीं करती हैं बल्कि यह भी बताती हैं कि उन सभी प्रकार के अपूर्ण कार्य जिनको कि वह सामाजिक परंपराओं से भयभीत होकर स्वीकार नहीं कर पाती है उसे वह स्वीकार कर लेना चाहती है। इस प्रकार की संवेदना वाली अनेक कहानियाँ कृष्णा ने लिखी हैं।

इनकी कहानियों का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष इनकी भाषा है जो विविध प्रकार की संवेदना को पाठक के सामने प्रस्तुत करती है। इनके यहां भाषा एक सूक्ति वाक्य की भांति नज़र आती है, जहाँ एक वाक्य में ही जीवन दर्शन को दिखाने की कोशिश नज़र आती है। इनकी भाषा एकतरफ कहानी से अपनी तारतम्यता भी बनाए रखती है और दूसरी तरफ स्वतंत्र रूप से भी अपना अर्थ पाठक के सामने प्रस्तुत करती है।

इनकी कहानियों का वृहद विश्लेषण करने के बाद यह पता चलता है कि साहित्य में अस्मितावादी विमर्शों के दौर में कृष्णा सोबती के संदर्भ में महत्वपूर्ण तथ्य सामने आते हैं। जहाँ एक तरफ उन्होंने स्त्री जीवन के अनछुए पहलूओं पर अपनी क़लम चलाई वहीं दूसरी तरफ ऐसे सामाजिक तथ्यों पर प्रश्न खड़ा करने का भी कार्य किया जो उनके जीवन को और दुरूह बनाती हैं। इनकी कहानियों के इस महत्वपूर्ण पक्ष की तरफ ध्यासन दिये बगैर इन्हें आलोचकों ने 'सेक्स को बोल्डनेस के साथ उभारने वाली लेखिका' के रूप में सीमित कर दिया। इनकी कहानियाँ समाज, धर्म और राजनीति आदि को केंद्र में रखकर आलोचना की मांग करती हैं।

5.7. गुलशेर खाँ शानी :

हिंदी कहानी के सातवें दशक में बदलती हुयी सामाजिक परिस्थितियों के बीच बदली हुयी संवेदना के लेखक के रूप में शानी नये कहानीकारों की पंक्ति में शामिल हो चुके थे। आजादी के बाद के भारतीय समाज में इस तरह के कई परिवर्तन आये जिसके कारण भारतीय मुसलमानों के यहाँ एक प्रकार की असुरक्षा की भावना विकसित हुयी। इस प्रवृति के विकसित होने का प्रमुख कारण भारत पाकिस्तान का विभाजन हो जाना था। गुलशेर खां शानी इसी तरह की परिस्थिति के बीच लेखन कार्य कर रहे थे। इनकी कहानियों में प्रमुख रूप से निम्न और मध्यवर्गीय भारतीय समाज के जीवन की विसंगतियों को बेहतर ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इनके विषय में गोपाल राय ने लिखा है कि- शानी की अधिकांश कहानियाँ विभाजन बाद के भारतीय मुस्लिम समाज के भय अंतर्विरोध, तकलीफों, आंतरिक यातना और विसंगतियों की कहानी है।...बहुतेरी कहानियाँ ऐसी भी हैं जिनमें पूरा भारतीय परिवेश है। इन कहानियों में अनुभव की वह प्रामाणिकता है जो हिंदी के किसी दूसरे कहानीकार में नहीं मिलती।[35]

नयी कहानी आंदोलन के बाद के साहित्यिक परिदृश्य में अनुभव की प्रामाणिकता की अनिवार्यता दिखाई देती है। इसक्रम में शानी की कहानियां गहरे सामाजिक और आर्थिक अनुभव को सामने लेकर आती हैं। इनकी कहानियां ना सिर्फ मुस्लिम समाज के यथार्थ को सामने लेकर आती हैं वरन संपूर्ण भारतीय समाज की संवेदना को पाठक के सामने प्रस्तुत करती हैं। आजादी के बाद के साहित्य को यदि देखा जाए तो विभाजन की पीड़ा अनेक साहित्यकारों के द्वारा व्यक्त की गयी। इस क्रम में शानी के साहित्य की विवेचना करने पर पता चलता है कि भारतीयता की जो अभिव्यक्ति इनके यहाँ मिलती है वह अन्य कहीं नहीं है। यही कारण है कि इनके साहित्य के साथ निम्न हिंदू और मुस्लिम परिवार की संवेदना समान रूप से जुड़ती है।

विभाजन की त्रासदी भारत के इतिहास में एक काले दिन की तरह दर्ज है। इससे बड़ी विडंबना और कुछ नहीं हो सकती जब धर्म के आधार पर एक देश का बंटवारा हो जाए। इन सब के बीच एक लंबे समय से भारतीय मुस्लमानों के बीच एक प्रकार की असुरक्षा की भावना विकसित हुयी। भारत के हिंदुओं में एक सामान्य अवधारणा यह है कि भारतीय मुसलमानों की संवेदना पाकिस्तान के साथ जुड़ती है। इसलिए भारतीय मुसलमानों को भारत के प्रति अपने कमिटमेंट का प्रमाण देना पड़ता है।

शानी के यहाँ इस सुरक्षा की भावना का विकास दिखाई देता है। कैसे विभाजन के बाद हो रहे दंगों के कारण भारत में रहने वाले मुसलमान पलायित होकर विदेश जा रहे थे। अपने देश के छूटने का दर्द उनके

मन में भी उतना ही था जितना की एक हिंदू को होता हे क्योंकि धर्म के बदल जाने से संवेदना नहीं बदल जाती है। इस संदर्भ में स्वयं शानी ने लिखा है कि- मेरी ट्रेजडी यह थी कि युद्ध ने मुझे उदास और खामोश कर रखा था। ना तो मेरे मन में तमाशबीनों- जैसा जोश और उत्साह था और ना युद्ध में रस लेने वाली मुखरता। अगर यह सब ना होता और मेरे जेब में उफनती हुयी राष्ट्रीयता और देश-प्रेम का झुनझुना होता तो भी काफी होता, लेकिन बदकिस्मती से वह भी नहीं था। अगर आप भारतीय मुसलमान हैं और चाहते हैं कि आपकी बुनियादी ईमानदारी पर शक ना किया जाए तो यह झुनझुना बहुत जरूरी है। मैने देखा है कि इसका असर आपके हिंदू दोस्तों के कानों पर नहीं उनकी जुबान पर होता है।[36]

भारतीय समाज में मुसलमानों पर हावी होने वाली कट्टरपंथी शक्तियों का इतना सटीक विश्लेषण अन्य कहीं नहीं है। इनकी कहानियों में भी चरित्र लगातार इसी समस्या से टकराते दिखाई देते हैं। शानी के यहां मुसलमानों को समाज द्वारा अस्वीकार किये जाने की पीड़ा उभरकर सामने आती है। हिंदू और मुसलमान की आपसी सहभागिता भारतीय समाज की विशेषता रही है ना केवल हिंदू और मुसलमान वरन् भारत की अन्य जातियों को भी एक लंबे समय से एक साथ रहने की आदत रही है। यदि गौर से देखा जाए तो विविधता में एकता और एक दूसरे के साथ रहने की परंपरा ही हमें सामाजिक और सहिष्णु बनाती है। इन सब के बीच विभाजन ने और उसमें भी सांमप्रदायिक दंगों ने भारतीय समाज की आपसी एकता को बहुत नुकसान पहुँचाया।

शानी की कहानियाँ इसप्रकार की संवेदना से पटी पड़ी हैं जो समाज के दोहरे चरित्र को सामने लेकर आती हैं। इसके साथ ही शानी अपने काल विशेष के संदर्भ में भी अनेक कहानियों की रचना कर रहे थे। खोखली आधुनिकता की शिकार आधुनिक पीढ़ी की बदलती हुई मानसिकता का चित्रण इनके यहां देखने को मिलता है। इसके अंतर्गत एक नाव के यात्री, जली हुयी रस्सी, दोज़खी, जहांपनाह जंगल आदि कहानियाँ प्रमुख हैं। भारतीय मुस्लिम परिवार के निम्नवर्ग पर भी शानी ने अपनी कलम चलाई है। इनके लेखन में ना केवल मुसलमान परिवार का यथार्थ सामने आता है वरन् भारतीय निम्नवर्ग का सामाजिक यथार्थ भी प्रत्यक्ष होता है। इस दृष्टि से रस्सी जली हुयी, नंगे, एक नाव के यात्री आदि ऐसी कहानियां हैं जिनमें आधुनिक समाज के खोखलेपन को दर्शाने की कोशिश की गयी है।

जली हुयी रस्सी वाहिद की कहानी है जो एक ऐसा युवक है जो भ्रष्टाचार में लिप्त है। पकड़े जाने पर वह नौकरी पर वापस जाने के लिए मुकदमा लड़ता है। इस क्रम में वह लगातार गरीब होता जाता है। यह कहानी उस सामाजिक विडंबना की तरफ इशारा करती है जिसके अंतर्गत अनेक पूंजीपति लोग जिनके काम का आधार ही भ्रष्टाचार है वह नहीं पकड़े जाते हैं लेकिन समाज के निम्नवर्ग के लोग जो हमारी

असमान आर्थिक संरचना के कारण गलत ढंग से पैसे कमाने की कोशिश करते हैं उनपर सरकार की नज़र पड़ जाती है और वह पकडे जाते हैं। वाहिद भी इसक्रम में पकड़ा जाता है। इस कहानी की विशेषता यह है कि लेखक ने अपनी सधी हुयी भाषा के माध्यम से परिस्थितियों को जीवंत कर दिया है। कोई भी गरीब परिवार सहज ही वाहिद के साथ सामंजस्य बैठा सकता है।

नंगे कहानी गरीबी के कुचक्र में फंसे परिवार के यथार्थ को व्यक्त करता है। ऐसे परिवार की जहाँ त्योहारों के आने का मतलब किसी मुसीबत से कम नहीं होता। कहानी में लेखक के द्वारा कहा गया यह वाक्य- लगा था ईद के लिए नये-नये कपड़े, पैसे या दूसरे सारे इंतजाम चाहे जरूरी ना हो, मेंहदी जरूरी है। इसके बगैर कहीं कुछ नही होगा।[37] यह दर्शाता है कि किस प्रकार मुफलिसी में धर्म परंपराए और हमारी चली आ रही संस्कृति उत्प्रेरक का कार्य करती है। एक तरफ यह हमें सामाजिक सुख प्रदान करती है और दूसरी तरफ व्यक्तिगत रूप से हमें कंगाल करती है। शानी की बहुत सी कहानियों में इसप्रकार के तथ्य दिखाई देते हैं।

धर्म से एक मुसलमान होने के नाते शानी ने जो भी कहानियाँ मुस्लिम परिवेश को आधार बनाकर लिखी हैं वह विशेष रूप से आलोचना की अपेक्षा रखती हैं। यदि इनकी कहानियों को दो भागों में बांट कर देखा जाए तो संवेदनात्मक रूप से जितनी महत्वपूर्ण मुस्लिम परिवेश की कहानियां हैं उससे कहीं अधिक गैर मुस्लिम परिवेश पर आधारित कहानियां हैं। खैर, शानी के यहाँ आधुनिक समाज में बदलती संवेदना का यथार्थवादी चित्रण करने में उतरोत्तर वृद्धि हुयी है।

इन्होंने पत्थर का तालाब, दोजख़ी, जहाँपनाह जंगल, बिरादरी, एक नाव के यात्री, परस्त्रीगमन जैसी महत्वपूर्ण कहानियां लिखी हैं जिनमें आधुनिक संवेदना को तत्कालीन राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक परिवेश में विकसित करके दिखाया गया है। इसक्रम में बिरादरी कहानी बेहद महत्वपूर्ण मानी जा सकती है। इस कहानी में लेखक ने यह दिखाने की कोशिश की है कि आजादी के बाद किसप्रकार धीरे-धीरे भारतीय जनता के व्यक्तिगत जीवन से राजनीति अलग होती जाती है। कहानी के दो सरकारी कार्यकर्ताओं के इतिहास पर दृष्टिपात करते हुए लेखक ने कहा है कि- कॉलेज के दिनों में मैं कम्युनिस्ट पार्टी का कार्ड होल्डर था और त्रिपाठी ने बताया था कि वह सोशलिस्ट पार्टी का सक्रिय सदस्य था। सरकारी नौकरी में आने के पहले त्रिपाठी सोशलिस्ट पार्टी के अखबार का संपादक था और जन- सभाओं में आग उगला करता था। कहा जाता है कि उसके बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर ही तत्कालीन मुख्यमंत्री ने एक दिन उसे पालतू बना लिया और उसके गले में सरकारी तौक पड़ गयी। अब हम दोनों सरकारी नौकर थे। दोनों के मुँह पर ताले पड़े हुये थे लेकिन दिल पर किसका ताला हो सकता था? बहस मुहाबसे में अब भी हम अक्सर नाराज होते थे और इस बात की गहरी चिंता थी कि देश की प्रगतिशील ताकतें दिन ब दिन

कमजोर होती जा रही हैं।[38]

उपरोक्त पंक्तियाँ लगातार कमजोर होती प्रगतिशील शक्तियों के बहाने एक खास तरह की सामाजिक संरचना के बीच विचारधारा के घटते महत्व की तरफ इशारा करती हैं। आजादी के बाद जहाँ एकतरफ कांग्रेस की सरकार के खिलाफ देश भर की सोशलिस्ट पार्टियां एक जुट हो गयीं वहीं दूसरी तरफ समय बीतने के साथ कांग्रेस के द्वारा ही इन संघटनों के सक्रिय कार्यकर्ताओं को सरकारी नौकरी का लालच देकर वैचारिक रूप से निष्क्रिय करने की कोशिश की गयी। कांलातर में इसका परिणाम यह निकला कि युवाओं के जीवन से विचारधारा अलग हो गयी। एक लंबी सामाजिक प्रक्रिया के तहत यह कार्य किया गया जिसका परिणाम आज हमारे सामने है। लेखक शानी ने इस समस्या की तरफ अपनी कहानियों के माध्यम से बहुत पहले ही इशारा कर दिया था।

शानी की कहानियाँ स्वातंत्रयोत्तर समाज में 'आधुनिकता' के नाम पर आने वाले बदलाव की जिंदा सनद हैं। उनकी कहानियाँ बताती हैं कि एक तरफ हमारे जीवन से विचारधारा बाहर निकलती गयी और दूसरी तरफ आधुनिकता के नाम पर हम कुछ ऐसी जीवन शैली को अपनाते गये जो हमारे समाज को पीछे की तरफ लेकर जाती है। इस संदर्भ में इमारत गिराने वाले कहानी की चर्चा करना बहुत आवश्यक है। यह कहानी एक ऐसे युवक की है जो स्वयं को आधुनिक मानता है और इसक्रम में वह अपने दोस्त की पत्नी के साथ हमबिस्तर होता है। इसप्रकार के विषय को केंद्र में रखकर कहानी लिखना एकतरह की हिम्मत की बात कही जा सकती है। यह एक ख़ास सामाजिक वर्ग का यथार्थ प्रस्तुत करती है जो तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था का लाभ तो उठाते हैं लेकिन उसकी समस्याओं का कोई समाधान करने का उनके पास समय नहीं है। शानी ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि का परिचय देते हुए इस प्रकार के विषय पर कहानी लिखी। इस कहानी का नायक विरोधाभासों से भरा हुआ है। कहानी में नायक द्वारा कहे गये यह वाक्य काबिले-गौर हैं- चाहूँ या ना चाहूँ, हर चीज की कीमत मेरे यहाँ इस बात से तय होती है कि वह जरूरी होने के साथ-साथ फायदेमंद भी है कि नही। स्त्रियों के बारे में मेरा दृष्टिकोण सौ फीसदी यही है। न तो मैंने कभी प्रेम किया है और न कभी इस मूर्खता पर विश्वास करता हूँ।[39]

ये वाक्य गहरे अर्थों में बदलती हुयी सामाजिक संवेदना को सामने लेकर आते हैं। जहाँ एक तरफ हम आधुनिक बनने के चक्कर में अपनी मूलभूत शारीरिक और मानसिक जरूरतों को अनदेखा करते हैं वहीं दूसरी तरफ उन्हीं जरूरतों को पूरा करने के लिए कुछे भी करने के लिए तैयार हो जाते हैं। इसक्रम में शानी ने कई महत्वपूर्ण कहानियाँ लिखी हैं। जिसमें परस्त्रीगमन, दोज़खी, जहाँपनाह जंगल, आदि कहानियाँ प्रमुख हैं।

5.8.ज्ञानरंजन :

साठोत्तरी कथा साहित्य की बदलती हुई संवेदना को अपने साहित्य के माध्यम से प्रदर्शित करने वाले रचनाकारों में ज्ञानरंजन का प्रमुख स्थान है। 1960 में इनकी पहली कहानी भूत बंगला प्रकाशित हुयी। इसके बाद इन्होंने लगातार अपनी रचनाशीलता को बनाए रखा। भारतीय इतिहास के लगातार बदलते आर्थिक और राजनैतिक परिदृश्य के बरक्स ज्ञानरंजन की कहानियां अपने समय के साथ लगातार संवाद करती हुयी नज़र आती हैं। इनके विषय में गोपाल राय ने कहा है कि- ज्ञानरंजन की कहानियों में उस आधुनिकता का अंकन हुआ है जो देश के आजाद होने के बाद विशेष रूप से सांतवे दशक के साथ विकसित होती दिखाई देती है। यह आधुनिकता मुख्यतः पश्चिमी और पूंजीवादी जीवन पद्धति और मूल्यों के प्रभाव में विकसित हो रही थी जिसमें व्यक्तिगत स्वतंत्रता, स्वकेंद्रीयता, समाज से अलगाव आदि की प्रधानता थी। इन्हीं परिस्थितियों में से व्यक्ति का अपने आस-पास की दुनिया से अलगाव, अकेलापन, निराशा, पराजय की भावना उब आदि की मानसिकता भी जन्म ले रही थी।[40]

इसप्रकार ज्ञानरंजन की कहानियां संक्रमण काल की कहानियां हैं जिसमें नये प्रकार की आर्थिक संरचना के कारण समाजिक परिवेश में परिवर्तन आना शुरू होता है। यह परिवर्तन परिवार और आपसी संबंधों में भी परिलक्षित होता है जिसकी संजीदा अभिव्यक्ति इनकी कहानियों में होती है। इनकी कहानी पिता कुछ इसी प्रकार की संवेदना का सामने लेकर आती है। इस कहानी में परंपरा और आधुनिकता का द्वंद्व लगातार दिखाई देता रहता है। कहानी का नायक एक तरह से आपने पिता के सामने पराजित महसूस करता है। कहानी का यह वाक्य देखें- लड़कों द्वारा बाजार से लाई बिस्किटें, महंगे फल पिता कुछ भी नहीं लेते। कभी लेते भी हैं तो बहुत नाक भौं सिकोड़कर उसके बेस्वाद होने की बात पर शुरू से ही जोर देते हुए। अपनी अमावट, गजक और दाल-रोटी के अलावा दूसरों द्वारा लायी चीजों की श्रेष्टता से वह कभी प्रभावित नहीं होते हैं।[41]

इन पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि पिता अपने परिवार में चली आ रही परंपरा के इतर जाना पसंद नहीं करते। उनके अकेले का विरोध ही पुत्र के मन को लगातार दुखी किये रहता है। इस कहानी के संदर्भ में बच्चन सिंह ने कहा है कि- इस कहानी की केंद्रीय वस्तु अकेलापन है। इसमें दो पीढ़ियों के बीच दुर्लघ्य खाई है। लेकिन यह खाई इस समाज की है, इस देश की है यह पिता छठें दशक के बाबा, दादी, आई वगैहरा से एकदम अलग हैं। उसके प्रति कोई लिजलिजी भावुकता का चित्रण इसमें नहीं है, रूमानी संसक्ति नहीं है।[42]

यह कहानी वास्तव में बूढ़े पिता के चरित्र को एक सशक्त व्यक्तित्व प्रदान करती है। कहीं पर भी वह

कमजोर नज़र नहीं आते वरन् भय पैदा करते हैं। इसके पहले की कहानियों में घर का रिटायर बूढ़ा व्यक्ति उपेक्षा का शिकार होता है लेकिन यहा माजरा कुछ दूसरा ही है। ज्ञानरंजन इस कहानी के माध्यम से समाज में हो रहे परिवर्तन की सूचना देते हैं। मैं शैली में लिखी यह कहानी आत्मालाप करती है और मैं में पल रहे अंतर्विरोधों को दिखाती है। यहां मैं एक मजबूर चरित्र की तरह उभरकर सामने आता है जो चाह कर भी आधुनिकता के तमाम सुविधावादी जीवन शैली से अपने आप को बचा नहीं पाता है।

ज्ञानरंजन की दूसरी कहानी फैंस के इधर-उधर 70 के दशक की एक महत्वपूर्ण कहानी बनकर सामने आती है। परंपरागत एवं आधुनिक मध्यवर्गीय परिवार के बीच किस प्रकार लगातार जीवन मूल्यों की टकराहट पैदा हो रही है यह कहानी इसी तथ्य की तरफ इशारा करती है। एक परिवार है जो परंपरागत जीवन मूल्यों की हिमायती है, वहीं दूसरी तरफ इनके पड़ोसी आधुनिक मूल्यों पर अमल करने वाले हैं। यह कहानी लगातार इन परिवारों के माध्यम से इन दोनों तरह के मूल्यों के द्वंद को दिखाती है। ज्ञानरंजन की अधिकतर कहानियाँ इसी तरह की हैं जो ठेठ यथार्थवादी ढंग से सत्य के लगातार चलने वाले द्वंद्व को पाठक के सामने रख देती हैं। यह कहानी इन दोनों तरह की जीवन शैली के अतिवादी रूप को सामने लेकर आती है। इस कहानी के विषय में केवल गोस्वामी ने कहा है कि- ज्ञानरंजन की कहानी फैंस के इधर-उधर सशक्त एवं अपने उद्देश्य में सफल कहानी है जिसके कारण लेखक की पहचान बनी। जैसा कि शीर्षक से ही स्पष्ट है आधुनिकता और परंपरा के मध्य एक फैंस उभर आयी है। एक परिवार जो मध्यवर्गीय रूढ़ियों की जकड़न से मुक्ति पाने की चेष्टा करता है और तर्क पूर्ण जीवन शैली को अपनाता है वह फैंस के उधर है और दूसरा परिवार जो इस रूढ़ियों की जकड़न से स्वयं को मुक्त नही कर पाता है, लौट लौट कर अतीत से जीवन शक्ति प्राप्त करने की चेष्टा करता है। इस संघर्ष को लेखक ने सजीव कहानी का रूप देने का सफल प्रयास किया है।[43]

यह सच है कि जहाँ एक परिवार अतीत से जीवन शक्ति प्राप्त करने की कोशिश करता है वहीं दूसरी तरफ दूसरा परिवार आधुनिकता को ही ओढ़ के बैठा है। यहाँ समझने वाली बात यह है कि हमारे अतीत की सभी चीजें बुरी नहीं होती हैं। ऐसे तत्व प्रत्येक सभ्यता के इतिहास में मौजूद होते हैं जिनका स्वरूप शाश्वत होता है। यदि हम उन्हें भी आधुनिक बनने के प्रयास में अनदेखा करते हैं तो यहीं से हमारे अमानवीय बनने की प्रक्रिया आरंभ हो जाती है। लेखक भी इस कहानी में इतिहासबोध और अतीतग्रस्तता के अंतर को स्पष्ट करते हैं तथा इस प्रकार के अतिवादी समाज को दिखाकर पाठक की दृष्टि को स्पष्ट करने की कोशिश करते हैं। कहानी की यह पंक्तियाँ देखें- वह लड़की हमारी तरफ कभी भी नहीं देखती, उसके मां बाप भी नहीं देखते। ऐसा भी नहीं लगता की उनका हमारी तरफ ना देखना सप्रयास हो। बात चीत करने की स्थिति तो

सुदूर और अकल्पनीय है। शायद उन्हें अपने संसार में हमारे प्रवेश की दरकार नहीं है।[44]

एक दूसरे के जीवन में प्रवेश की दरकार ना होना आधुनिक जीवन में एक सामान्य बात है लेकिन इसका क्या प्रभाव समाज पर पड़ा इसकी व्याख्या ज्ञानरंजन की अन्य कहानियों में भी दिखाई देती है। एकतरह समाज में रहते हुए मनुष्य लगातार अकेलेपन का शिकार होता गया है। इस संदर्भ में यात्रा, संबंध आदि कहानियॉं कई महत्वपूर्ण बिंदूओं की ओर इशारा करती हैं। इनकी कहानियाँ एक गहरे सामाजिक यथार्थ को प्रस्तुत करती हैं जो कालांतर में हमारे समाज की सच्चाई बनकर सामने आती है।

5.9.उषा प्रियंवदा :

हिंदी कथा साहित्य में उषा प्रियंवदा की पहचान नयी कहानी आंदोलन के दौरान लिखी गयी उनकी कहानी वापसी से होती है। संवेदना के स्तर पर इस कहानी का नयी कहानी आंदोलन की प्रारंभिक कहानियों में शुमार है। अपनी कहानियों में स्त्री जीवन और खासतौर पर घर के बाहर निकलकर काम करने वाली औरतों के जीवन पर उषा ने कलम चलायी है। इनका उपन्यास पचपन खंभे लाल दीवारें 1961 में प्रकाशित हुआ जिसने इन्हें हिंदी जगत में अलग तरह की पहचान दिलाई। इस उपन्यास को इनकी जीवनी के रूप में भी देखा जाता है।

आधुनिक युग में कामकाजी स्त्रियों के जीवन को आधार बनाकर लिखी गयी इनकी कहानियाँ गहरे यथार्थ को व्यक्त करती हैं। खासतौर पर इनका कथा साहित्य पढ़ी-लिखी और घर से बाहर निकली औरतों के व्यक्तिगत जीवन पर केंद्रीत है। तत्कालीन आधुनिक समाज के बीच किसतरह स्त्री-पुरूष संबंध परिवर्तित हो रहे थे, इसपर विस्तार से इन्होंने कलम चलाई है।

अपने कहानी संग्रह एक कोई दूसरा के माध्यम से इन्होंने आधुनिक होते हुए समाज में बदलते हुए आपसी संबंधों पर कई कहानियाँ लिखी हैं। इसमें अस्पष्ट आकांक्षाओं वाली एक ऐसी स्त्री चरित्र है जिसे प्रेम और आकर्षण के बीच फंसा हुआ दिखाया गया है। इन सब के बीच इनकी अधिकांश कहानियों के चरित्र अवसाद में डूबे हुए दिखाई देतें हैं। विदेश में रहने का दुख और अपनी जड़ों से कट जाने का दुख इनकी रचनाओं में दिखाई देता है।

कहानियों में एक ऐसे वर्ग को केंद्र में रखा गया है जिनके जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति हो चुकी है। प्रेम, संवेदना और भावनाओं में डूबा हुआ नायक इनकी कहानी का मूल पात्र है। खासतौर पर कोई नहीं, सागर पार का संगीत, पिघलती हुयी बर्फ, चांदनी में बर्फ पर आदि कहानियां एक ही जैसी संवेदना को व्यक्त करती हैं और इसी कारण कभी-कभी उबाऊ भी लगने लगती है। इनकी कहानियों के संदर्भ में

निर्मला जैन ने लिखा है कि- यूँ उषा प्रियंवदा की अधिकांश कहानियॉ मानवीय संबंधों की जटिलता की कहानियां हैं। उनके पात्र आम जिंदगी में संपर्क में आने वाले अपरिचित से पात्र नहीं होते। वे जिस जीवन और जैसे पात्र की कहानी कहती थी, वह उस समय के अमरीकी परिवेश में जा बसे भारतीयों का सच हो सकता था, भारतवासियों का नहीं। कम से कम मध्यवर्ग के औसत भारतीय की जीवन शैली से उसका बहुत लेना-देना नहीं था। चार दशक बाद दुबारा पढ़ने पर वही कहानियॉ उतनी बेगानी नहीं लगती। ग्लोबल विश्व के सूचना-संजाल से विकासशील देशों की जीवन शैली कुछ सी प्रभावित हुयी है कि अब वही तथ्य वैसे नहीं चौकाते जैसे आधी शताब्दी पहले चौकाते थे।[45]

अर्थात किसी भी तरह से उषा की कहानियॉ अपने समय के समाज के साथ सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाती हैं। ये एक अलग दुनिया की कहानियां प्रतीत होती हैं जिनकी संवेदना भारतीय समाज में चार दशक के बाद समझी जाती है। जहां एकतरफ इनके साथ की महिला रचनाकारों में मन्नू भंडारी और कृष्णा सोबती क्रमशः मध्यवर्ग और निम्न वर्ग की कहानियां कहती हैं वहीं दूसरी तरफ इनकी कहानियॉ एक अलग ही वर्ग की संवेदना को अभिव्यक्ति देती हैं। इसकी एक वजह यह भी है कि इनकी अधिकांश शिक्षा-दीक्षा विदेशों में हुयी। इसीलिए कहानीकार के रूप में यह उसी विदेशी समाज को अपनी कहानियों में अभिव्यक्त करती हैं।

इनकी कहानियों के पात्रों में अधिकांशतः अकेलेपन के शिकार हैं। ऐसा लगता है कि वह समाज में अकेले हैं। ना कोई उनका अपना है और ना ही वो किसी के हैं। समाज के नैतिक अनैतिक मानदण्डों से मुक्त होकर वह जीवन का अर्थ तलाशते रहते हैं। अधिकांश कहानियों को स्त्री-पुरूष संबंधों को केंद्र में रखकर लिखा गया है। इनकी कहानियॉ त्रिकोण प्रेम कथा के माध्यम से जीवन के अर्थ को खोजती हैं, जिसके ईर्द-गिर्द कोई भी समाज नहीं है।

पिघलती हुयी बर्फ ऐसी ही कहानी है। अक्षय का प्रेम सुधीरा के साथ है और उनके प्रेम संबंध के बीच बीरू आ जाता है। पूरी कहानी में अक्षय सुधीरा के ना होने पर भी उसके ना होने की पीड़ा से गुजरता है। एकतरह के अवसाद की स्थिति व्याप्त है। जिसके कारण अक्षय किसी के साथ संबंध नही बना पाता है। कहानी के अंत में पता चलता है कि बीरू की मृत्यु का कारण अक्षय अपने आप को मानता है, जिसके मरने के बाद सुधीरा अपाहिज हो जाती है। पूरी कहानी एक रोमैंटिक फिल्म की भांति चलती है। उसे यह अपराधबोध था यदि वह चाहता तो बीरू को बचा सकता था। उसे पता था कि कार का ब्रेक ठीक तरह से काम नहीं कर रहा है फिर भी उसने गाड़ी की चाभी बीरू को दे दी। वह सुधीरा के अपाहिज होने का कारण स्वयं को मानता है। इसी अपराधबोध को ढोते हुए कहानी आगे बढ़ती है।

इनकी कहानियों में पात्र एवं परिस्थितियों के ब्यौरे के कारण एक समय के बाद कहानी की मूल अंतर्वस्तु से ध्यान हट जाता है। खासतौर पर एक कोई दूसरा कहानी संग्रह की अधिकांश कहानियों में अपने देश से बिछड़ने का दर्द छुपा हुआ है। अपनी पहचान को तलाशती किसी संपन्न और पराए देश में अकेलेपन का जीवन व्यतीत करने वाले यह पात्र अपने आप में सिमटे हुए दिखाई देते हैं।

यदि देखा जाए तो अपनी प्रारंभ की लिखी हुयी कहानियों में उषा अत्यधिक सामाजिक और पारंपरिक संरचना के बीच फंसे भारतीय चरित्रों को निर्मित करती है जो अंतर्वस्तु की दृष्टि से प्रयोगात्मक हैं और इसीलिए उषा जी को एक अलग पहचान भी दिलाते हैं। अपनी बाद की कहानियों में इनकी अधिकांश कहानियां स्त्री-पुरूष संबंधों पर ही टिक कर रह जाती हैं।

यही हाल इनके उपन्यासों का भी है। अपने उपन्यास पचपन खंभे लाल दीवारें में इन्होंने औरत की जीवन से जुड़े कुछ महत्वपूर्ण पहलुओं को उजागर किया है। वहीं दूसरी तरफ अंतर्वंशी उपन्यास की पूरी पृष्ठभूमि विदेशी है। संवेदनात्मक स्तर पर भी और शिल्प के स्तर पर भी। इस कथा के साथ भी भारतीय समाज सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाता है।

भारत में रहते हुए इनकी कहानियाँ एकदम अलग मूड की हैं लेकिन प्रवासी जीवन व्यतीत करने के दौरान जो रचनाएं लिखी गयी उनमें प्रमुख रूप से मिली-जुली संवेदना का विकास दिखाई देता है। इनके समय की अन्य महिला रचनाकारों में कृष्णा सोबती और मन्नू भंडारी की रचनाएं ठेठ भारतीय संवेदना को अपने में समेटे हुए हैं। इस संदर्भ में निर्मला जैन लिखती हैं कि- यह बात अलग है कि इन संस्कारों पर अमेरिकी जीवन के अनुभवों का खोल कुछ ऐसे चढ़ गया है कि उनकी रचनाओं में आनुभविक कॉकटेल का एहसास रह रहकर होता रहता है।...इस नजरिए से कृष्णा सोबती और मन्नू भंडारी की कहानियों में नगर से गाँव तक, पहाड़ से मैदानी इलाकों तक, फैला अनेक वर्गों के पात्रों का जीवन अपनी विविधता में भी ठेठ भारतीय समाज की प्रतीति करता है।[46]

इसतरह मिली-जुली संवेदना वाली कहानियों में उषा प्रियंवदा अपनी समकालीन महिला रचनाकारों में एक अलग पहचान निर्मित करती हैं। महिला लेखन के क्षेत्र में साठोत्तरी दौर एक अलग पहचान रखता है। नयी कहानी आंदोलन में स्त्री अस्मिता से जुड़े हुए विविध पहलुओं को उजागर करने वाले इस आंदोलन का विकास साठोत्तरी दौर में होता दिखाई देता है। इसक्रम में उषा की कहानियां प्रमुख रूप से मध्यवर्गीय और उच्च मध्यवर्गीय औरत की संवेदना को प्रदर्शित करती हैं और निम्न वर्ग की औरत इनकी कहानियों के दायरे से बाहर हो जाती है। यह कमी लगातार इनकी कहानियों में खलती रहती है।

इन सब के बावजूद उषा प्रियंवदा का हिंदी कहानी के विकास में महत्वपूर्ण योगदान है और खासतौर पर

महिला लेखन के क्षेत्र में यह अपनी एक अलग पहचान रखती हैं। इनकी कहानियों में तत्कालीन समाज द्वारा निर्मित पितृसत्तात्मक संरचना को लगातार तोड़ने का प्रयास दिखाई देता है, जो अपने आप में एक महत्वपूर्ण कदम था।

5.10.काशी नाथ सिंह :

साठोत्तरी कथा साहित्य के दौर में काशी नाथ सिंह का नाम विशेष महत्व रखता है। जब शहरी मध्यवर्ग कहानी के केंद्र में आ चुका था उस समय में काशी की कहानियाँ प्रमुख रूप से गाँव और निम्न मध्यवर्ग की संवेदना को व्यक्त करती हैं। इनकी कहानियों ने कहानी की प्रगतिशील परंपरा को लगातार समृद्ध करने का कार्य किया। यथार्थवाद के विकास में इनकी कहानियों की महत्वपूर्ण भूमिका है।

इनकी कहानियाँ जीवन की विविध संवेदनओं को प्रदर्शित तो करती ही हैं साथ ही अपनी राजनैतिक पक्षधरता को भी स्पष्ट करती हैं। इनकी कहानियां मुख्यतः मनुष्य पर केंद्रीत है। इनके लेखन के दौर में देश में जितने तरह के बदलाव आतें हैं इनकी कहानियाँ उन सभी प्रकार की संवेदनाओं को व्यक्त करती हैं। इनकी कहानियों की विशेषता यह है कि अपनी संवेदनात्मक परिवर्तन के साथ यह रूप और शिल्प के स्तर पर भी बदलती दिखाई देती हैं। इसके अलावा इनकी कहानियां एक नये तरह के शिल्प को भी रचते हुए चलती हैं। कई स्थानों पर एकदम नये तरह का प्रयोग किया गया है जो ठेठ उन्हीं की शैली प्रतीत होती है। एक लंबे समय तक साहित्य में परिवर्तित जीवन मूल्यों के संघर्ष की कथा व्यक्त होती रही लेकिन कशी नाथ सिंह की कहानियाँ अपने समय की राजनीति को भी व्यक्त करती हैं। इनकी कहानियों में आदमी, जिंदगी और राजनीति में इनकी गहरी दिलचस्पी साफ दिखाई देती है।

इनकी प्रमुख कहानियों में तीन काल कथा, मुसईचा, आखिरी रात, चोट, लाल किले के बाज, जंगल जातकम्, सुख, दलदल, सूचना, सुधीर घोषाल और कविता की नयी तारिख आदि प्रमुख हैं। इस दौर के रचनाकारों के सामने एक ऐसा समाज रहा है जो अराजनीतिकरण, वैचारिक अस्थिरता, शाश्वत जीवन मूल्यों का बिखराव, स्त्री-पुरूष के परिवर्तित संबंधों का साक्षी था। अधिकांश रचनाकार राजनीतिक परिवर्तन से कटकर जीवन मूल्यों में आने वाले बदलाव को प्रदर्शित करते हैं लेकिन काशीनाथ की अधिकांश कहानियां तत्कालीन राजनैतिक परिवर्तन को भी साथ-साथ दिखाती चलती हैं।

जब मध्यवर्ग कहानी के केंद्र में था उस समय काशीनाथजी ने मध्यवर्ग की विसंगतियों को उसकी राजनैतिक पक्षधरता के साथ देखा है। खासतौर पर वामपंथी राजनीति की विडंबनाओं को इन्होंने अपनी कहानियों में बहुत ही ईमानदारी के साथ व्यक्त किया है। लाल किले के बाज और सुधीर घोषाल इसीतरह

की कहानियाँ हैं। इस समय के कहानीकारों में सामाजिक राजनैतिक भ्रष्टाचार और आर्थिक शोषण बहुत ही प्रमुखता के साथ दिखाई देता है। इन सब से निवारण की तरफ जाने के क्रम में वामपंथ एक विकल्प के रूप में नज़र आता है। लेकिन इस राजनीति की भी अपनी सीमाएं थीं जो इस दौर में अपनी विसंगतियों के साथ उधरकर सामने आती हैं। इन विसंगतियों को रचनाकार ने अपनी कहानियों में पूरी ईमानदारी के साथ उभारा है।

वही दूसरी तरफ इनकी कहानी तीन काल कथा साठोत्तरी दौर की एक प्रमुख कहानी बनकर सामने आती है, जिसमें इन्होने सामाजिक विसंगतियों को बेहतरीन ढंग से उभारने का कार्य किया है। यह कहानी ना सिर्फ अंतर्वस्तु की दृष्टि से वरन् रूप की दृष्टि से भी प्रयोगात्मक है। एक अलग तरह की तकनीक के जरिये रचनाकार आधुनिक सामाजिक व्यवस्था की विसंगतियों को व्यक्त करता है। इस संदर्भ में केवल गोस्वामी जी ने लिखा है कि- काशी नाथ सिंह की तीन काल कथा आजादी के बाद की नौकरशाही के विद्रूप चरित्र को उजागर करता है। जन साधारणे की समस्याओं का उचित समाधान खोजने की अपेक्षा वह उसका उपहास करती है, स्थगित करने की कोशिश करती है। इस संवेदनहीन कार्य पद्धति में जन साधारण की क्या दुर्गति होती है कि उसके लिए जीवन तथा मृत्यु का फासला कम हो जाता है वह इस कहानी में सशक्त ढंग से व्यक्त हुआ है।[47]

इसके अतिरिक्त काशीनाथजी की कहानियों का महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि उन्हेने आधुनिक समाज की विडंबनाओं को प्रदर्शित करने के लिए नयी तरह की तकनीक को विकसित करने का कार्य किया है। यह पद्धति इन्हें अपने समकालीन रचनाकारों से अलग करती है।

लाल किले के बाज शुद्ध रूप से वामपंथी आंदोलनो की दशा और दिशा की तरफ इशारा करते वाली कहानी है। उन्होंने दिखाया है कि किस तरह एक ओर इस दौर में पूंजीवाद का दबाव समाज की आर्थिक व्यवस्था पर पड़ रहा था और दूसरी ओर इससे लड़ने वाली वामपंथी शक्तियों के बीच की विसंगतियां भी लगातार बढ़ती जा रही थीं। इसका कारण यह था कि वामपंथी पार्टियों में एक तरह की कन्फ्यूजन की स्थिति विकसित हो गयी थी। इसके अलावा यह लोग इससे बाहर निकलने का रास्ता भी नहीं बना पा रहे थे। तेलंगाना के किसान विद्रोह पर भारत की वामपंथी पार्टी के बीच विभाजन हो गया।

इसतरह ऐसी घटनाओं ने देश में पूंजीवादी व्यवस्था के विरूद्ध लड़ने वाली शक्तियों को लगातार कमजोर करने का कार्य किया। यह दौर यह प्रदर्शित करता है कि लगातार पूंजीवाद से लड़ने वाले संगठनों में भी पार्टी लाइन को लेकर विवाद था। यह विवाद उस समय में चल रहे वैचारिक विचलन को प्रदर्शित कर रहा था। पार्टी के कैडरों के बीच सिद्धांत और व्यवहार का अंतर लगातार बढ़ता गया। काशी नाथ सिंह की

कहानियाँ इसी अंतर को उसके पूरे सामाजिक और राजनैतिक संदर्भ के साथ व्यक्त करती हैं। अपनी कहानी लाल किले के बाज के नायक जादू के विषय में बताते हुए वह बोलते हैं कि- वे एक क्रांतिकारी संगठन से जुड़े हुए सुने जाते थे और हर समय उन्हें मुल्क में क्रांतिकारी शक्तियाँ नज़र आती थीं। उन्हें बारहा लगता था कि यहा भी वैसी ही स्थितियां पैदा हो गयी हैं जैसी सन् 1905 के जमाने में रूस में थीं। उन्हें इस बात का बेहद अफसोस होता था कि मुल्क में कोई लेनिन क्यों नहीं है?[48]

इसतरह इन पंक्तियों में जादू के चरित्र में सामाजिक परिवर्तन लाने की जो जल्दीबाजी प्रदर्शित की गयी है वह उस समय की विडंबना थी। सामाजिक परिस्थितियां इतनी विषम थीं कि जनआंदोलनों को दोहरी मार झेलनी पड़ रही थी। एक तरफ पूंजीवाद का दबाव थंआ और दूसरी तरफ संगठन का आपसी मतभेद, जिसके कारण लड़ाई लगातार कमजोर पड़ती जा रही थी।

काशीनाथ सिंह की कहानियाँ इस सामाजिक विडंबना को सफलतापूर्वक प्रदर्शित करती हैं और यह दिखाती हैं कि सारा दोष पूंजीवाद का नहीं है। कमियाँ हमारे बीच भी हैं जो अधिक क्रियाशील हैं। इसके कारण यदि समाजवाद आता भी है तो उसके वीभत्स रूप को देखने में ज्यादा समय नही लगेगा।

इन सब के आईने में यदि काशी नाथ सिंह की कहानियों की विवेचना की जाए तो वह आधुनिकता की विसंगतियों को प्रदर्शित करने वाले रचनाकार के रूप में दिखाई देते हैं। इनकी कहानियां कई स्थानों पर घोर राजनैतिक हैं। अपने समय की राजनीति के बीच की विसंगतियों को इन्होने बेहतर ढंग से उभारा है। इनकी कहानियों के केंद्र में परिवार और संबंध तो हैं ही, इन्होंने इसको सक्रिय और निष्क्रिय करने वाली शक्तियों के प्रवाह पर भी सूक्ष्मता से दृष्टिपात किया है।

संदर्भ-

1. कमलेश्वर, प्रतिनिधि कहानियां. राजकमल प्रकाशन. दिल्लीः पृ.7
2. तिवारी, विश्वनाथ प्रसाद. हिंदी साहित्य शब्दकोश. ग्रंथ निकेतन. पटनाः पृ.70
3. राय, गोपाल. हिंदी कहानी का इतिहास. राजकमल प्रकाशन. दिल्लीः पृ. 243
4. नवल, नंदकिशोर. हिंदी की कालजयी कहानियां. दिल्लीः दानिश प्रकाशन. पृ.19
5. राय, गोपाल. वही. पृ 248
6. ठाकुर, समीक्षा (सं.). कहना न होगा. वाणी प्रकाशन. दिल्लीः पृ. 45
7. नवल, नंदकिशोर. वही. पृ.21

8. वर्मा, निर्मल. दस प्रतिनिधि कहानियाँ, दिल्लीः राजकमल प्रकाशन.पृ. 38.

9. वर्मा, निर्मल. वही. पृ. 39

10. वही. पृ 34

11. वही. पृ. 30

12. सिंह, नामवर. कहानी नयी कहानी. राजकमल प्रकाशन. दिल्ली. पृ. 64

13. राय, गोपाल. वही. पृ. 270

14. भंडारी, मन्नू. यही सच है. राजकमल प्रकाशन. दिल्ली. पृ. 28

15. राय, गोपाल. वही. पृ.270

16. वही.

17. वही. पृ.272

18. जैन, निर्मला. कथा-समय में तीन हेमसफर. राजकमल प्रकाशन. दिल्ली. पृ. 71

19. शर्मा, नासिरा. गूंगा आसमान. राजकमल प्रकाशन. दिल्ली. पृ.32

20. वही.

21. वही. पृ.79

22. शर्मा, नासिरा. संगसार. पृ.149

23. शर्मा, नासिरा. गूंगा आसमान. पृ. 85

24. शर्मा, नासिरा. संगसार. पृ.9

25. शर्मा, नासिरा. अजनबी शहर. पृ.143

26. नवल नंदकिशोर (सं.). हिंदी की कालजयी कहानियाँ, वही. पृ.17

27. ठाकुर, खगेंद्र (सं). श्रेष्ठ हिंदी कहानियां 1950-60. पी.प.हा. प्रा.लि. दिल्ली. पृ.10

28. राकेश, मोहन. दस प्रतिनिधि कहानियाँ. राजकमल प्रकाशन. दिल्ली. पृ.56

29. राय, गोपाल. हिंदी कहानी का इतिहास. वही. पृ.435

30. ठाकुर, खगेंद्र (सं). वही. पृ.10

31. स्त्री मुक्ति का सपना. पृ. 520

32. सोबती, कृष्णा. बादलों के घेरे. पृ. 72

33. वही. पृ.116

34. वही. पृ.77

35. राय, गोपाल. वही. पृ. 300

36. शानी, गुलशेरखॉ. दस प्रतिनिधि कहानियां. वही. पृ.11

37. वही. पृ.27

38. वही. पृ.118

39. वही. पृ.105

40. राय, गोपाल. हिंदी कहानी का इतिहास. वही. पृ.408

41. ज्ञानरंजन. दस प्रतिनिधि कहानियाँ. राजकमल प्रकाशन. दिल्ली. पृ.16

42. राय,गोपाल. हिंदी कहानी का इतिहास. वही. पृ.407

43. गोस्वामी, केवल. श्रेष्ठ हिंदी कहानियां 1960-70. पृ.9

44. ज्ञानरंजन. दस प्रतिनिधि कहानियाँ. वही. पृ.85

45. जैन, निर्मला. कथा समय में तीन हमसफर. वही. पृ.86

46. वही. पृ. 95

47. गोस्वामी,केवल. श्रेष्ठ हिंदी कहानियां 1960-70. वही. पृ. 9

48. सिंह, काशीनाथ. दस प्रतिनिधि कहानियां. वही. पृ. 49-50

उपसंहार

उपसंहार

'साठोत्तरी हिंदी कहानियाँ और यथार्थवाद' विषय पर आधारित अपने इस शोध के अंतर्गत हिंदी कहानी से जुड़े कई पहलुओं पर विचार किया गया है। साठोत्तरी दौर हिन्दी कहानी के विकास का महत्वपूर्ण दौर था और इस समय इस विधा में कई तरह के रूपात्मक और संवेदनात्मक परिवर्तन देखने को मिलते हैं। प्रस्तुत शोध-कार्य में इन परिवर्तनों पर ही विचार किया गया है। सबसे पहले हिन्दी कहानी की अवधारणा और विकास पर बातचीत कर शोध-कार्य की पृष्ठभूमि तैयार की गई है। इस पर भी विचार किया गया है कि हिंदी कहानी को एक विधा के रूप में विकसित करने में कौन-कौन से प्रमुख कारक कार्य सक्रिय थे।

इस संदर्भ में यह देखा गया कि हिंदी कहानी के पहले दशक की कहानियों में नवजागरण के पर्याप्त तत्व उपलब्ध थे। नवजागरण की चेतना को कहानी में प्रतिबिम्बित करने वाली रचनाओं में बंग महिला कृत चंद्रदेव से मेरी बातें, कुंभ में छोटी बहू, दुलाईवाली, वृंदालाल वर्मा कृत राखी बंधन भाई आदि का योगदान प्रमुख है। मधुमंगल सिंह की कहानी भूतही कोठरी, गिरिजादत्त व्यास की कहानी पंडित और पंडितानी आदि कहानियों का कथ्य भी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। अपने विकास के आरंभिक दौर में कहानी अपनी सामाजिक परिस्थितियों के साथ स्वंय को जोड़कर एक विधा के रूप में विकसित हो रही थी। इसी क्रम में उर्दू कहानियों से अपने लेखन की शुरूआत करने वाले रचनाकार प्रेमचंद का कहानी संग्रह सोजे वतन तत्कालीन अंग्रेजी साम्राज्यवादी शक्ति की विसंगतियों को इतने सच्चाई के साथ उभारती है कि अंग्रेजी शासन को इसपर प्रतिबंध लगाना पड़ता है।

हिंदी कहानी का दूसरा दशक प्रमुख रूप से प्रेमचंद की कहानियों के प्रभुत्व का युग था। इनके अतिरिक्त इस युग में चंदधर शर्मा गुलेरी और जयशंकर प्रसाद ने निःसंदेह रूप से कुछ महत्वपूर्ण कहानियाँ लिखी है जिसमें 'उसने कहा था' और प्रसाद की 'आकशदीप' का नाम अग्रणी है। हिंदी कहानी के तीसरा दशक के अंतर्गत कहानी और कविता दोनों में रचनाकारों ने अपनी विचारधारा को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया है। इस संदर्भ में प्रेमचंद की विचारधारा में परिवर्तन दिखाई देता है। जहां एकतरफ अपनी प्रारंभिक कहानियों में वे आदर्श की स्थापना करते दिखाई देते हैं वही दूसरी तरफ उनकी परवर्ती कहानियाँ यथार्थवादी अंत की तरफ अग्रसर दिखाई देती हैं। किसी युग का महत्वपूर्ण रचनाकार वही होता है जो अपन समय की विसंगतियों को समझते हुए अपनी रचनाओं में मूलभूत परिवर्तन लाता है। प्रेमचंद ऐसे ही रचनाकारों में से एक हैं जिन्होंने अपने समय की आवश्यकता को प्रमुखता दी और कई महत्वपूर्ण रचनाएं लिखीं। इनकी यथार्थवादी कहानियों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान निःसंदेह कफ़न कहानी का है।

हिंदी कहानी के चौथे दशक में रचनाकारों की कई श्रेणियाँ दिखाई देती हैं। जहाँ एक तरफ अज्ञेय, इलाचंद जोशी और जैनेंद्र जैसे भाववादी रचनाकार हैं, वहीं दूसरी तरफ यशपाल, भैरव प्रसाद गुप्त और रांघेय राघव जैसे यथार्थवादी रचनाकार हैं। फिर भी इस दौर की कहानियों पर प्रेमचंद की परंपरा का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है।

आजादी तक की कहानियों में प्रमुख रूप से व्यक्तिवादी और समाजवादी विचारधारा का द्वंद्व रचनाकारों में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। लेकिन आजादी के बाद की कहानियों के स्वरूप और संवेदना में कई प्रकार के मूलभूत परिवर्तन दिखाई पड़ते हैं। ऐसा नहीं था कि अचानक से इस तरह का परिवर्तन साहित्य में उत्पन्न हो गया था बल्कि इसके पीछे कई तरह के आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक कारण विद्यमान थे। आजादी मिलने से पहले ही इस छद्म स्वतंत्रता की आहट रचनाकारों ने सुन ली थी। इस विकसित होती दोहरी संवेदना की अभिव्यक्ति के लिए कथा साहित्य में नये तरह के आंदोलनों की शुरूआत हुई।

नयी कहानी आंदोलन का आरंभ इस दौर में जीवन की बढ़ती हुयी दुरूहताओं की अभिव्यक्ति के लिए हुआ। स्वतंत्रता के बाद धीरे-धीरे लगातार भारतीय समाज की संवेदना भी परिवर्तित हो रही थी। पारंपरिक परिवार के ढांचे का टूटना, स्त्री-पुरूष संबंधों का परिवर्तित होना, लगातार विघटित होते पारंपरिक जीवन मूल्य, समाज के दलित वर्गों में अन्य वर्गों के समान बराबरी के दर्जे के लिए संघर्ष और जागरूकता का विकास आदि नये तरह की सामाजिक व्यवस्था की मूल प्रवृत्तियां थी।

इनसब के बीच रचनाकार को लगातार इस संवेदना के साथ सामंजस्य स्थापित करना पड़ा। इस दौर के कई रचनाकारों की अद्वितीय रचनाएं इसी काल में आती हैं। निर्मल वर्मा, अमरकांत, भीष्म साहनी, कमलेश्वर, उषा प्रियंवदा, मन्नू भंडारी आदि का नाम इस दृष्टि से प्रमुख है। इस विकसित होती नयी सामाजिक संरचना के उपकरण तो आधुनिक थे लेकिन यह अपनी परंपरा से बहुत कटी हुयी थी। इस विकसित परंपरा ने अपने इतिहास से कोई सीख नहीं ली और एक आधारहीन धरातल पर टिकी रही, जिसके परिणाम सकारात्मक नहीं मिल सके। कालांतर में रचनाकारों ने विघटन की शिकार इन जीवन मूल्यों को ईमानदारी के साथ अभिव्यक्त किया।

नयी कहानी आंदोलन के रचनाकारों ने महानगरीय, कस्बाई और ग्रामीण जीवन का यथार्थ तथा मध्यवर्गीय संवेदना के विकास पर अपनी कलम चलाई। निर्मल वर्मा कृत परिंदे, मोहन राकेश की मलबे का मालिक और मिस पॉल, भीष्म साहनी की चीफ की दावत, उषा प्रियंवदा की वापसी और मछलियाँ, कमलेश्वर की राजा निरबंसिया, मन्नू भंडारी की यही सच है आदि कहानियों ने हिन्दी कहानी अत्यधिक समृद्धशाली बनाया है।

इसी समय में साहित्य में यथार्थ संबंधी कई तरह के नये सिद्धांतों का आरंभ होता है, जिसमें भोगा हुआ यथार्थ तथा अनुभव की प्रामाणिकता जैसे सिद्धातों का विकास नयी कहानी आंदोलन का मौलिक योगदान है। इन्हीं अवधारणाओं का विकास बाद के साहित्य में भी होता हुआ दिखाई देता है। ऐसा माना गया कि साहित्यकार को उसी संवेदना को व्यक्त करना चाहिए जिसे उसने व्यक्तिगत रूप से अनुभव किया हो। इस अवधारणा के प्रकाश में रचनाकारों ने अपने व्यक्तिगत अनुभव को साहित्य में व्यक्त करना आरंभ किया। कालांतर में साहित्य में दलित और स्त्री आंदोलन का विकास होना इसी अवधारणा का परिष्कृत रूप है।

हिंदी कहानी का साठोत्तरी दशक इसी अवधारणा के बरक्स कथा साहित्य की रचना कर रहा था। यह समय राजनैतिक और सामाजिक रूप से वैचारिक अस्थिरता का समय माना जाता है, जब ना केवल समाज में वरन् साहित्य में भी कई तरह की विचारधाराओं का विकास दिखाई देता है। सहित्य में सचेतन कहानी, अकहानी और सहज कहानी जैसे कई छोटे-छोटे आंदोलनों का उदय होता है। अत्यधिक कम समय के लिए पैदा होने वाले इन आंदोलनों का कोई साहित्यिक और सामाजिक महत्व परिलक्षित नहीं होता है। विभिन्न प्रकार की विचारधाराओं के आतंक के प्रभाव में साहित्य में एक तरह की वैचारिक विविधता देखने को मिलती है।

नयी कहानी आंदोलन की आत्मपरकता और रूपवाद के विरोध में महीप सिंह के द्वारा 1964 में आधार पत्रिका का सचेतन कहानी विशेषांक निकाला। जिसके अंतर्गत सामान्य मनुष्य के जीवन के अधिकारों तथा बेहतर जीवन यापन के लिए किये जाने वाले संघर्ष की कथा कही गयी। यह कहानी आंदोलन केवल आधार पत्रिका के संपादन तथा चंद रचनाकारों की रचनाओं तक सीमित रहा।

अकहानी आंदोलन पर फ्रांस की एंटी स्टोरी और अस्तित्ववादी चिंतक सार्त्र और कामू के दर्शन का प्रभाव दिखाई देता है। अकहानी के कहानीकारों ने अस्वीकार के दर्शन को स्वीकार किया। इस आंदोलन के रचनाकारों ने मनुष्य की पीड़ा, कुंठा और व्यर्थताबोध, अजनबीपन, नगण्यताबोध का चित्रण कर के अपनी यथार्थचेतना को नये अर्थों में परिभाषित करने का प्रयास किया। इस तरह के आंदोलनों के कारण कथा साहित्य की निर्थकता को बढ़ावा मिला और साथ ही कहानी विधा अत्यधिक जटिल हो गयी।

इस दौर का तीसरा प्रमुख आंदोलन सहज कहानी आंदोलन के नाम से जाना जाता है। कहानी से लगातार आम आदमी के गायब होते जाने के विरोध में अमृतराय के नेतृत्व में कहानी को सहज बनाने की प्रक्रिया आरंभ हुयी। सहज कहानी आंदोलन के माध्यम से कहानी की खोई हुयी सहजता को वापस लाने का प्रयास किया गया। कालांतर में यह आंदोलन कोई बड़ा रूप नही ले पाया और जल्दी ही समाप्त हो गया।

इसतरह के लघु आंदोलनों के बनने और समाप्त होने का क्रम लगातार चलता रहा। इस संदर्भ में यह देखना अत्यंत ही आवश्यक है कि वह कौन-कौन से सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक कारण थे जिनके कारण इस तरह के आंदोलन बिना किसी सामाजिक उत्तरदायित्व के उभरकर सामने आये।

हिंदी कहानी विधा आरंभिक दौर से समाज सापेक्ष रही है। चाहे पुनर्जागरण काल का साहित्य हो या प्रेमचंद काल का। कहानी ने समाज के साथ तारतम्य स्थापित कर लिया था। आजादी के बाद नयी कहानी आंदोलन के आरंभ से कहानी के स्वरूप में जो परिवर्तन आया उसका विकास 60 के बाद तक होता रहा है। इस दौर में कहानी में किसी केंद्रीय संवेदना का विकास होने की जगह विखंडित संवेदना का विकास दिखाई देता है।

साहित्य में व्यक्त संवेदना केवल साहित्य के द्वारा निर्मित नहीं होती है। यदि साठोत्तरी कहानी में कई तरह की विचारधाराएं एक साथ दिखाई देती हैं तो यह इस बात का प्रमाण है कि समाज में कहीं ना कहीं उसके बीज मौजूद हैं। इसतरह देखा जाए तो साहित्य और समाज का संबंध गणित की तरह नहीं होता है। यह एक दूसरे से प्रभावित भी होता है और एक दूसरे को प्रभावित भी करता है।

साठ के बाद भारतीय समाज का परिदृश्य तेजी से बदल रहा था जिसके कारण देश का विकास बहुत ही अलग दिशा में होने लगा, जिसका विश्लेषण अभिप्रेत है। आजादी के बाद देश की बागडोर साम्राज्यवादी शक्ति के हाथ से निकल कर भारतीय पूंजीपति वर्ग के हाथ में गयी। ऐसे में इस छद्म स्वतंत्रता का कोई खास महत्व नहीं रह गया था। देश की जनता की स्थिति में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं आने वाला था। इन विषम सामाजिक परिस्थितियों के बीच साहित्य और राजनीति का संबंध अलग तरह से विकसित होता दिखाई देता है। यह प्रक्रिया जितनी द्वंद्वात्मक होती है साहित्य के बेहतर होने की संभावना बढ़ती जाती है। यही वजह है कि साठोत्तरी कहानियों में जो नयी संवेदना विकसित होती है वह नयी कहानी की संवेदना का विस्तार तो थी ही लेकिन कई मायनों में उससे अलग भी थी।

एक तरफ देश की राजनीति में सिद्धांत और व्यवहार का अंतर दिखाई देता है तो दूसरी तरफ सिस्टम का स्वरूप ऐसा होता जा रहा था जिसमें नौकरशाही लगातार हावी हो जा रही थी। ना केवल समाज में वरन् साहित्य में भी विचारधारा से परे जाने की प्रवृत्ति लगातार विकसित होती जा रही थी। इस दौर की कहानियाँ सिद्धांत और व्यवहार में आने वाले इस अतंर को साफतौर पर दिखाने की कोशिश करती हैं। प्रमुख रूप से ज्ञानरंजन और शानी की कहानियों में ऐसे चरित्रों की उपस्थिति है जिनमें विचारधारा से परे जाने और लगातार अवसरवादी बनने की प्रवृत्ति स्पष्ट होती है।

किसी दौर का साहित्य अपने जीवंत और शाश्वत जीवन मूल्यों के कारण कालजयी होता है। हिंदी साहित्य में इसकी लंबी परंपरा देखने को मिलती है। इसक्रम में यदि साठोत्तरी कहानियों का विश्लेषण करें तो पता चलता है कि इस दौर ने इतिहास के शाश्वत जीवन मूल्यों को लगातार नष्ट करने का ही काम किया है। अपनी परंपरा के शाश्वत तत्वों को ग्रहण करने की बजाए उसके लिए एकप्रकार के नकार की भावना ही दिखाई देती है। आधुनिकता का एक अलग ही रूप इस दौर में उपस्थित दिखाई देता है जहाँ अकेलापन, संबंधों के प्रति ठंडापन, निराशा और सामाजिकता से अलगाव की प्रवृत्ति विकसित होती दिखाई देती है। इसतरह की प्रवृत्तियों के विकसित होने का प्रमुख कारण हमारे शाश्वत जीवन मूल्यों का लगातार नष्ट होना ही है जिसे आधुनिकता के नाम पर लगातार अनदेखा किया गया।

इस दौर के साहित्य में दो तरह की प्रवृत्तियां विकसित होती दिखाई देती हैं। पहली वह जो शाश्वत जीवन मूल्यों को स्वीकार कर कहानियों की रचना कर रहे थे और दूसरी वह जो आधुनिकता की दौड़ में शामिल होकर तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों की आवश्यकताओं को अनदेखा करके साहित्य सृजन कर रहे थे। यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है कि तत्कालीन साहित्य ने समाज को विडंबनापूर्ण स्थिति से बाहर लेकर लाने के लिए क्या किया, जबकि नयी कहानी आंदोलन के प्रतिनिधि रचनाकारों ने साहित्य में अनुभव की प्रामाणिकता और भोगा हुआ यथार्थ जैसी तकनीक को विकसित करने का कार्य किया। इस संदर्भ में नयी कहानी आंदोलन के प्रतिनिध रचनाकार और विचारक राजेंद्र यादव जी लिखते हैं कि- हर जगह से जला और हताश लेखक यह सोचता है कि वह किसी भविष्य और अतीत के प्रति प्रतिबद्ध नहीं है- वह प्रतिबद्ध है तो केवल अपने वर्तमान के प्रति, अपने उस सीमित यथार्थ के प्रति जो उसकी चेतना की परिधि में आ गया। वह किसी व्यक्ति और समाज की जिम्मेदारी नहीं ओढ़ेगा, वह जिम्मेदार है तो केवल अपने इस जीवित परिवेश के प्रति जो हमको बनाता है और जिसे हम मिलकर बनाते हैं स्वयं जिसके अंग हैं।

साहित्य में वर्तमान की प्रतिबद्धता को स्थापित करने वाली यह अवधारणा कितनी सार्थक है यह विश्लेषण की अपेक्षा रखता है। इस दौर के रचनाकारों में अपने इतिहास के प्रति नकार की भावना विकसित होती दिखाई देती है। एक ऐसे समय में जब साहित्य को सबसे अधिक इतिहास सापेक्ष होना चाहिए था उस समय में ना केवल साहित्य वरन् समाज भी इतिहास से कटता चला गया। इस तरह की प्रवृत्तियों के परिणामस्वरूप हमारे सामने एक ऐसा समाज उपस्थित दिखाई देता है जहाँ संबंधों में बनावटीपन और यांत्रिकता एक प्रमुख गुण बनकर सामने आता दिखाई देता है। इसकी अभिव्यक्ति तो लंबे समय तक साहित्य करता आया लेकिन इससे बाहर निकलने के लिए जो टूल्स अपनाए गये वह प्रभावशाली नहीं थे।

साहित्य में सामाजिक यथार्थ को व्यक्त करने के लिए अनुभव की प्रामाणिकता और भोगे हुए यथार्थ की अभिव्यक्ति के सिद्धांत ने साहित्यिक और कलात्मक यथार्थ की अभिव्यक्ति को परिवर्तित करने का कार्य किया। वास्तविक और संभावित यथार्थ के आपसी संबंध साहित्य में बदले हुये दिखाई देने लगे। एक तरफ विषम आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियां थीं और दूसरी तरफ साहित्य के क्षेत्र में इस तरह के परिवर्तन ने सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति की दिशा ही बदल दी। इस तकनीक की सार्थकता पर विचार करने की अत्यधिक आवश्यकता है ताकि यह जाना जा सके की भोगे हुए यथार्थ की अभिव्यक्ति के माध्यम से साहित्य को संकुचित करने की कोशिश तो नहीं की जा रही है।

हर दौर के साहित्य में यथार्थवादी और गैर यथार्थवादी परंपरा मौजूद रहती है। इतिहासकार और आलोचक का यह कार्य होता है कि वह इन दोनों परंपराओं में जो समाज के लिए अत्यधिक उपयोगी हो उसको समृद्ध करे। इस शोध-कार्य में यह प्रयास किया गया है कि साठोत्तरी कहानियों के यथार्थवादी पक्ष को उजागर किया जा सके, साथ ही उसकी सामाजिकता के स्वरूप को भी पहचाना जा सके। कहना न होगा कि यह कहानियाँ निःसंदेह रूप से विषम सामाजिक और राजनैतिक परिस्थतियों की उपज हैं और अपनी खास तरह की शैली के कारण इतिहास और परंपरा से अलग हो जाती हैं। इसके बावजूद हिंदी कहानी की इतिहास परंपरा में इनके योगदान को अनदेखा नही किया जा सकता है।

ग्रंथानुक्रमणिका

ग्रंथानुक्रमणिका

- उपाध्याय, रमेश (सं.). *आज का स्त्री आंदोलन.*दिल्लीः शब्दसंधान प्रकाशन.2004.
- उपाध्याय, रमेश(सं.). *हिंदी कहानी नये आंदोलन की जरूरत.* दिल्लीः शब्दसंधान प्रकाशन. 2012.
- कमलेश्वर. *प्रतिनिधि कहानियां.* दिल्लीः किताबघर प्रकाशन. 2010.
- कारखानिस, एल. एस. *धर्म और मार्क्सवाद.* राजस्थानः पीपहा., 2007.
- खेतान, प्रभा. (अनु.) *स्त्री उपेक्षिता.* दिल्लीः हिंदी पाकेट बुक्स, 2008.
- गोस्वामी, केवल (सं.). *श्रेष्ठ हिंदी कहानियाँ 1960-70* .दिल्लीः पीपल्स पब्लिशिंग हाउस. 2010
- चंद्र, बिपिन. *आधुनिक भारत में विचारधारा और राजनीति.* दिल्लीः अनामिका पब्लिशर्स प्रा. लि. 2011
- चंद्र, बिपिन. *सांप्रदायिकता.* दिल्लीः नेशेनल बुक ट्रस्ट, 2008
- चौहान, शिवदान सिंह. *परिप्रेक्ष्य को सही करते हुए.* दिल्लीः वाणी प्रकाशन, 2001
- चौधरी, उमाशंकर. श्रेष्ठ हिंदी कहानियां(1990-2000). दिल्लीः पीपहा. प्रा. लि., 2001.
- जैन, निर्मला. *कथा-समय में तीन हमसफ़र.* दिल्लीः राजकमल प्रकाशन. 2011
- ठाकुर, खगेंद्र.(सं) *श्रेष्ठ हिंदी कहानियाँ 1950-60.* दिल्लीः पीपल्स पब्लिशिंग हाउस, 2010
- ठाकुर, समीक्षासिंह. (सं.) कहना न होगा. दिल्लीः वाणी प्रकाशन, 1994.
- तलवार, वीरभारत. *रस्साकशी.* दिल्लीः सारांश प्रकाशन. 2006
- तलवार, वीर भारत. *नक्सलबाड़ी के दौर में.* दिल्लीः अनामिका पब्लिशर्स प्रा. लि., 2006
- तलवार, वीर भारत. *सामना.* दिल्लीः वाणी प्रकाशन. 2005
- तिवारी, अजय (संकलन). *रामविलास शर्मा संकलित निबंध.* दिल्लीः नेशनल बुक ट्रस्ट. 2010
- तिवारी, विश्वनाथप्रसाद. *प्रेमचंद.* दिल्लीः प्रकाशन संस्थान, 2005
- तिवारी, विश्वनाथ. *गद्य के प्रतिमान.* दिल्लीः वाणी प्रकाशन, 2000.
- नंदी, आशीष. *राष्ट्रवाद बनाम देशभक्ति.* दिल्लीः वाणी प्रकाशन. 2005
- नसरीन, तस्लीमा. औरत के हक़ में.दिल्लीः वाणी प्रकाशन.2007.
- नागर, नरोत्तम. (अनु). *दर्शन साहित्य और आलोचना.* लखनऊः परिकल्पना प्रकाशन. 1959.
- पचौरी, सुधीश. *उत्तर आधुनिक समय और मार्क्सवाद.* दिल्लीः वाणी प्रकाशन, 2009.
- पांडेय, भवदेव. (सं.) *हिंदी कहानी का पहला दशक.*दिल्लीः रेमाधव पब्लिशिंग प्राईवेट लि. 2006
- पांडेय, भवदेव. (सं.) *बंग महिला रचना संसार.* दिल्लीः रेमाधव पब्लिकेशन प्रां लि., 2008
- पांडेय, मैनेजर. *आलोचना की समाजिकता.* दिल्लीः वाणी प्रकाशन. 2005
- पांडेय, मैनेजर. *साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका.* पंचकूलाः हरियाणा साहित्य अकादमी. 1974
- प्रसाद, कमला. (सं.) *स्त्री मुक्ति का सपना.* दिल्लीः वाणी प्रकाशन, 2004.

- प्रकाश आनंद. (सं.) *समकालीन लेखन में यथार्थवाद और जनवाद.* दिल्ली. लोक मित्र प्रकाशन. 2011
- फिशर, अंर्स्ट. *कला की जरूरत.* दिल्लीः राजकमल प्रकाशन. 1990
- फॉक्स, रैल्फ. *उपन्यास और लोक जीवन.*दिल्लीः पीपहा. प्रा. लि., 2006.
- भंडारी, मन्नू. *यही सच है.* दिल्लीः राधाकृष्ण प्रकाशन. 1965.
- मंडलोई, लीलाधर. श्रेष्ठ हिंदी कहानियाँ(1970-80). दिल्लीः पीपहा प्रा. लि., 2008.
- मुक्तिबोध, गजानन माधव. *एक साहित्यिक की डायरी.* दिल्लीः भारतीय ज्ञानपीठ. 1964
- मार्कडेय. *हिंदी कहानी: यथार्थवादी नजरिया.* दिल्लीः लोकभारती प्रकाशन. 2013
- यादव, राजेंद्र.*आदमी की निगाह में औरत.* दिल्लीः राजकमल प्रकाशन, 2006.
- यादव, राजेंद्र. कहानी : *अनुभव और अभिव्यक्ति.* दिल्लीः वाणी प्रकाशन. 1988
- यादव, राजेंद्र. *कहानी : स्वरूप और संवेदना.* दिल्लीः वाणी प्रकाशन, 1968
- यादव, राजेद्र. (स.) *एक दुनिया समानांतर.* दिल्लीः राधाकृष्ण प्रकाशन, 1993
- यादव, राजेंद्र.*आदमी की निगाह में औरत.* दिल्लीः राजकमल प्रकाशन, 2006.
- राय, गोपाल. *हिंदी कहानी का इतिहास (भाग 1 व 2).* दिल्लीः राजकमल प्रकाशन. 2011
- लिंबाले, शरण कुमार. *दलित साहित्य का सौंदर्य शास्त्र.* दिल्लीः वाणी प्रकाशन. 2000
- लिंबाले, शरण कुमार (अनु) निशिकांत ठाकुर. *छूआछूत.* दिल्लीः वाणी प्रकाशन. 2008
- लिंबाले, शरणकुमार. *छूआछूत.* दिल्लीः वाणी प्रकाशन,2008.
- वर्मा, लाल बहादुर. *इतिहास के बारे में.* लखनऊः परिकल्पना प्रकाशन, 1985
- वर्मा, निर्मल. *दस प्रतिनिधि कहानियाँ.* दिल्लीः राजकमल प्रकाशन, 2005.
- वर्मा, पवन कुमार. *भारत में मध्यवर्ग की अजीब दास्तान.* दिल्ली. राजकमल प्रकाशन. 2009
- शर्मा, गीतेश. *धर्म के नाम पर.* दिल्लीः राजकमल प्रकाशन. 2000.
- शर्मा, नासिरा. *गूंगा आसमान.* दिल्लीः राजकमल प्रकाशन, 2008.
- शर्मा, नासिरा. *संगसार.* दिल्लीः प्रभात प्रकाशन, 1993.
- शानी, गुलशेरखाँ. *दस प्रतिनिधि कहानियां,* दिल्लीः राजकमल प्रकाशन, 2005
- शुक्ल, रामचंद्र. *हिंदी साहित्य का इतिहास.* दिल्लीः राजकमल प्रकाशन, 2000
- शर्मा, रामविलास. *संकलित निबंध.* दिल्लीः नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, 2013.
- सोबती, कृष्णा. *समय सरगम.* दिल्लीः राजकमल प्रकाशन. 2008.
- सोबती, कृष्णा. *बादलों के घेरे*. दिल्लीः राजकमल प्रकाशन. 2007.
- सोबती, कृष्णा. *मित्रो मरजानी.* दिल्लीः राजकमल प्रकाशन. 1984.
- सरकार, सुमित. *आधुनिक भारत.* दिल्लीः राजकमल प्रकाशन 1993

- सांकृतायन, राहुल. *कार्ल मार्क्स.* इलाहाबादः किताब महल प्रकाशन, 2004
- सिंह, नामवर. सं. *कला और साहित्य चिंतन कार्ल मार्क्स.* दिल्लीः राजकमल प्रकाशन, 1991.
- सिंह, नामवर. *साहित्य की पहचान.* दिल्लीः राजकमल प्रकाशन, 2012.
- सिंह , नामवर. *कहानी नयी कहानी.* इलाहाबादः लोकभारती प्रकाशन,2006.
- सिंह, त्रिभुवन. *हिंदी उपन्यास और यथार्थवाद.* वाराणसीः विश्वविद्यालय प्रकाशन,1962.
- सिंह, काशीनाथ. *प्रतिनिधि कहानियां.* दिल्लीः राजकमल प्रकाशन, 2008.
- सिंह, विजयमोहन(सं.) *जयशंकर प्रसाद की श्रेष्ठ कहानियां.* दिल्लीः नेशनल बुक ट्रस्ट, 2005.
- सिंह, बच्चन. *आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास.* दिल्लीः राजकमल प्रकाशन, 2000.
- त्रिपाठी, आशीष. (सं.) *सम्मुख.* दिल्लीः राजकमल प्रकाशन, 2012.
- त्रिपाठी, आशीष. (सं.) *साथ साथ.* दिल्लीः राजकमल प्रकाशन, 2012.
- त्रिपाठी, आशीष.(सं.) *हिंदी का गद्य पर्व.* दिल्लीः राजकमल प्रकाशन, 2012.

पत्र – पत्रिकाएः

- शर्मा, रामविलास. *समालोचना.* अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रिब्यूटर्स प्रा. लि. फरवरी-जून, 1959.
- राजपाल, हुकुमचंद. *शब्द सरोकार.* सौरभ प्रकाशन. अप्रैल – जून, 2013.
- मुक्ता,डॉ. *कथा समय.* हरियाणा ग्रंथ अकादमी. अक्टूबर अंक, 2013.
- नाथ, शम्भू. *आधुनिकता की पुनर्व्याख्या.* दिल्लीः वाणी प्रकाशन, 2008.
- प्रसाद, मुरली मनोहर. *नया पथ (1857 पर विशेषांक).* दिल्लीः जनवादी लेखक संघ, 2007.